नागरीप्रचारिणी पत्रिका

त्रैमासिक

[नवीन संस्करण]

वर्ष ४६—संवत् १९९८
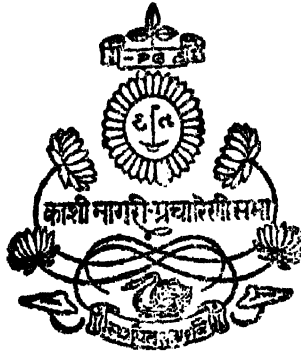
संपादक-मंडल

केशवप्रसाद मिश्र वासुदेवशरण अग्रवाल

पद्मनारायण आचार्य कृष्णानंद (संपादक)

वार्षिक सूची

विषय **पृष्ठ**

विषय | पृष्ठ

विविध

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ४६—अंक १ [नवीन संस्करण] वैशाख १९९८

वाल्मीकि और उनका काव्य रामायण

[लेखक—श्री राय कृष्णदास]

श्रावण १९९७ की नागरीप्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित डा० सुकथनकर के 'भृगुवंश और भारत' शीर्षक निबंध में यह दिखाया गया है कि महाभारत का भृगुवंशी ऋषियों से बहुत घना संबंध था। वहाँ डा० सुकथनकर ने प्रसंगतः यह विचार प्रकट किया है कि रामायण का भृगुवंश के साथ कुछ संबंध न था। परंतु प्रस्तुत निबंध में विद्वान् लेखक ने यह प्रतिपादित किया है कि भृगुवंश से वाल्मीकि और उनके काव्य रामायण का भी गहरा संबंध था। यह निबंध लेखक के रामचंद्र संबंधी एक विशद ग्रंथ का १९९३ में लिखा एक अंश है। अब यह 'भृगुवंश और भारत' के प्रकाश में दुहरा लिया गया है।

—संपादक।

§ १. लोककथा के अनुसार रामायण-निर्माता महर्षि वाल्मीकि पहले रत्नाकर नामक दस्यु थे, पीछे रामनाम वा तपस्या के प्रभाव से महर्षि हो गए और रामायण की रचना की। इसी उपकथा के आधार पर किसी किसी ने यह भी निर्धारित किया है कि वे मंत्रद्रष्टा आर्य ऋषियों के वंशज न थे, अनार्य थे।

किंतु वाल्मीकि के अनार्य होने की शंका निर्मूल है। एक तो पुराण-वाङ्मय में उक्त लोककथा पाई नहीं जाती, अर्थात् वह बहुत इधर की है, दूसरे तैत्तरीय प्रातिशाख्य में वाल्मीकि का उल्लेख एक प्रतिष्ठित ऋषि के रूप में हुआ है[१]।

§ ७. विष्णु पुराण[२] से ज्ञात होता है कि 'वाल्मीकि' उनकी अभिधा थी। उनका प्रकृत नाम ऋक्ष था—

ऋक्षोऽभूद्भार्गवस्तस्माद्वाल्मीकिर्योऽभिधीयते।

अतएव यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि वाल्मीकि उनका कुल-नाम वा पैत्र-नाम था। प्राचीन काल में ब्राह्मण-क्षत्रिय-कुलों के, श्रेष्ठ पुरखों पर से, कई कई नाम चलते ही थे। अश्वघोष के बुद्ध-चरित से पता चलता है कि वाल्मीकि च्यवन के वंशज थे[३]। इस सूत्र से वाल्मीकि शब्द के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। च्यवन जब तप कर रहे थे तब वल्मीक से पिहित हो गए थे—यह अनुश्रुति पुराण ही नहीं, वैदिक-साहित्य-संमत भी है[४]। ऐसी अवस्था में च्यवन का नाम वाल्मीकि भी पड़ सकता है। जो हो, इतना तो असंदिग्ध है कि वाल्मीकि भृगुवंशी अर्थात् भार्गव थे[५]। उनके च्यवन-वंशज होने का भी यही तात्पर्य है; क्योंकि स्वयं च्यवन एक प्रमुख भृगुवंशी थे[६]।

१—वेबर, हिस्ट्री ऑव इंडियन लिट्रेचर, १९१४, पृ० १०२, १९१।

२—३।३।१८।

३—"वाल्मीकिनादश्च ससर्ज पद्यं जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षिः।"—बुद्धचरित, १।४८; ना० प्र० प० (नवीन०) भाग २, पृ० २२६-२९।

४—शतपथ ब्राह्मण, ४।१।५।

५—वाल्मीकि रामायण (निर्णयसागर) ७।९३।१८,९४।१५; मत्स्यपुराण (कलकत्ता) १२।५१; पद्मपुराण ५।८।१५५; विष्णुपुराण ३।३।१८; महाभारत (बंबई) १२।५७।४०।

६—पार्जिटर, एनश्येंट इंडियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन, पृ० १९४; मत्स्य० अ० १९५; शतपथ० ४।१।५।१; ऐतरेय० ८।२१; ना० प्र० प०, श्रावण १९९७,

इसी भृगुवंश में होने के कारण वाल्मीकि प्राचेतस भी कहे गए हैं;[१] क्योंकि भृगुवंश के मूल पुरुष प्रचेता (= वरुण) हैं[२] ।

§ ३. यहाँ भृगुवंश के संबंध में सविस्तर विवेचन करना आवश्यक है; क्योंकि इससे एक बड़े मार्के की बात प्रकाश में आएगी।

भृगुओं का कुल (भृगु-कुल) ऋषियों के सबसे पुराने घरानों में से है। उसके आदि व्यक्ति (वरुण-पुत्र) भृगु थे,[३] जिनका नाम उनके वंशजों का कुल-नाम हो गया। इस वंश का उल्लेख ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर हुआ है[४]। उस तक में, कुछ स्थलों को छोड़कर (जहाँ उनका उल्लेख वास्तविक व्यक्तियों के रूप में मिलता है),[५] भृगु और भृगुओं का स्वरूप बिलकुल आख्यानिक (मिथिकल) है। किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह वंश आख्यानिक था। इसका तात्पर्य इतना ही है कि इसकी परंपरा मंत्र-काल से भी कहीं पहले की है और उस समय भी यह (वंश) बहुत पुराना पड़ चुका था, अतएव आख्यानिक हो गया था।

पृ० १२६-२७,१४१-४२,१४३ ; आगे § १५ की टिप्पणी १; च्यवन भार्गव ऋग्वेद १०।१९।१-८ के ऋषि हैं।

१—"अथ भगवान् प्राचेतसः......रामायणं प्रणिनाय.....।"—उत्तररामचरित, अंक २; वाल्मीकि-आश्रम-वासी कुश रामचंद्र से कहते हैं—"तात, प्राचेतसान्तेवासी कुशोऽभिवादयते।"—वही, अंक ६; "प्राचेतसोपज्ञं रामायणम्"—रघुवंश, १५।६३ ; भागवत, ९।११।१० ; वाल्मीकि० ७।९३।१५,९६।१८,१११।११ ।

२—पार्जिटर, पृ० १८५ ; ऋ० वे० ९।६५ पर अनुक्रमणी तथा वेदार्थ, इस सूक्त के १ से ३० मंत्र के ऋषि भृगु वारुणि हैं; ऐतरेय ३।३४।१; शतपथ ११।६।१।१; तैत्तरीय उपनिषद् ३।१ ; तैत्तरीय आरण्यक ९।१ इत्यादि।

३—दे० § १५ की टिप्पणी १।

४—ऋ० वे० १।५८।६, १२७।७, १४३।४; २।४।२; ३।२।४, ५।१०; ४।७।१ इत्यादि।

५—वही ७।१८।६; ८।३।९, ६।१८, १०२।४ ।

§ ४. ऋग्वेद में भृगुओं की परिगणना पितरों में भी है[१]। इससे भी यही बात सिद्ध होती है; क्योंकि पितर शब्द से वेद में सामान्यत: प्राचीन और सर्वप्रथम पुरखे ही अभिप्रेत हैं[२]। इन पितरों के भिन्न भिन्न वर्गों के नाम ऋग्वेद में नवग्वा, वैरूप, अंगिरा, अथर्वण, भृगु और वशिष्ठ दिए हैं[३]। इनमें से नवग्वा[४] और वैरूप[५] तो अंगिरसों के ही अवांतर भेद हैं; अर्थात् पितरों के मुख्य चार ही वर्ग हैं—अंगिरा, अथर्वण, भृगु और वशिष्ठ। अनुश्रुति के अनुसार यही चार कुल अथर्ववेद के मंत्रकार हैं। ऐसा होना ही चाहिए; क्योंकि इन कुलों के पूर्वज वेद के याज्ञिक पंथ की उत्पत्ति के युगों पहले के थे, जब अभिचार, यातु (= जादू), टोने-टोटके और इन्हीं से गुथे भेषजों (मणि, मंत्र, औषधों) का ही धर्म में दौरदौरा था तथा वरुण एवं अग्नि संप्रदायों का प्राधान्य था, और अथर्व इसी प्रकार के मसाले का संग्रह है। अर्थात्, उसमें यज्ञयुग के पहले की बहुत कुछ सामग्री है (भले ही उसकी भाषा शाबर मंत्रों की तरह बदलती गई हो)। इसी कारण शतपथ[६] में अथर्ववेद को यातु कहा है। इसी कारणवश पौराणिक साहित्य में भार्गव-उशना 'अथर्वाणां निधिः' कहे गए हैं[७] और वशिष्ठों के लिये 'अथर्वा'[८]

१—ऋ० वे० १०।१४।४-६, १५।८।

२—वही १०।१५।८, १०।

३—वही १०।१४।४-६, १५।८।

४—वही ४।५१।४; १०।६२।६।

५—वही ३।५३।७; १०।६२।५, ६।

६—१०।५।२।२०; मिलाइए—ब्लूमफील्ड, हीम्स ऑव अथर्ववेद, उपोद्घात, पृ० २२ तथा अथर्व० १।८।९।२३।

७—महाभारत (कलकत्ता, १८३६ ई०) १।७६।३१८८-९०; मत्स्य० २५।९-११; ब्रह्मांड ३।३०।५१-४।

८—पार्जिटर, पृ० ३१६।

तथा अथर्वा निधि[१], 'शत-यातु'[२] और 'ब्रह्मकोष'[३] (= जादू के खजाने) शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ऋग्वेद में वशिष्ठ रोते हैं कि मेरे विरोधी मुझे व्यर्थ यातु-धान कहते हैं[४]। ये सब बातें इन कुलों की अत्यंत प्राचीनता की द्योतक हैं।

§ ५. महाभारत में भी लिखा है कि मूल गोत्र चार थे—भृगु, अंगिरा, कश्यप और वशिष्ठ; फिर कर्मणा दूसरे दूसरे गोत्र हुए[५]। इन चारों नामों में भी कश्यप को छोड़कर शेष तीन वही हैं जो उक्त पितर-वर्ग की सूची में हैं। इन्हीं चारों आद्य ऋषियों का विकास ब्रह्मा के मानस पुत्रों के रूप में होता है, जिनकी संख्या चार, सात, आठ, नौ, दस और कहीं कहीं बारह तक मिलती है[६]। इनमें भी भृगु सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं; वे ब्रह्मा के हृदय से उत्पन्न हैं[७]। इस सबका निष्कर्ष यही है कि ऋषियों के प्राचीनतम वंशों में भृगुवंश का एक विशिष्ट स्थान था।

ऊपर हमने देखा है कि मूल भृगु प्रचेता अर्थात् वरुण से उत्पन्न कहे जाते थे। यह ठीक भी है; क्योंकि यह वंश वरुण संप्रदाय का सबसे बड़ा स्तंभ था। ब्रह्मा के मानस पुत्र बन जाने पर भी उसका पुराना नाम प्राचेतस और वारुणि ज्यों का त्यों बना रहा।

१—बृहन्नारदीय ८।६३; जर्नल ऑव रॉयल एशियॅटिक सोसाइटी, १९१९, पृ० ३६२-६३।

२—ऋ० वे० ७।१८।२१; निरुक्त ६।३०; वशिष्ठस्मृति ३०।११; मॅक्डॉनल और कीथ का वैदिक इंडेक्स २।४९; २।२५२; पार्जिटर पृ० २०९।

३—महाभारत (कलकत्ता, १८३६ ई०) १३।७८।३७२३, ३७२५।

४—ऋ० वे० ७।१०४।१५-१६।

५—महाभारत (कलकत्ता १८३६ ई०) १२।२९८।१०८७७-८।

६—भगवद्दत्त, भारतवर्ष का इतिहास, पृ० ३२; वायु० (पूर्वार्ध) ९।९२-९५; ब्रह्मांड० पूर्वभाग, २।९, ३२।

७—वायु० (पूर्वार्ध) ९।९२-९५; ब्रह्मांड० पूर्वभाग, २।९, ३२; "ब्रह्मणो हृदयं भित्त्वा निःसृतो भगवान् भृगुः।"—भारत १।६०।४०।

§ ६. भृगु और अंगिरा कुलों का बड़ा प्राचीन सन्निकर्ष था। वेदों में शुक्र देव और असुर दोनों के पुरोहित हैं[१]। इससे यह ध्वनित होता है कि वरुण और इंद्र संप्रदायों (= असुर और देव) के सामान्य पूर्वज आर्यों के ये ही दोनों कुल कर्मकांड और धार्मिक कृत्यों के अगुआ—पुरोहित—थे, फिर सांप्रदायिक झगड़े के उठ खड़े होने पर भृगु वरुण पंथ के पुरोहित और अंगिरा इंद्र पंथ के पुरोहित हो गए। असुरगुरु शुक्र (भार्गव) और देवगुरु बृहस्पति (आंगिरस)[२] व्यष्टि रूप में इन्हीं दोनों दलों के द्योतक हैं।

इन दोनों कुलों में इतना सान्निध्य था कि कई एक ऋषि कहीं आंगिरस और कहीं भार्गव कहे गए हैं[३]। इसी निकटता के कारण ऋग्वेद में भी कई जगह इन दोनों प्राचीन कुलों की चर्चा एक संग हुई है[४]। दोनों नामों का समस्त रूप भृग्वांगिरस भी कभी कभी आता है[५]।

§ ७. अग्नि संप्रदाय से भृगुओं का बड़ा पुराना और विशिष्ट संबंध था। वे अग्नि के जन्मदाता कहे गए हैं[६]। उन्होंने मनुष्य

१—ऋ० वे० में शुक्र इंद्र के कृपापात्र (६।२०।११), और उनके लिये वृत्रनाशार्थ वज्र के निर्माता हैं (१।१२१।१२; ५।३४।२)। पिछले वैदिक साहित्य में वे असुर-पुरोहित हैं (दे० टिप्पणी २)।

२—"बृहस्पतिर्देवानां पुरोहित आसीद् उशना काव्योऽसुराणाम्।"—जैमिनीय ब्राह्मण १।१२५।

३—च्यवन भार्गव भी हैं, आंगिरस भी—शतपथ ४।१।५।१; कुत्स भी आंगिरस और भार्गव दोनों हैं—मत्स्य० १९५।२२, १९६।३७; इसी प्रकार मार्कंडेय भी—मत्स्य० अध्याय १९६।

४—ऋ० वे० ८।४३।१३; १०।१४।६।

५—विंतरनित्स, हिस्ट्री ऑव इंडियन लिट्रेचर, भाग १, पृ० १२०, टि० १।

६—ऋ० वे० १।१४३।४; ३।१।४; ६।८।४।

को अग्नि प्रदान किया[1]। उनका अग्नि-उपासना का प्रकार क्रतु कहा जाता था[2]। गीता तक में क्रतु यज्ञ से भिन्न है—"अहं क्रतुरहं यज्ञः"। किंतु पीछे जब याज्ञिक कर्म-कलाप का आडंबर बढ़ा तो क्रतु भी यज्ञ का एक अंग बन गया। फिर भी यज्ञ में अग्निस्थापक भृगु ही होते रहे।

§ ८. प्राचीन अग्निसंप्रदाय के जो जो प्रमुख कुल वा व्यक्ति थे, वेदों में उनका नाम अग्नि पर आरोपित कर दिया गया है; यथा—अंगिरा,[3] वशिष्ठ[4], बृहस्पति[5]। ये सब अग्नि के नाम भी हैं। इसी प्रकार अग्नि की संज्ञा भृगु या भृगवाण भी है[6]। ऋ० ८।४३।१३ कहता है कि अग्नि का आह्वान उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार प्राचीन काल में भृगु, अंगिरा और मनु ने किया था।

§ ९. भृगुओं की एक अभिधा **कवि** या **काव्य** भी है। वस्तुतः आदिभृगु का अपर नाम **कवि** था[7]। इसी कारण यह अपर नाम कहीं

१—ऋ० वे० २।४।२,४; ऋ० ८।२३।१७ के अनुसार काव्य उशना ने मनु को अग्नि दिया।

२—भृगु के एक पुत्र का नाम भी क्रतु है। यह उनका याज्ञिक देवपुत्र कहा गया है।—वायु० उत्तरार्ध, ४।८७-८८। ऋग्वेद में अग्नि के लिये कविक्रतु पद आता है।—मैकडॉनल, वेदिक मैथॉलॉजी पृ० ९७।

३—ऋ० वे० १।१।६; १।३१।१,१७; १।७५।२; १।१२७।२; ६।११।३; १०।९५।१५।

४—मैकडॉनल कृत वेदिक मैथॉलॉजी पृ० ९९।

५—ऋ० १।३८।१३; २।१।३; ३।२६।२।

६—मैकडॉनल और कीथ कृत वेदिक इंडेक्स, भाग २, पृ० १०८।

अवेस्ता में अग्नि का नाम अथ्रि=अत्रि मिलता है। अत्रि भृगुकुल का एक प्रधान व्यक्ति या विभाग था—महाभारत आदि० ५९।३५-३६; उद्योग० ११७।१३।

७—"ततः स जनयामास भूतग्रामं प्रजापतिः।
आज्यस्थाल्यामुपादाय स्वशुक्रं हुतवान्विभुः॥

अपने अविकृत—**कवि**—रूप में, कहीं तद्धित—**काव्य**—बनकर इस कुल और इसके व्यक्तियों के लिये, जैसी कि प्राचीन परिपाटी थी, प्रयुक्त होने लगा, अर्थात् भृगुओं का पैत्र नाम बन गया। इस प्रकार—

अमर में—"शुक्रो दैत्यगुरुः **काव्य** उशना भार्गवः **कविः**।"

मनु (३।१९८) में—"सोमपास्तु **कवेः** पुत्राः।"

गीता में—"**कवी**नामुशना **कविः**।"

शेषोक्त प्रयोग में **कवि** उसी तरह कुलवाचक—समानाधिकरण का—प्रयोग है, जिस तरह 'आदित्यानामहं विष्णुः,' 'नागानां चास्मि वासुकिः' वा 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि, पांडवानां धनंजयः' है। यह बात वायु० के एक प्रतीक से स्पष्ट हो जाती है[१]।

§ १०. वेदों में भी **कवि** और **काव्य** शब्द स्पष्ट रूप से भृगुओं के लिये आए हैं—

१—ऋग्वेद, नवम मंडल के ४७वें से ४९वें सूक्त तक के ऋषि **कवि भार्गव** हैं।

२—ऋ० वे० ४।२६।१ में **कवि** उशनस् की चर्चा है—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥

३—ऋ० ४।१६।२ में उशनस् का उल्लेख है और उसी के बाद की ऋचा (४।१६।३) में **कवि** शब्द आया है जो उशना ही के लिये प्रयुक्त हुआ है—

अवश्य... **मुशनवे** ...४।१६।२, **कविर्न** निण्यं ४।१६।३।

हुते चाग्नौ सकृच्छुक्रं ज्वालया निःसृतः कविः।
हिरण्यगर्भस्तं दृष्ट्वा ज्वालां भित्वा विनिर्गतम्॥
भृगुस्त्वमिति प्रोवाच यस्मात्तस्मात्स वै भृगुः।"

—ब्रह्माण्ड०, तृतीय पाद १।३१-३६।

१—"शुक्रं कविसुतं ग्रहम्।"—वायु० उत्तरार्ध, ४।७४।

४—ऋ० १।५१।११, ८।३।५, १२।१२; ६।२०।११; ८।२३।१७; ९।८७।३; ९।९७।७; १०।४०।७; अथर्व० ४।२९।६; तैत्तरीय सं० २।५।८।५ इत्यादि में उशना के नाम के साथ उनका कुलनाम **काव्य** निरंतर आया है।

§११. उक्त उल्लेखों के सिवा, वेदों में केवल **कवि** और **कवयः** भी अनेक बार भृगुकुल के लिये, **भृगु** और **भृगवः** शब्दों के बदले में, आता है—

(क) हम ऊपर देख चुके हैं कि भृगु प्रचेता से उत्पन्न माने गए हैं। नीचे दिए अवतरणों में **कवि** प्रचेता के अपत्य हैं—

कविं इव प्रचेतसम्[1] —ऋ० ८।८४।२।

कविर्देवो प्रचेतसो —ब्राह्म० २८।७।

स्पष्टत: यहाँ कवि शब्द से भृगु विवक्षित हैं।

(ख) इसी प्रकार—

कवेरपत्यमादुहे —ऋ० ९।१०।८।

(कवि के अपत्य ने दुहा)

कविर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्—मैत्रा० ४।१२।६; ४।१९६।१२।

(विप्रों में कवि और मृगों में महिष)

इन प्रतीकों में कवि जातिवाचक संज्ञा नहीं है; कुल-विशेष का ही वाचक है।

(ग) ऋ० ९।७५-७९ के ऋषि **कवि** हैं। ऋ० १०।४९।३ तथा ९९।९ में **कवि** के लिये इंद्र ने उत्क नामक व्यक्ति का नाश किया है।

(घ) ऊपर भृगु और अंगिरा कुलों की घनिष्ठता की चर्चा हो चुकी है। ऐसे अवतरण भी दिए गए हैं जिनमें उनके नाम एक साथ आए हैं। यहाँ कुछ ऐसे अवतरण दिए जाते हैं, जिनमें कवि और अंगिरा युगपत् आए हैं—

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तमः कविर्देवानां परिभूषसि व्रतम्। ऋ० वें० १।३१।२।

१—इस मंत्र के ऋषि उशना काव्य हैं।

त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा ।
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः ॥
—ऋ० वे० १।३१।१ ।

......कविं देवासो अंगिरः[1] —ऋ० ८।१०२।१७ ।

इमं यमप्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः ... आत्वा मन्त्राः कवि-शस्ता वहन्त्वेता...[2]।—ऋ० वे० १०।१४।४ ।

अग्निर्होता कवि क्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः । देवो देवेभिरागमत् ॥
—ऋ० वे० १।१।५ ।

यदङ्गदाशेषु त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि । तवेत्तत्सत्यमंगिरः[3] ॥
—ऋ० वे० १।१।६ ।

उक्त प्रतीकों में अंगिरा के जोड़ में आने से **कवि** निःसंदेह **भृगु** का विकल्प है ।

§ १२. ऊपर हम देख चुके हैं कि भृगु प्रधान पितरों में भी हैं । अग्नि पितरों के लिये जो आहुतियाँ वहन करता है उन्हें **कव्य**[4] कहते हैं । **कवि** शब्द के भृगुवाचक हुए बिना **कव्य** शब्द की सार्थकता नहीं हो सकती । **काव्य** की भाँति यह **कव्य** भी **कवि** का तद्धित है और केवल उक्त आहुतियों के लिये ही नहीं, स्वयं पितरों के लिये भी आया है । अग्नि से प्रार्थना की गई है—'हे अग्ने ! सच्चे **कव्य पितरों**

१—इस मंत्र के ऋषि 'प्रयोग **भार्गव अग्नि**' वा '**पावक बार्हस्पत्य**' हैं, यह भी लक्ष्य करने की बात है ।

२—हे यम, इस प्रशस्त (आस्तीर्ण कुश) पर बैठो, **अंगिराओं** के संग । वे मंत्र जिनसे **कवि** ने तुम्हारी (प्र-)शस्ति की है, तुम्हें यहाँ ले आएँ ।

३—अग्निदेव, जो कि होता, **कविक्रतु**, सत्य और अत्यंत विचित्र कीर्त्तिवाले हैं, यहाँ देवताओं के संग आएँ । हे अग्ने ! हे **अंगिरः** ! आप अपने उपासक का जो कल्याण करेंगे, वह सत्य होगा ।

४—तैत्तरीय संहिता—२।५।८।६ ; वेदिक मैथॉलोजी पृ० ६७ ।

के संग आओ'[१] । मेक्डॉनल ने यहाँ **कव्य** का अर्थ 'पितर-विशेष' किया है[२] । ये पितर-विशेष कोई और नहीं, भृगु हैं; क्योंकि एक अन्य मंत्र में कव्य, अंगिरा की जोड़ी में आए हैं[३] और हम ऊपर देख चुके हैं कि ऐसी जोड़ी भृगु और अंगिरा की ही है।

§ १३. मंत्रों में अग्नि की संज्ञा अनेक बार कवि[४] भी मिलती है। ऊपर ऐसे नाम दिए गए हैं जो प्रमुख अग्नि-उपासकों पर से अग्नि के पर्याय बन गए हैं। यह प्रयोग भी ठीक उस प्रकार का—भृगु एवं भृग्वाण के विकल्प में—है; उसी तरह का जैसे, अंगिरा और बृहस्पति दोनों ही शब्द विकल्प से अग्नि के लिये व्यवहृत हुए हैं। अग्नि से भृगु का जैसा संबंध देखा जा चुका है (§ ७), उसके कारण निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अग्नि के लिये **कवि** शब्द का प्रयोग किसी और अर्थ में हो नहीं सकता।

§ १४. इस प्रमाण-परंपरा से पूर्णत: प्रतिपादित होता है कि इतिहास-पुराणों में तो भृगुकुल **कवि** वा **काव्य** हैं ही, वेदों में भी उसका कुल-नाम **कवि** वा **काव्य** है, एवं यह समझना भूल होगी कि वैदिक साहित्य में कवि शब्द केवल ऋषि का वाचक है। असल बात यह है कि एक श्रेष्ठतम ऋषि-वंश (भृगु-वंश) का वाचक होने के कारण ही आगे चलकर यह शब्द ऋषि का पर्याय बन गया; जैसे ज़न्द में **अथर्वा** शब्द मंत्रकार मात्र के लिये।

§ १५. अब वाल्मीकि के लिये प्रयुक्त **कवि** शब्द का और उनके रामायण के लिये प्रयुक्त **काव्य** शब्द का अर्थ आपसे आप लग जाता

१—"आग्ने याहि......सत्यैः कव्यैः पितृभि......" ऋ० वे० १०।१५।६।

२—"अ पर्टिक्युलर ग्रुप ऑव फ़ादर्स"—मेक्डॉनल कृत अ वेदिक रीडर, पृ० १८२।

३—"मातली कव्यैर्यमो अंगिरोभि...वावृधानः।"—ऋ० १०।१४।३।

(मातली **कव्यों** के संग और यम **अंगिराओं** के संग बढ़े हैं।)

४—उदाहरणार्थ ऋ० वे० ५।११।३. दे० उक्त वेदिक रीडर, पृ० १०१।

है। हम ऊपर देख चुके हैं कि वाल्मीकि भार्गव थे। फलतः वे भी कवि[१] थे।

१—पुरानी राज-वंशावलियों के विपरीत ऋषि-वंशावलियाँ ऐसी उलझी हुई और असमग्र हैं कि उनसे कोई निश्चित रूप खड़ा करना सचमुच बड़ा दुःसाध्य है। एक तो वे उस पुरातन काल से चलती हैं, जब वंशावलियों के संरक्षण की विशेष भावना न थी; इसी से वे मिल-जुल गई हैं, जैसे—एक ही ऋषि कहीं भार्गव और कहीं आंगिरस कहे गए हैं (§ ६)। दूसरे, ये वंशावलियाँ जिस रूप में मिलती हैं उसमें वे मुख्यतः एक ऋषि-कुल के अंतर्गत खाँपों की नामावली मात्र हैं, जिनमें उस कुल-परंपरा के ही नहीं प्रत्युत उन अन्य कुलों के नाम भी हैं जो उस ऋषि-कुल में अंतर्भुक्त हो गए थे। जैसे, इस भार्गव कुल में ही वाध्र्यश्व, दैवोदास और वैतिहव्य (मत्स्यपुराण, अध्याय १४४) प्रमाण-पूर्वक क्षत्रिय-कुल के थे।

भृगुओं का एक वंश-वृक्ष डा॰ सुकथनकर ने 'भृगुवंश और भारत' (ना॰ प्र॰ प॰, श्रावण १९९७, पृ॰ १०८) में महाभारत से तैयार करके दिया है। उसके संबंध में वे स्वयं कहते हैं—"यह अत्यंत संक्षिप्त जान पड़ता है, जिसमें बीच बीच में बहुत सी कड़ियाँ छूट गई हैं।" इस वृक्ष का आरंभिक अंश इस प्रकार है—
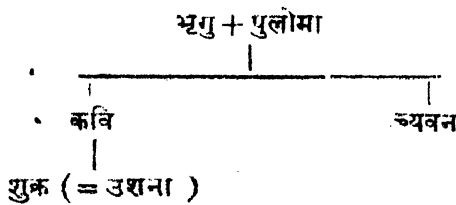
सुकथनकरजी का यह वंशवृक्ष मुख्यतः महाभारत १।६६।४२—५१ पर अवलंबित है। इसमें उन्होंने—"भृगोः पुत्रः कविर्विद्वाञ्छुक्रः कविसुतो ग्रहः।" ४२ का तात्पर्य—भृगु के पुत्र कवि और कवि के पुत्र शुक्र मानकर, शुक्र (= उशना) को भृगु की दूसरी पीढ़ी में रखा है। किंतु यदि ऐसा होता तो ६६।४५-४६ में यह न कहा गया होता—

"तस्मिन्नियुक्ते विधिना योगक्षेमाय पार्थिवे।
अन्यमुत्पादयामास पुत्रं भृगुरनिन्दितम्॥ ४५
च्यवनं दीप्त-तपसं धर्मात्मानं यशस्विनम्। ४६"

अर्थात्, विधाता द्वारा उन (शुक्र) के लोक के योगक्षेम में नियुक्त किए जाने पर, भृगु ने च्यवन नामक एक अन्य पुत्र उत्पन्न किया। इस उक्ति की संगति एवं सार्थकता तभी हो सकती है जब शुक्र और च्यवन भाई भाई रहे हों। 'अन्य' पद बिना किसी ननु-नच के यही ध्वनित कर रहा है। इसके सिवा उसका और क्या बल हो सकता है! उसका एकमात्र भाव यह है कि जब भृगु ने देखा कि एक बेटे को ब्रह्मा ने उस तरह बझा दिया तो दूसरा पुत्र उत्पन्न किया। ऐसी अवस्था में शुक्र संबंधी उक्त अवतरण के कवि और कवि-सुत पदों को शुक्र का ही अपर नाम मानना पड़ेगा, जिसका सीधा अर्थ यह हुआ कि वे कवि-वंश के थे।

आचार्य पार्जिटर की सप्रमाण स्थापना के अनुसार भी उशना-शुक्र और च्यवन भाई भाई थे (एंश्यंट इंडियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन, पृ० १९४); चचा भतीजे नहीं। अर्थात् भृगु और शुक्र के बीच कवि नामक व्यक्ति नहीं थे।

अब यह देखना चाहिए कि वे मूल कवि कौन हो सकते हैं, जिनसे पौत्र नाम पाकर उशना की संज्ञा कवि, कविसुत वा काव्य हुई। जब शुक्र और च्यवन भाई भाई अर्थात् आदिभृगु के पुत्र निश्चित हो चुके तो भृगु और कवि का एकत्व स्वतः हो जाता है। अथवा यों कहिए कि आदिभृगु का ही दूसरा नाम कवि था।

वैदिक प्रमाणों में भृगु और कवि शब्द का एकत्व अनेक बार पाया जाता है (§ ११)। पुराणों के अनुसार भी कवि और आदिभृगु एक हैं (पार्जिटर पृ० १९५ तथा § ९, टि० ७)। महाभारत से भी कवि वरुण के पुत्र और आदिभृगु के सह-ज भाई पाए जाते हैं (महाभारत, कुंभघोणम्, अनुशासनपर्व, अध्याय ८५)। अतः वे प्रथम भृगु की अगली पीढ़ी में नहीं रखे जा सकते। उलटे, उक्त स्थल में तो एक भृगु ही कवि के पुत्र हैं। साथ ही वहाँ कवि के पुत्रों में उशना (= शुक्र) हैं और कवि के सह-ज भृगु (+ पुलोमा) के पुत्रों में शुक्र (= उशना)

और च्यवन दोनों हैं। इससे कवि और भृगु का एकत्व ही नहीं, शुक्र और च्यवन का सहोदरत्व भी प्रतिपादित होता है।

ऐसी अवस्था में श्री सुकथनकरवाले वंश-वृक्ष के आरंभिक अंश में इतना संशोधन अनिवार्य हो जाता है कि भृगु तथा कवि का समीकरण किया जाय और शुक्र एवं च्यवन एक पीढ़ी में रखे जायँ, नीचे ऊपर नहीं। अर्थात्—

भृगु = कवि + पुलोमा
|
शुक्र (= उशना) च्यवन

इस प्रकार च्यवन भी उतने ही कवि वा काव्य हैं जितने शुक्र वा उशना।

आदि भृगु और कवि का एकत्व स्थिर हो जाने से इस समीकरण (च्यवन = कवि, काव्य) के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रह जाती। फिर भी, कहा जा सकता है कि पौराणिक साहित्य में साधारणतः च्यवन के लिये कवि वा काव्य पद नहीं आया है। किंतु इस अभावात्मक प्रमाण से उक्त स्थापना में कोई अंतर नहीं पड़ता; क्योंकि एक तो इस संबंध में सारे पुराण-वाङ्मय की छानबीन बाकी है। दूसरे, उसमें च्यवन दो-एक बार ही आते हैं। जो व्यक्ति जितने अधिक बार पौराणिक साहित्य में आया है उसके उतने ही अधिक नाम व्यवहृत होने की संभावना बढ़ती है। कुछ यह बात नहीं कि शुक्र के लिये सर्वत्र कवि वा काव्य ही आया हो, किंतु वे इतनी बार पुराण-इतिहास में आते हैं कि उनके लिये भृगु और भार्गव की भाँति कवि और काव्य का प्रयोग भी पाया जाता है।

किसी भी अवस्था में, ऋग्वेद के एक प्रमाण से हम पर्याप्त निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि काव्य पैत्र-नाम च्यवन के लिये भी अवश्य प्रयुक्त होता था। ऋ० वे० १।११७।१३ का मन्त्रकार अश्विनी-कुमारों को संबोधित करता है—"युवं च्यवानमश्विना जरन्तं पुनर्युवानं चक्रथुः" अर्थात्, हे अश्वियो, तुम दोनों ने बूढ़े च्यवन को पुनः जवान किया। इसी सूक्त में, इसके ठीक डेढ़ पंक्ति ऊपर अर्थात् १।११७।१२ में, अश्वियों का एक विशेषण आता है—काव्य से अच्छी स्तुति

उन्हीं कवि[1] वाल्मीकि ने जिस उपाख्यान का ग्रंथन किया वह उनके नाम पर काव्य[2] कहलाया; क्योंकि प्राचीन काल में लेखकों के नाम पर पुस्तकों के नाम पड़ते थे; जैसे—शांखायन, आश्वलायन, जैमिनीय, ताण्ड्य, काण्व, वाजसनेय, तैत्तरीय इत्यादि। इसी प्रकार कवि (= वाल्मीकि) की रचना काव्य रामायण हुई।

अब यह बात भी समझ में आ जाती है कि रामायण काव्य[3] और इतिहास[4] दोनों ही क्यों कहा गया है। काव्य उसका

गानेवाले ("यान्ता सुष्टुतिं काव्यस्य")। यह काव्य स्पष्ट रूप से च्यवन हैं जिन्होंने अश्विय़ों की कृपा से पुनर्यौवन पाया था। क—जब इस घटना का गुणानुवाद अन्य ऋषियों तक ने बारबार किया है (ऋ० १।११६।१०, ११७।१३, ११८।६; ७।७१।५; १०।३९।४ इत्यादि) तब स्वयं च्यवन ने तो उनकी भूरि भूरि स्तुति अवश्य ही की होगी। ख—च्यवन थे भी विशिष्ट सामकार (§ १६)। ग—किसी अन्य कवि या काव्य से अश्विय़ों के संबंध का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इन अवस्थाओं में यहाँ काव्य की जिस 'सुष्टुति' (= सुस्तुति) की चर्चा है वह काव्य च्यवन के सिवा किसी अन्य की नहीं हो सकती।

यहाँ यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि (१) भृगु वंशावली का जितना अंश ऊपर दिया गया है उसके बादवाला अंश बहुत खंडित है, एवं (२) उसमें वाल्मीकि का नाम कहीं नहीं आता, यद्यपि वे निश्चयपूर्वक भार्गव थे (§ २)। इसी प्रकार मार्कंडेय भी भार्गव थे, किंतु उनका वंशानुक्रम भी अप्राप्य है। ऐसे ही, भार्गवों के न जाने कितने वंशवृक्षों का पता नहीं।

१—हॉप्किंस, द ग्रेट अॅपिक ऑव इंडिया, पृ० ६२।

२—"काव्यं रामायणं कृत्स्नं"—रामा० (बंबई) १।१।४७; "काव्यं रामायणं शृणु"—७।९७।२०।

३—"शृणोति य इदं काव्यं पुरा वाल्मीकिना कृतम्।"—रामा० (बंबई), ६।१२८।११०।

४—"पूजयंश्च पठंश्चैनमितिहासं पुरातनम्।"—रामा० (बंबई), ६।१२८।११४।

रचयिता संबंधी नाम और इतिहास उसका विषय है। यह रचना लोकप्रिय थी, अतः इसी शैली की रचनाओं के लिये काव्य शब्द क्रमशः रूढ़ि हो गया। इसी से **भारत** भी काव्य[1] कहा गया है। मराठी में उपन्यास मात्र **कादंबरी** कहे जाते हैं। होते होते उस लक्षण से लक्षित ग्रंथों अर्थात् काव्यों के रचयिता मात्र कवि कहे जाने लगे—अर्थात्, उस रूढ़िगत विशेषण से यह विशेष्य तैयार कर लिया गया, इन शब्दों का प्रकृत इतिहास विस्मृत हो गया। हजारों वर्षों में यह शैली प्रौढ़, कृत्रिम और आलंकारिक होते होते वर्तमान सर्गबद्ध महाकाव्य और खंडकाव्य के रूप में परिणत हो गई। यहाँ तक कि पीछे से वाल्मीकि के अध्याय भी सर्ग कर डाले गए[2] कि उसके लक्षण में अंतर न पड़े।

इस परिणत शैली का सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ संभवतः अश्वघोष कृत बुद्धचरित है। किंतु उसमें इस कला का जैसा विकसित रूप मिलता है उससे जान पड़ता है कि वह उस समय भी कई सौ वर्ष पुरानी रही होगी। अस्तु, जब ऐसी परंपरा बद्धमूल हुई तो वाल्मीकि के लिये आदिकवि और उनके रामायण के लिये आदिकाव्य, इसी नए अर्थ में प्रयुक्त होने लगा; क्योंकि उन्हीं से ऐसी रचनाओं की परंपरा चली थी।

ऐसा ही उदाहरण हिंदी के अष्टछापवाले पदों का है। पहले वे अष्टछापवाले कवियों के पद थे, अब उन (पदों) की लोकप्रियता के कारण उनके रचियता अष्टछापवाले पदों के कवि हो गए हैं; विशेष्य विशेषण बन गया है।

१—"कृतं मयेदं भगवन्, काव्यं परमपूजितम्।"—भारत।

२—उत्तररामचरित के समय तक रामायण में अध्याय ही थे। उसके छठे अंक में राम से कुश कहते हैं—"हम दोनों (कुश लव) ने सारे रामायण की आवृत्ति की है; किंतु इस समय उसके बालचरितवाले अंतिम **अध्याय** के ये दो श्लोक ही स्मरण हैं (स्मृत्युपस्थितौ तावदिमौ बालचरितस्यान्तेऽध्याये द्वौ श्लोकौ)"।

§ १६. च्यवन, जिनकी परंपरा में वाल्मीकि थे, सामन् के एक ऋषि वा सामकार थे[१]। सामन् की भाँति रामायण भी मूलतः गेय है—वीन पर गाया जाता था,[२] सो वाल्मीकि का ऐसी रचना करना सर्वथा स्वाभाविक है।

वाल्मीकि एकस्वर से अनुष्टुप् छंद के जन्मदाता माने जाते हैं। यह अनुश्रुति बहुत पुरानी है; तैत्तरीय उपनिषद् की भृगु-वल्लरी में एक भृगु की यह उक्ति—"अह१७ श्लोककृत अह१७ श्लोककृत, अह१७ श्लोककृत्" (१०वाँ अनुवाक्), इसी अनुश्रुति की गूँज है। वाल्मीकि का संबंध गान से था और अनुष्टप् एक विशुद्ध गेय छंद है[३]। एक गायक द्वारा उसकी उत्पत्ति तर्क-संगत है।

§ १७. यदि कहा जाय कि ऋग्वेद के मंत्रों में अनुष्टुप् प्रयुक्त हुआ है तो उससे इस स्थापना में कोई बाधा नहीं पड़ती। अभी तक ऋग्वेद के मंत्रों का समय तुल्यकालता के आधार पर स्थिर नहीं किया गया है। संभव है, उसके जो मंत्र अनुष्टुप् में हैं उनके ऋषियों का समय वाल्मीकि के इधर पड़े। फिर वेद में अनेक उक्तियाँ आरोपित हैं—क्या बलि के खंभे में बँधे शुनःशेप छंदोबद्ध प्रार्थना बनाने बैठे थे? क्या इंद्र-शची का (वृषाकपि के संबंध में) संवाद, सरमा (कुतिया) और पणिओं का संवाद, उर्वशी-पुरुरवा का छंदोबद्ध कथोपकथन, दीर्घतमा-नदी-संवाद, विश्वामित्र-नदी-संलाप आदि छंदोबद्ध होने

१—पंचविंश ब्राह्मण १३।५।१२; १९।३।६; २४।६।१०।

२—रामायण (बंबई) १।२।१८,३९; १।४।७-८, १२-१३, ३३-३४; ७।७१।१४-१५; ७।७२।१-२; ७।९३।४, १३, १५; ७।९५।१।

३—इसी लिये गाथा वा श्लोक के प्रयोग की अभिव्यक्ति के लिये सर्वत्र √गै (गाना) के ही रूप आते हैं, √पठ् (पढ़ना) के नहीं—.

'गाथाऽपि चात्र गायन्ति' ... 'श्लोकश्चायं पुरा गीतः...'। स्वयम् गाथा शब्द √गै से बना है।
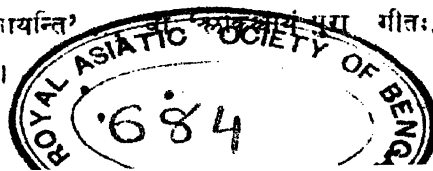
के एवं अपने विषयों के कारण वास्तविक हो सकते हैं? कब और किसने इन्हें बनाया? कितने ही मंत्र एकाधिक ऋषियों पर आरोपित हैं। अर्थात् जिस समय वे संहिता में आए, उनके वास्तविक रचयिता की ठीक ठीक याद तक न रह गई थी। कितने ही मंत्रों के ऋषि देवगण हैं, जैसे—विवस्वान् आदित्य १०।१३।१-५ के, यम १०।१४।१-१६ के। शेषोक्त मंत्रों के तो, छठे मंत्र को छोड़कर, स्वयं यम देवता भी हैं। फिर, संहित होने के पूर्व मंत्रों के रूप में क्या क्या परिवर्तन हो चुके थे, कहा नहीं जा सकता। संभव है, उनके छंद एक से दूसरे हो गए हों।

इन परिस्थितियों में एक भी अनुष्टुप् ऋचा के विषय में निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह वाल्मीकि के पहले की है, अतएव यह अनुश्रुति कि अनुष्टुप् छंद के बाँधनेवाले वाल्मीकि हैं, तब तक अस्वीकृत नहीं की जा सकती जब तक इसके विरुद्ध भावात्मक प्रमाण न उपस्थित किए जायँ। फलतः यह भी मानना पड़ेगा कि वेदों में इस वृत्त का व्यवहार वाल्मीकि के उपरांत हुआ है।

§ १८. जिस परिस्थिति में अनुष्टुप् की उत्पत्ति बताई जाती है उसे ऐतिहासिक प्रमाणित करने की कोई इच्छा न रखते हुए भी, हम इतना कहे बिना नहीं रह सकते कि उसमें कहीं से भी असंभाव्यता नहीं। क्रौंच अपने जोड़े के बिछोह में कैसा दुखी होता है यह विश्वविदित है। उससे किसी भी सहृदय का विगलित और मर्माहत हो उठना एवं उसकी भावधारा का उमड़ पड़ना प्राकृतिक है। ऐसी अवस्था में यदि गायक वाल्मीकि का शोक श्लोक बन गया तो आश्चर्य ही क्या* ?

यदि यह कहानी है तो इससे स्वाभाविक कहानी त्रिकाल में नहीं कही जा सकती।

*—'शोकः श्लोकत्वमागतः' ।—रामा० (बंबई), १।२।४० ।

मूल रामचरितमानस की छंद-संख्या और विषयानुक्रमणी

[लेखक—श्री शंभुनारायण चौबे, बी० ए०, एल-एल० बी०]

रामचरितमानस को जैसे जैसे लोगों ने अपनाया वैसे वैसे उसे अपनी रुचि तथा योग्यता के अनुसार रूप भी दिया। कथाप्रेमियों ने छोड़ो गई कथाओं की पूर्ति में यदि क्षेपकों का समावेश किया तो पंडितों ने शब्दों के धातु-रूप को शुद्ध किया। अर्थ खोलने के लिये किसी ने शब्द बदले तो चौपाइयों की संगति बैठाने के लिये किसी ने पूरी पोथी का नूतन संस्कार* कर डाला। इन सबके होते हुए भी

* (क) मैनपुर-निवासी लाला सुखदेवलाल ने अपने 'मानसहंसभूषण' में दोहों के बीच में आठ पंक्तियों का निर्वाह करने के लिये चतुर्थांश के लगभग मूल चौपाइयों को निकाल दिया और जहाँ मन में आया नवीन चौपाइयाँ जोड़ दीं।

(देखिए ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ४२, अंक ३, पृ० २६८)

(ख) भारत-कलाभवन (काशी) में बालकांड की एक हस्तलिखित पोथी है जिसे सं० १६०८ भादों बदी १, वार मंगल को किसी लाला रामदीन कायथ ने लिखकर समाप्त किया था। इसमें ६४० पृष्ठ हैं और बीच बीच में चित्र भी हैं। इस पोथी में कथा का इतना विस्तार किया गया है कि शायद ही कोई पृष्ठ खुल जाय जिसमें गोसाईं जी की ही वाणी हो।

(ग) लाला श्यामलाल ने सं० १९८४ में नवलकिशोर प्रेस (लखनऊ) से 'बालकांड का नया जन्म' नाम की एक पुस्तक छपवाई थी। इसमें मनु-शतरूपा की कथा, राजा भानुप्रताप की कहानी, रावण का दिग्विजय, रामचंद्रजी का विराट् रूप दिखाना, सीता और रामचंद्रजी का फुलवारी में परस्पर देखना, लक्ष्मण और परशुराम का संवाद—ये कथाएँ निश्चयपूर्वक क्षेपक मानी गई हैं। (भूमिका)

लालाजी को अपनी सूझ का इतना भरोसा था कि उन्होंने ६ जनवरी १९२८ के वेंकटेश्वरसमाचार नामक पत्र में एक सूचना निकाली थी कि जो इसका उत्तर

रामचरितमानस अपने 'अरथ आखर के बल', भाव तथा भाषा की विशेषता के कारण भारतीय संस्कृति के इतना अनुकूल पड़ा कि उन दोनों का चिरकाल के लिये एक घनिष्ठ संबंध हो गया है, और आज दिन यह कहना कठिन है कि कहाँ तक एक दूसरे पर अवलंबित है।

रामचरितमानस हमारे साहित्य का एक विशिष्ट ग्रंथ है। कालक्रम से कई अन्य दोषों के साथ साथ इसके स्वरूप में एक दोष यह भी उत्पन्न हो गया है कि इसमें छोटे-बड़े कितने ही कथाप्रसंग क्षेपक के रूप में जोड़ दिए गए हैं। उन प्रक्षिप्त अंशों को हटाकर रामचरितमानस के उस शुद्ध रूप का उद्धार करना, जिसमें कि वह गोस्वामीजी के करकमलों से संपन्न हुआ था, साहित्यिक दृष्टि से भी आवश्यक कार्य है। प्रस्तुत लेख का उद्देश मुख्यत: यही है। रामचरितमानस की अत्यंत प्राचीन और प्रामाणिक प्रतियों के आधार पर, जिनकी तालिका नीचे दी गई है, यह निर्णय किया जा सकता है कि रामचरितमानस के मूल पाठ में कुल छंद-संख्या—जिनमें दोहे, चौपाई, छंद आदि सभी सम्मिलित हों—कितनी है। इसी प्रयत्न के साथ यह भी आवश्यक है कि रामचरितमानस में जिन विषयों का वर्णन गोस्वामीजी ने किया है उनका यथार्थ निर्णय किया जाय। तभी हम प्रक्षिप्त अंश को मूल से अलग पहचानने में समर्थ हो सकेंगे। इसके लिये सौभाग्य से एक कुंजी गोस्वामीजी के हाथ की ही रामचरितमानस में मिलती है। यह उत्तर कांड का कागभुसुंडि-गरुड़-संवाद के अंतर्गत मूल रामायण नामक अंश है। इसमें गोस्वामीजी ने बहुत ही सारगर्भित प्राचीन रीति से सुंदरता के साथ रामचरितमानस के प्राय: सभी

देगा उसे ५००) इनाम दिया जायगा। इनाम तो नहीं स्वीकार किया, पर त्रिवेणीबाँध गुफा के स्वामी अवधविहारीदास परमहंस ने लालाजी के विरोध में सं० १९८६ में 'बालकांड का नया जन्म खंडन' नामक पुस्तक निकाली थी।

यह पता न लगा कि और कांडों का नया जन्म भी लालाजी ने तैयार किया था वा नहीं।

मुख्य मुख्य कथाप्रसंगों और विषयों का क्रमबद्ध वर्णन कर दिया है। इसके कारण यह प्रकरण समग्र ग्रंथ के परीक्षण के लिये एक अत्यंत प्रामाणिक और सुलभ कसौटी बन गया है।

रामचरितमानस ऐसे साधु ग्रंथ को लोगों ने खूब मनमाना अपनाया। पाठ-भेद की दृष्टि से देखिए अथवा क्षेपक-सन्निवेश की दृष्टि से, किन्हीं दो जगहों की प्रकाशित पुस्तकों का मेल नहीं मिलता। यही हाल ग्रंथ-संख्या[1] का है। दोहों की संख्या सभी पुस्तकों में अपने अपने ढंग की रहती है। यह सब व्यतिक्रम प्राचीन पोथियों के अक्षरशः अनुसरण न करने का फल है। गोस्वामीजी के हस्तकमल की लिखी पोथी का लोप[2] भी इसका कारण है।

१—ग्रंथ-संख्या एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है छंद-संख्या।

२—गोस्वामीजी के हाथ की लिखी पोथी अब तो, मेरी समझ में, कोई वर्तमान नहीं है। निम्नलिखित वस्तुओं को लोग गोसाईंजी के हाथ का लिखा मानते हैं —

(१) सं० १६४१ वि० का लिखा वाल्मीकि-रामायण (उत्तर कांड) जो काशी के सरस्वती-भवन में है।

(२) सं० १६६१ वि० के लिखे रामचरितमानस के बालकांड (श्रावण-कुंज की प्रति) में कुछ स्थल पर किए गए संशोधन।

(३) सं० १६६६ वि० की लिखी रामगीतावली (विनयपत्रिका, जिसे भगवान ब्राह्मण ने लिखा है और जो आजकल रामनगर, बनारस राज्य के चौधरी छुन्नीसिंह के पास है) के एक पृष्ठ पर किए गए संशोधन।

(४) सं० १६६९ का लिखा पंचनामा जो सरस्वती-पुस्तकालय में रखा है।

(५) राजापुर का अयोध्याकांड।

(६) मलिहाबाद के किसी सोनार के पास कई पीढ़ी से सुरक्षित रामायण।

पर वैज्ञानिक ढंग से अनुसंधान करने पर पता चला है (देखिए डा० माताप्रसाद गुप्त का लेख—हिंदुस्तानी, अक्तूबर, १९३८, पृ० ३६७), जो आग

प्राचीन पोथियों की सहायता से पाठ-शुद्धि का कार्य बाबू भागवतदास छत्री ने बड़े परिश्रम से किया था और उनकी गोलावाली प्रति[1] छपने के बाद तो लोगों का भटकना बंद ही कर देना चाहिए था। हर्ष का विषय है कि इधर कुछ दिनों से लोग शुद्ध पाठ की खोज में संलग्न हैं और बड़े परिश्रम से संशोधन का कार्य चल रहा है। फल-स्वरूप आज इधर की प्रकाशित पुस्तकें[2] प्राय: शुद्ध निकल रही हैं जिनमें ग्रंथ-संख्या भी ठीक दी हुई है।

प्रस्तुत लेख में ग्रंथ-संख्या तथा पाठ भागवतदासजी की प्रति का दिया गया है और पृष्ठ-संख्या लीडर प्रेस से प्रकाशित पं० विजयानंद द्वारा संपादित रामचरितमानस की है। कांडों के लिये यथाक्रम १ से ७ तक के अंक दिए गए हैं, उसके आगे खड़ी पाई के बाद दोहे की संख्या है, फिर खड़ी पाई के बाद दोहे की संख्या के आगे आनेवाली चौपाई की पंक्ति की संख्या है। अंतिम संख्या पृष्ठसंख्या है। उदाहरणार्थ—

मन करि बिषय अनल बन जरई।
होइ सुखी जौं एहि सर परई॥

—१।३४।८—पृ० २८।

इसमें १ बाल कांड का, ३४ दोहे की संख्या का और ८ उस चौंतीसवें दोहे के बाद आनेवाली चौपाई की आठवीं पंक्ति का निर्देश करता है।

चलकर और भी पक्का हो जायगा, कि गोस्वामीजी के हस्तकमल का लेख यदि इस नाशवान् संसार में कहीं वर्तमान है तो काशिराज के सरस्वती-पुस्तकालय में, सुरक्षित क्या, रखे हुए पंचनामे में।

१—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४३, अंक ३, पृ० २८६।

२—रामचरितमानस—स्व० रामदास गौड़ द्वारा संपादित।

„ बाबा सरजूदासजी „ „

„ बजरंगबली गुप्त „ „

„ विजयानंद त्रिपाठी „ „

सुविधा के लिये शुद्ध मूल रामचरित मानस की ग्रंथ-संख्या का विवरण दिया जाता है।

१—बाल कांड में ७ श्लोक और ३६१ दोहे हैं।

२—अयोध्या कांड में ३ श्लोक और ३२६ दोहे हैं।

३—आरण्य कांड में २ श्लोक और ४० दोहे हैं।

४—किष्किंधा कांड में २ श्लोक और ३० दोहे हैं।

५—सुंदर कांड में २ श्लोक और ६० दोहे हैं।

६—लंका कांड में ३ श्लोक और १२१ दोहे हैं।

७—उत्तर कांड में ७ श्लोक और १३० दोहे हैं।

लंका कांड को छोड़ सभी कांडों के प्रारंभ में श्लोक, और श्लोकों के बाद, सुंदर कांड को छोड़, सभी कांडों में दोहे दिए गए हैं जिनकी संख्या एक से अधिक होती है। इन दोहों की गणना संख्या मिलाते समय जोड़ी नहीं जाती, क्योंकि अंक-संख्या अंकगणित में शून्य से प्रारंभ होती है। दोहों के आगे चौपाई और उनके आगे दोहे दिए गए हैं। चौपाइयाँ अधिकतर आठ पंक्तियों की हैं*। यह

* रामचरितमानस में अधिकतर आठ पंक्तियों की चौपाइयाँ हैं। न्यूनाधिक पंक्तियों की संख्या प्रत्येक कांड में इस प्रकार है—

बालकांड में—प्रथम दोहा के आगे १२ पंक्ति है [जो १।१२ इस प्रकार से व्यक्त किया गया है। यही क्रम समस्त निम्नांकित सूची में रक्खा गया है]। २।१२; ३।११; ४।९; ५।९; ६।१२; ७।१४; ८।११; ९।१०, १०।६; ११।१२; १२।१०; १३।११; १४।११; १६।१०; १७।१०; २७।११; ३०।१४; ३१।१६; ३४।१४; ३५।६; ३६।१५; ३७।९; ३८।१२; १८९।६; १९८।१२; २०२।६; २०७।१०; २०९।१२; ३२६।१०; ३५९।१० ।

अयोध्या कांड में—७।७; २८।६; ६३।७; १७२।७; १८४।७; २०१ ६ ।

आरण्य कांड में—१।१४; ४।१६; ५।१०; ३क।२४; ४क।२७; ५क।१३; ६क।१८; ९।१२; १०।२०; ११।१३; १२।१४; १४।१२; १५।१२; २०।१७; २१।१६;

क्रम जितना बालकांड (दो० ३९ से अंत तक) और अयोध्याकांड में निभा है, उतना अन्य कांडों में नहीं। सबसे अधिक गड़बड़ी आरण्य कांड और किष्किंधा कांड में है। इनमें कहीं कहीं १६, २६ और २९ पंक्ति की चौपाइयाँ मिलती हैं। आठ पंक्ति की चौपाइयाँ बहुत कम मिलती हैं। इस बात को न समझकर लोगों ने इन लंबी चौपाइयों

२२।१६; २३।१८; २४।१०; २७।१०; २९।१३; ३०।१०; ३१।१२; ३३।९; ३४।११; ३६।१०; ३८।९।

किष्किंधा कांड में—०।१०; १।९; ५।१४; ६।२९; ८।१०; ९।५; १०।१०; ११।१०; १४।१२; १५।१२; १९।९; २२।१३; २५।१२; २६।११; २७।१२; २९।१२।

सुंदर कांड में—०।९; १।१२; २।११; ८।९; ९।९; ११।१२; १२।११; १४।१०; १५।९; १६।९; १८।९; २०।९; २१।१०; २३।९; २४।९; ३०।९; ३२।९; ३४।१०; ३५।१०; ३६।९; ४०।९; ४२।९; ४८।१०; ५५।१०; ५६।१२।

लंका कांड में—०।१०; २।९; ३।९; ४।१०; ५।९; ७।९; ८।१०; ९।९; ११।१०; १७।१०; २०।१०; २२।१०; २३।१६; २८।१०; ३१।१०; ३२।९; ३३।१४; ३४।१३; ३५।१३; ३७।१०; ३८।९; ३९।१०; ४१।१०; ४५।११; ४८।१०; ५९।१०; ६०।१८; ६१।१२; ६३।९; ६४।१०; ६५।१०; ६९।१२; ७०।१२; ७१।११; ७२।१३; ७३।१०; ७४।१४; ७५।१६; ७७।९; ७८।१३; ७९।११; ८५।१०; ८६।१०; ८७।१०; ८८।१४; ८९।१४; ८९।१४; ९७।१५; ९८।१३; ९९।११; १०१।१०; १०२।११; १०३।१३; १०७।१४; १०९।१२; ११०।२२; ११३।१०; ११४।९; ११७।१०; ११८।११; ११९।९; १२०।१२।

उत्तर कांड में—१।१९; २।१०; ५।९; ७।९; ८।९; १४।१०; १८।१०; २२।१०; २३।९; २९।१०; ३४।९; ४९।९; ५०।९; ५१।९; ५४।९; ५५।१०; ५६।१०; ६१।१०; ६३।९; ७२।९; ७६।१०; ८५।१०; ९५।१०; ९९।१०; १००।१०; १०५।१६; १०९।१६; ११०।१६; १११।१६; ११२।१६; ११३।१६; ११४।१६; ११६।१६; ११७।१६; ११८।१०; ११९।१९; १२०।३७; १२१।१९; १२४।१०।

के टुकड़े करके बीच बीच में दोहे गढ़कर बिठाए हैं और कहीं चौपाइयाँ भी जोड़ दी हैं। यही कारण है कि आरण्य कांड में सबसे अधिक क्षेपक दीख पड़ते हैं। किसी प्रति की शुद्धता परखने के लिये आरण्य कांड की जाँच होती है।

चौपाइयों के बाद आनेवाले दोहों से संख्या का आरंभ होता है। प्राय: चौपाइयों के बाद एक दोहा आता है, पर कहीं कहीं दो या अधिक दोहे दिए गए हैं, विशेषत: उत्तर कांड के उत्तरार्ध भाग में (दो० ६२ से दो० १२५ तक) चौपाइयों के बाद दो दोहों का क्रम खूब चला है। गणना के लिये एक स्थान पर आनेवाले एक से अधिक दोहों की संख्या एक ही मानी जाती है।

प्रत्येक कांड में छंद और सोरठे भी दिए गए हैं। ये चौपाइयों के बाद आते हैं, पर इनकी स्वतंत्र संख्या नहीं दी जाती। ये दोहों के अंतर्गत माने गए हैं—'छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा' (१।३६।५)। छंद के प्रारंभ का भाव पूर्वकथित चौपाई के अंतिम चरण से मिलता हुआ होता है। छंद के बाद दोहे, अथवा कहीं कहीं सोरठे, अवश्य आते हैं। इनकी संयुक्त संख्या एक ही मानी गई है। कहीं कहीं पर दोहों के बाद भी छंद आते हैं। बालकांड दो० १८५, १९१, २१० तथा उत्तर कांड दो० ११, १२, १३ के आगे चौपाई न देकर छंद दिए गए हैं। ऐसे स्थलों पर गणना के लिये छंद, चौपाइयों का काम देते हैं और इनके आगे आनेवाले दोहों पर दूसरी संख्या पड़ती है।

छंद प्राय: चार पंक्तियों के दिए गए हैं, पर बालकांड के दो० १८६, १९२, २१०, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६, ३२७ के छंद, किष्किंधा दो० १० का, सुंदर कांड दो० ३ का, लंकाकांड दो० १०९ का, उत्तरकांड दो० ५, १२, १३, १३० के छंदों में चार से अधिक पंक्तियाँ हैं। लंकाकांड में दो० ७८ से दो० १०९ तक चौपाइयों के बाद चार पंक्ति का छंद तथा एक दोहे का क्रम खूब चला है।

बाल कांड में ३६१ दोहे हैं जिनकी संख्या का संकेत (प्रथम पंक्ति को लेते हुए) नीचे दिया जाता है—

दो०—०जो सुमिरत सिधि होइ गननायक करिवर बदन ।

दो०—२५ ब्रह्म राम ते नाम बड़ बरदायक बरदानि ।

दो०—५० ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद ।

दो०—७५ चिदानंद सुखधाम सिव बिगत मोह मद काम ।

दो०—१०० मुनि अनुसासन गनपतिहि पूजेउ संभु भवानि ।

दो०—१२५ सूख हाड लै भाग सठ स्वान निरखि गजराज ।

दो०—१५० सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेह ।

दो०—१७५ भरद्वाज सुनु जाहि जब होइ बिधाता बाम ।

दो०—२०० प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान ।

दो०—२२५ समय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ ।

दो०—२५० तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप उठै न चलहिँ लजाइ ।

दो०—२७५ गाधि सून कह हृदय हँसि मुनिहिं हरिअरेइ सूझ ।

दो०—३०० सबके उर निर्भर हरष पूरित पुलक सरीर ।

दो०—३२५ मुदित अवधपति सकल सुत बधुन्ह समेत निहारि ।

दो०—३५० इहि सुख ते सत कोटि गुन पावहिं मातु अनंदु ।

दो०—३६१ सिय रघुबीर बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं ।

अयोध्याकांड में ३२६ दोहे हैं जिनका संकेत नीचे दिया जाता है—

दो०—०श्री गुरु चरन सरोज रज निज मन मुकुरु सुधारि ।

दो०—२५ बार बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि ।

दो०—५० सखिन्ह सिखावनु दीन्ह सुनत मधुर परिनाम हित ।

दो०—७५ मातु चरन सिर नाइ चले तुरत संकित हृदय ।

दो०—१०० सुनि केवट के बयन प्रेम लपेटे अटपटे ।

दो०—१२५ तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ ।

दो०—१५० प्रथम बास तमसा भएउ दूसर सुरसरि तीर ।

दो०—१७५ कीजिअ गुरु आयसु अवसि कहहिं सचिव कर जोरि ।

दो०—२०० सुख सरूप रघुबंस मनि मंगल मोद निधान ।

दो०—२२५ भरत प्रेम तेहि समय जस तस कहि सकइ न सेस ।

दो०—२५० यह जिय जानि सँकोच तजि करिय छोहु लखि नेहु ।

दो०—२७५ आश्रम सागर सांत रस पूरन पावन पाथु ।

दो०—३०० सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि ।

दो०—३२६ भरत चरित करि नेम तुलसी जो सादर सुनहिं ।

आरण्य कांड में ४० दोहे हैं जिनका संकेत नीचे दिया जाता है—

दो०— ० उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति ।

दो०—५ सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ ।

दो०—५क अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम ।

दो०—१० बचन करम मन मोरि गति भजन करहिं निहकाम ।

दो०—१५ सभा माँझ परि ब्याकुल बहु प्रकार कह रोइ ।

दो०—२० मम पाछे धर धावत धरे सरासन बान ।

दो०—२५ सीता हरन तात जनि कहेहु पिता सन जाइ ।

दो०—३० जाति हीन अघ जनम महि मुक्त कीन्हि असि नारि ।

दो०—३५ नाना बिधि बिनती करि प्रभु प्रसन्न जिय जानि ।

दो०—४० रावनारि जस पावन गावहिं सुनहिं जे लोग ।

किष्किंधा कांड में ३० दोहे हैं—

दो०—० मुक्ति जन्म महि जानि ज्ञान खानि अघ हानि कर ।

दो०—५ सखा बचन सुनि हरषे कृपासिंधु बल सींव ॥

दो०—१० राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग ।

दो०—१५ कबहुँ प्रबल बह मारुत जहँ तहँ मेघ बिलाहिं ।

दो०—२० हरषि चले सुग्रीव तब अंगदादि कपि साथ ।

दो०—२५ बदरी बन कहुँ सो गई प्रभु आज्ञा धरि सीस ।

दो०—३० भव भेषज रघुनाथ जस सुनहिं जे नर अरु नारि ।

सुंदर कांड में ६० दोहे हैं—

दो०—१ हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम ।

दो०—१० भवन गयउ दसकंधर इहाँ पिसाचिनि बृंद ।

दो०—२० कपिहिं बिलोकि दसानन बिहँसा कहि दुर्बाद ।

दो०—३० नाम पाहरू रात दिन ध्यान तुम्हार कपाट ।

दो०—४० तात चरन गहि माँगौं राखहु मोर दुलार ।

दो०—५० प्रभु तुम्हार कुल गुर जलधि कहिहि उपाय बिचारि ।

दो०—६० सकल सुमंगल दायक रघुनायक गुन गान ।

लंका कांड में १२१ दोहे हैं—

दो०— ० सिंधु बचन सुनि राम सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ ।

दो०—१० सुनासीर सत सरिस सो संतत करै बिलास ।

दो०—२० प्रनत पाल रघुबंशमनि त्राहि त्राहि अब मोहिं ।

दो०—३० तोहिं पटकि महि सेन हति चौपट करि तव गाँउ ।

दो०—४० नानायुध सर चाप धर जातुधान बल बीर ।

दो०—५० दस दस सर सब मारेसि परे भूमि कपि बीर ।

दो०—६० भरत बाहुबल सील गुन प्रभु पद प्रीति अपार ।

दो०—७० करि चिक्कार घोर अति धावा बदन पसारि ।

दो०—८० महा अजय संसार रिपु जीति सकै सो बीर ।

दो०—९० राम बचन सुनि बिहसा मोहि सिखावत ज्ञान ।

दो०—१०० देखि महा मर्कट प्रबल रावन कीन्ह बिचार ।

दो०—१२१ समर बिजय रघुबीर के चरित जे सुनहिं सुजान ।

उत्तर कांड में १३० दोहे हैं—

दो०— ० रहा एक दिन अवधि कर अति आरत पुर लोग ।

दो०—१० तब मुनि कहेउ सुमंत्र सन सुनत चलेउ हरषाइ ।

दो०—२० बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग ।

दो०—३० एहि बिधि नगर नारि नर करहिं राम गुन गान ।

दो०—४० ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग त्रेता नाहिं ।

दो०—५० तेहि अवसर मुनि नारद आए करतल बीन ।

दो०—६० परमातुर बिहंगपति आएउ तब मो पास ।

दो०—७० ज्ञानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार ।

दो०—८० जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ।

दो०—९० बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।

दो०—१०० भए बरन संकर कलि भिन्न सेतु सब लोग।

दो०—११० गुरु के बचन सुरति करि राम चरन मन लाग।

दो०—१२० ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहिं।

दो०—१३० मो सम दीन न दीनहित तुम समान रघुबीर।

प्रत्येक कांड की कथा का बंधान मूल रामचरितमानस में इस प्रकार है[1] —

बालकांड

विविध बंदना १। आरंभ (जो सुमिरित सिधि होइ से बंदौं सीता-राम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न) १।१८—२।

राम नाम महिमा १।१८।१ (बंदौं राम नाम रघुबर को से नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ) १।२७।१—१७।

रामचरित सर १।३४।६ (बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा से कह कवि कथा सुहाइ) १।४३—२८।

सतीचरित[2] १।४७।१ (एक बार त्रेता जुग माहीं से उमा चरित सुंदर मैं गावा) १।७४।६—३५।

शंभुचरित[2] १।७४।६ (सुनहु संभु कर चरित सुहावा से सुचि सेवक तुम्ह राम के रहित समस्त बिकार) १।१०४—५०।

उमा के प्रश्न[3] १।१०६।६ (कथा जो सकल लोक हितकारी से छल बिहीन सुनि सिव मन भाई) १।११०।६—७०।

१—कथाक्रम का संकलन मुख्यतः भुसुंडि द्वारा कही गई रामकथा के अनुसार दिया जाता है। देखिए उत्तरकांड (७।६१।७—७।६७।७), पृ० ६०३—६०६।

२—सतीचरित तथा शंभुचरित दोनों अट्ठाइस अट्ठाइस दोहों में वर्णित हैं।

३—देखिए उत्तरकांड ७।५३—७।५४।५—पृ० ५६८।

नारद कर मोह अपारा १।१२३।५ (नारद श्राप दीन्ह एक बारा से अस विचारि ...भजिअ महामायापतिहि) १।१४०—७६ ।

रावन अवतारा—चार रावण का संकेत रामचरितमानस में किया गया है; यथा—

(१) द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ १।१२१।४—१।१२२ (जय अरु विजय)—७८,

(२) एक कल्प सुर देखि दुखारे १।१२२।५—१।१२३।२ (जलंधर)—७८,

(३) नारदमोह के रुद्रगन १।१३३—१।१३६ (रुद्रगन)—८३,

(४) भानुप्रताप कथा के १।१७५—(भानुप्रताप)—१०४, ।

मनुसतरूपा १।१४१।१ (स्वायंभू मनु अरु सतरूपा से यह इतिहास पुनीत अति उमहिं कही वृषकेतु) १।१५२—८८ ।

भानुप्रताप १।१५२।२ (बिस्व बिदित एक कैकय देसू से भए निसाचर घोर घनेरे) १।१७५।६—६३ ।

प्रभु अवतार कथा १।१२०।१ (सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाए से निज इच्छा निर्मित तनु मायागुन गोपार) १।१६२—७७ ।

सिसुचरित १।१६२।१ (सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी से सकल तनय चिरजीवहु तुलसिदास के ईस) १।१६६—११५ ।

बालचरित १।१६६।१ (कछुक दिवस बीते एहि भाँती से यह सब चरित कहा मैं गाई) १।२०५।१—११७ ।

ऋषि आगमन १।२०५।२ (बिस्वामित्र महामुनि ग्यानी से चरित एक प्रभु देखिय जाई) १।२०६।६—१२२ ।

अहल्योद्धार १।२०६।१० (धनुषजग्य सुनि रघुकुलनाथा से... तेहि भजु छाड़ि कपट जंजाल) १।२११—१२४ ।

सीयस्वयंवर १।२११।१ (चले राम लछिमन मुनि संगा से सब मिलि देहिं महीपन्ह गारी) १।२६७।१—२६ ।

परशुराम आगमन १।२६७।२ (तेहि अवसर सुनि सिव धनु भंगा से जहँ तहँ कायर गवहिं पराने) १।२८४।८—१५५ ।

श्री रघुवीर विवाह १।२८५ (देवन्ह दीन्हीं दुंदुभी...से तिन्ह कहँ सदा उछाह मंगलायतन राम जस) १।३६१—१६६ ।

अयोध्या कांड*

राम अभिषेक प्रसंगा २।०।१ (जबते राम ब्याहि घर आए से सकल कहहिं कब होइहि काली) २।१०।६—२१२ ।

---

* अयोध्या कांड में आठ अर्धाली के बाद एक दोहा और हर पचीसवें दोहे के स्थान पर एक छंद और एक एक सोरठा है। इस प्रकार इस कांड में १३ छंद हैं जिनमें १२ छंदों में तुलसीदासजी ने अपनी छाप दी है। केवल वाल्मीकि प्रकरण के छंद में गोसाईंजी ने आदिकवि के वचन में अपनी छाप नहीं दी। इस कांड के मुख्य वक्ता तुलसीदासजी हैं इसी कारण कहीं पर मुनि, भरद्वाज, उमा, या गरुड़ संबोधन नहीं मिलता। कुल ३२६ दोहों का विभाजन इस प्रकार किया है—

प्रथम १५६ दोहों में (श्रीगुरु चरन सरोजरज २।० से मोक निवारेउ सबन्हि कर निज विज्ञान प्रकास) २।१५६ तक रामचरित्र का वर्णन है ;

चौदह दोहों में (२।१५६।१ तेल नाव भरि नृप तनु राखा से दिए भरत लहि भूमि सुर भे परिपूरन काम) २।१७० तक दशरथ की अंत्येष्टि का वर्णन है ;

अंत के १५६ दोहों में (२।१७०।१ पितुहित भरत कीन्ह जस करनी से सीय राम पद प्रेम अवस होइ भवरस बिरति) २।३२६ तक भरतचरित्र का वर्णन है।

भरतचरित की फलश्रुति कहकर कांड समाप्त किया गया है। पर अयोध्या कांड के रामचरित की फलश्रुति अरण्य कांड के छठे दोहे—

कलिमल समन दमन मन राम सुजस सुखमूल।
सादर सुनहिं जे तिन्हहिं पर राम रहहिं अनुकूल ॥

नृप बचन, राज रस भंगा २।१०।६ (बिघन बनावहिं देव कुचाली से भूप सोक बस उतर न दीन्हा) २।४५।५—२१७ ।

पुरवासिन्ह कर बिरह बिषादा २।४५।६ (नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी से चली नाइ पद पदुम सिर अति हित बारहिं बार) २।६८—२३५ ।

राम लछिमन संबादा २।६९।१ (समाचार जब लछिमन पाए से आवहु बेगि चलहु बन भाई) २।७२।१—२४७ ।

बिपिन गवन २।७८।८ (राम तुरत मुनि बेष बनाई से करत चरित नर अनुहरत संसृति सागर सेतु) २।८७—२५२ ।

केवट अनुरागा २।८७।१ (यह सुधि गुह निषाद जब पाई से पितर पार करि प्रभुहिं पुनि मुदित गएउ लेइ पार) २।१०१—२५६ ।

सुरसरि उतरि निवास पयागा २।१०१ (उतरि ठाढ़ भे सुरसरि रेता से चले सहित सिय लखन जन मुदित मुनिहिं सिर नाइ) २।१०८—२६३ ।

बालमीक प्रभु मिलन २।१२३।५ (देखत बन सर सैल सुहाए से आइ नहाए सरित बर सिय समेत दोउ भाइ) २।१३२—२७४ ।

चित्रकूट जिमि बस भगवाना २।१३२ (चित्रकूट महिमा अमित कही महामुनि गाइ से खग मृग सुर तापस हितकारी) २।१४१।३—२७९ ।

सचिवागमन नगर २।१४१।४ (सुनहु सुमंत्र अवध जिमि आवा से कौसल्या गृह गईं लवाई) २।१४७।३—२८३ ।

नृप मरना २।१४७।४ (जाइ सुमंत्र दीख कस राजा से तनु परिहरि रघुबर बिरह राउ गए सुरधाम) २।१५५—२८६ ।

में की गई है। इसी कारण सभी प्राचीन प्रतियों में अयोध्या कांड में 'इति' नहीं लगाई गई है। भरतचरित कहते कहते अयोध्या कांड समाप्त होता है और जिस प्रकार भरतचरित की इति नहीं है उसी प्रकार कांड की भी 'इति' नहीं है।

[देखिए रामचरितमानस (विजयानंद) पृ० ३७५]

भरतागमन २।१५६।१ (तेल नाव भरि नृप तनु राखा से द्वारहिं भेंटि भवन लेइ आई) २।१५८।३—२६० ।

भरत प्रेम २।१५८।४ (भरत दुखित परिवार निहारा से उठे भरत गुरु बचन सुनि करन कहेउ सब साजु) २।१६९—२६१ ।

भरत चरित २।१७०।१ पितु हित भरत कीन्ह जस करनी से सीयराम पद प्रेम अवसि होइ भव रस बिरति) २।३२६—२६६ ।

नृप क्रिया २।१६९ (तात हृदय धीरज धरहु करहु जो अवसर आजु से सो मुख लाख जाइ नहिं बरनी) २।१७०।१—२६६ ।

संग पुरबासी भरत गए जहँ प्रभु २।१७०।२ (सुदिन सोधि मुनिबर तब आए से......जुरे सभासद आइ) २।२५३—२६७ ।

रघुपति बहु बिधि समुझाए २।२५३।१ (बोले मुनिबरु समय समाना से बंधु प्रबोध कीन्ह बहु भाँती) २।३१५।२—३३९ ।

प्रथम सभा २।२५६।५ (भरत मुनिहि मन भीतर भाए से प्रभु गति देखि सभा सब सोची) २।२६९।३—३४१,

जनक आगमन २।२६९।४ (जनक दूत तेहि अवसर आए से रहा न ग्यान न धीरज लाजा) २।२७५।७—३४७,

द्वितीय सभा २।२९५।२ (गए जनक रघुनाथ समीपा से दुहुँ समाज हिय हरष बिषादू) २।३०८।६—३६०,

तृतीय सभा २।३१२।१ (भोर न्हाइ सब जुरा समाजू से बंधु प्रबोध कीन्ह बहु भाँती) २।३१५।२—३६८ ।

लै पादुका अवधपुर आए २।३१५।२ बिनु अधार मन तोष न साँती से चौथे दिवस अवधपुर आए) २।३२१।५—३६९ ।

भरत रहनि २।३२२।१ (सचिव सुसेवक भरत प्रबोधे से...... अवसि होइ भव रस बिरति) २।३२६—३७२ ।

अयोध्याकांड की न्यूनाधिक चौपाइयों की तालिका सं० १

[निम्नलिखित तालिका में प्रतियों के नीचे ६, ७, ८ या ९ की संख्या बाईं ओर दिए गए दोहा के आगे आनेवाली अर्धालियों की है।]

	दोहा सं०	भागवतदास	राजापुर	काशिराज	कोदोराम	नागरीप्रचारिणी सभा	गौड़जी	मानस-पीयूष	विजयानंदजी
१	१	८	७	८	८	८	८	८	७
२	४	८	७	८	८	८	८	८	७
३	७	७	७	७	८	७	७	७	७
४	१९	८	७	८	८	८	८	८	७
५	२८	९	९	८	८	९	९	९	९
६	६३	७	७	७	८	७	७	७	७
७	८७	८	७	८	८	८	८	८	८
८	१७२	७	७	७	८	७	७	७	७
९	१८३	८	७	८	८	८	८	८	७
१०	१८४	७	७	७	८	७	७	७	७
११	२०१	६	९	९	८	६	९	९	६
१२	२१७	८	७	८	८	८	८	८	७
१३	२५५	८	६	८	८	८	८	८	६
१४	२७८	८	७	७	८	८	८	८	७
१५	२६०	८	७	८	८	८	८	८	७

उपर्युक्त तालिका से प्रकट होगा कि भागवतदास, नागरीप्रचारिणी सभा, गौड़जी तथा मानसपीयूष —इन चार प्रतियों की अयोध्या कांड की ग्रंथ-संख्या एक है। तथा सं० ७ को छोड़ राजापुर की प्रति की ग्रंथ-संख्या का अनुसरण पं० विजयानंदजी ने किया है।

अयोध्या कांड की न्यूनाधिक चौपाइ की तालिका सं० २

				रा०	का०	को०
१	१	सकल सुकृत मूरति नरनाहू। राम सुजस सुनि अतिहि उछाहू।	रा० अन्यत्र है	१		
२	४	प्रमुदित मोहि कहेउ गुरु आजू। रामहि राय देहु जुवराजू।	रा० अन्यत्र है	२		
३	७	बार बार गनपतिहि निहोरा। कीजै सफल मनोरथ मोरा।	को० अन्यत्र नहीं है			१
४	१६	कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू। फिरि न नवइ जिमि उकठि कुकाठू।	रा० अन्यत्र है	३		
५	२८	सुनि मृदु बचन भूप हिय सोकू। ससि कर छुअत बिकल जिमि कोकू।	का० को० अन्यत्र है		१	१
६	५६	बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी।	का० अन्यत्र है		२	
७	६३	अस कहि सिय रघुपति पद लागी। बोली बचन प्रेम रस पागी।	को० अन्यत्र नहीं है			२
८	८७	सहज सनेह बिबस रघुराई। पूछी कुसल निकट बैठाई।	रा० अन्यत्र है	४		
९	१७२	तीनि काल त्रिभुवन जग माहीं। भूरि भाग दसरथ सम नाहीं।	को० अन्यत्र नहीं है			३
१०	१८३	राम सनेह सुधा जनु पागे। लोग बियोग बिषम बिष दागे।	रा० अन्यत्र है	५		
११	१८४	केहि न भाव सिय लछिमन रामू। सब कहँ प्रिय हिय सदा सकामू।	को० अन्यत्र नहीं है			४

				रा०	का०	को०
१२	२०१	निंदहिं आपु सराहि निषादहि । को कहि सकइ बिमोह बिषादहिं ।	को० अन्यत्र है			२
१३	२१७	कह गुरु बादि छोभ छल छाड़ू । इहाँ कपट कर होइहि भाड़ू ।	रा० अन्यत्र है	६		
१४	२२४	भरतहिं सहित समाज उछाहू । मिलिहहिं राम मिटिहि दुख दाहू ।	का० अन्यत्र है		३	
१५	२५५	.... । अरध तजहिं बुध सरबस जाता ।				
		तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई । फेरिय लखन सहित रघुराई ।	रा० अन्यत्र है			
		सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता ।......................	रा० अन्यत्र है	७		
१६	२७८	जनु महि करत जनक पहुनाई । तब सब लोग नहाइ नहाई ।		८		
१७	२९०	......रिषि धरि धीर जनक पहिं आए । राम बचन सुनि नृपहिं सुनाए ।	रा० अन्यत्र है	९		
१८	२९५	गए जनक रघुनाथ समीपा । सनमाने सब रबिकुल दीपा ।	का० अन्यत्र है		४	
१९	३२४	भरत रहनि समुझनि करतूती । भगति बिरति गुन बिमल बिभूती ।	का० अन्यत्र है		५	

उपर्युक्त तालिका देखने से प्रकट होगा कि अयोध्या कांड के नौ स्थलों का पाठ (सं० १, २, ४, ८, १०, १३, १५, १६, १७) केवल राजापुर की प्रति में नहीं है । अन्य सभी प्रचलित प्रतियों में मिलता है ।

पाँच स्थलों का पाठ (सं० ५, ६, १४, १८, १९) केवल काशिराज की प्रति में नहीं है, अन्य सब प्रतियों में है ।

दो स्थलों का पाठ (सं० ५, १२) केवल कोदवराम की प्रति में नहीं है, और सब प्रतियों में है ।

चार स्थलों का पाठ (सं० ३, ७, ६, ११) केवल कोदवराम की प्रति में है, अन्यत्र नहीं है । ये चार ऐसे स्थल हैं जहाँ सभी प्रतियों में सात सात पंक्ति की चौपाइयों में एक एक पंक्ति बढ़ाकर पूरे अयोध्याकांड भर में आठ पंक्ति का क्रम पूरा किया गया है ।

आरण्यकाण्ड

सुरपति सुत करनी ३।०।१ (पुर नर भरत प्रीति मैं गाई से प्रभु छाँडेउ करि छोह को कृपालु रघुबीर सम) ३।२—३७८।

प्रभु अरु अत्रि भेंट ३।२।१ (रघुपति चित्रकूट बसि नाना से चले बनहिं सुर नर मुनि ईसा) ३।६।१—३७९।

बिराध बध ३।६।२ (आगे राम अनुज पुनि पाछे से देखि दुखी निज धाम पठावा) ३।६।७—३८३।

जेहि बिधि देह तजी सरभंग ३।६।८ (पुनि आए जहँ मुनि सरभंगा से जयति प्रनत हित करुनाकंदा) ३।२क।४—३८३।

सुतिछन प्रीति ३।२क।५ (पुनि रघुनाथ चले बन आगे से एव-मस्तु कहि रमानिवासा) ३।५क।१—३८४।

प्रभु अगस्ति सतसंग ३।५क।१ (हरषि चले कुंभज रिषि पासा से कीजै सकल मुनिन्ह पर दाया) ३।६क।१७—३८८।

दंडकबन पावनताई ३।६क।१८ (चले राम मुनि आयसु पाई से कानन अघ,गा भा सुखकारी) ३८९।

गीध मइत्री ३।७ गीधराज सों, भेंट भइ बहु बिधि प्रीति दृढ़ाइ ३८९।

प्रभु पंचवटी कृत बासा ३।७ (गोदावरी निकट प्रभु रहे परन-गृह छाइ से जहाँ प्रगट रघुबीर बिराजा) ३।७।४—३८९।

लछिमन उपदेस ३।७।५ (एक बार प्रभु सुख आसीना से कहत बिराग ज्ञान गुन नीती) ३।१०।२—३९०।

सूपनखा जिमि कीन्हि कुरूपा ३।१०।३ (सूपनखा रावन कै बहिनी से जनु स्रव सैल गेरु कै धारा) ३।११।१—३९१।

खरदूषन बध ३।११।२ (खरदूषन पहिं गइ बिलपाता से धुआँ देखि खरदूषन केरा) ३।१४।५—३९२।

जिमि सब मरम दसानन जाना ३।१४।५ (जाइ सुपनखा रावन प्रेरा से हरिहौं नारि जीति रन दोऊ) ३।१६।६—३९६ ।

दसकंधर मारीच बतकही ३।१६।७ (चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ से कस न मरौं रघुपति सर लागे) ३।१८।६—३९८ ।

माया सीता कर हरना ३।१६।८ (इहाँ राम जस जुगुति बनाई से चला गगन पथ आतुर भय रथ हाँकि न जाइ) ३।२३—३९८ ।

श्री बिरह ३।२२।१ (हा जगदेक बीर रघुराया से सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि नाम) ३।२३—४०१ ।

रघुबीर बिरह ३।२३।१ (रघुपति अनुजहिं आवत देखी से मनुज चरित कर अज अबिनासी) ३।२३।१७—४०३ ।

गीध क्रिया ३।२३।१८ (आगे परा गीधपति देखा से हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी) ३।२६।२—४०४ ।

बधि कबंध ३।२६।४ (पुनि सीतहिं खोजत दोउ भाई से ताहि देइ गति राम उदारा) ३।२७।५—४०६ ।

सबरी गति ३।२७।५(सबरी के आश्रम पगु धारा से महामंद मन सुख चहसि ऐसे प्रभुहिं बिसारि) ३।३०—४०६ ।

जेहि बिधि गए सरोवर तीरा ३।३०।१ (चले राम त्यागा बन सोऊ से बैठे अनुज सहित रघुराया) ३।३४।२—४०८ ।

प्रभु नारद संबाद ३।३४।५ (बिरहवंत भगवंतहिं देखी से भजहि राम तजि कामु मदु करहि सदा सतसंग) ३।४०—४११ ।

किष्किंधा कांड

मारुति मिलन प्रसंग ४।०।१ (आगे चले बहुरि रघुराया से लिए दुवौ जन पीठि चढ़ाई) ४।३।५—४१६ ।

सुग्रीव मिताई ४।३।६ (जब सुग्रीव राम कहँ देखा से राम खगेस बेद अस गावत) ४।६।२४—४१७ ।

बालि प्रान कर भंग ४।६।२५ (लै सुग्रीव संग रघुनाथा से मृतक कर्म बिधिवत सब कीन्हा) ४।१०।८—४२० ।

कपि तिलक ४।१०।९ (राम कहा अनुजहिं समुझाई से पुर न जाउँ दसचारि बरीसा) ४।११।७—४२३ ।

सैल प्रवर्षन बास ४।११।८ (गत ग्रीषम बरषा रितु आई से सुख आसीन तहाँ दोउ भाई) ४।१२।६—४२३ ।

बरषा ४।१२।८ (बरषा काल मेघ नभ छाए से बरषा बिगत) ४।१५।१—४२४ ।

सरद ४।१५।१ (सरद रितु आई से सुरषा गत) ४।१७।१—४२५ ।

राम रोष ४।१७।१ (सुधि न तात सीता कर पाई से धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना) ४।१७।८—४२६ ।

कपि त्रास ४।१८ (तब अनुजहिं समुझावा रघुपति करुना सींव से ......आए बानर जूथ) ४।२१—४२७ ।

जेहि बिधि कपिपति कीस पठाए ४।२१ (नाना बरन सकल दिसि देखिय कीस बरूथ से कोष मुनि मिलै ताहि सब घेरहिं) ४।२३।२—४२८ ।

बिबर प्रवेस ४।२३।३ (लागि तृषा अतिसय अकुलाने से एहि बिधि कथा कहहिं बहु भाँती) ४।२६।१—४२९ ।

कपिन्ह बहोरि मिला संपाती ४।२६।१ (गिरि कंदरा सुनी संपाती से अस कहि गरुड़ गीध जब गएऊ) ४।२८।५—४३२ ।

सुनि सब कथा समीर-कुमारा ४।२८।५ (तिन्ह कें मन अति बिसमय भएऊ से......जासु नाम अघ खग बधिक) ४।३०—४३३ ।

सुंदर कांड

समीर-कुमारा नाँघत भएउ पयोधि ५।०।१ (जामवंत के बचन सुहाए से बारिधि पार गएउ मति धीरा) ५।२।५—४३८ ।

लंका कपि प्रवेस जिमि कीन्हा ५।२।६ (तहाँ जाइ देखी बन सोभा से जुगुति बिभीषन सकल सुनाई) ५।७।५—४३६ ।

सीतहिं धीरज जिमि दीन्हा ५।७।५ (चलेउ पवनसुत बिदा कराई से आसिष तव अमोघ बिख्याता) ५।१६।६—४४२ ।

बन उजारि ५।१६।७ (सुनहु मातु मोहिं अतिसय भूखा से कपि बंधन सुनि निसिचर धाए) ५।१६।५—४४७ ।

रावनहिं प्रबोधी ५।१६।५ (कौतुक लागि सभा सब आए से भगति बिबेक बिरति नय सानी) ५।२३।१—४४६ ।

पुर दहि ५।२३।२ (बोला बिहँसि महा अभिमानी से उलटि पलटि लंका सब जारी) ५।२५।८—४५१ ।

नाघेउ बहुरि पयोधि ५।२५।८ (कूदि परा पुनि सिंधु मँझारी से नाघि सिंधु एहि पारहिं आवा) ५।२७।२—४५२ ।

आए कपि सब जहँ रघुराई ५।२७।६ (चले हरषि रघुनायक पासा से ......कुसल देखि पद कंज) ५।२६—४५३ ।

बैदेही की कुसल सुनाई ५।२६।१ (जामवंत कह सुनु रघुराया से जय जय जय कृपाल सुख कंदा) ५।३३।५—४५४ ।

सेन समेत जथा रघुबीरा उतरे जाइ बारिनिधि तीरा ५।३३।६ (तब रघुपति कपिपतिहिं बुलावा से जहँ तहँ लागे खान फल भालु बिपुल कपि बीर) ५।३५—४५६ ।

मंदोदरी का समझाना (पहला) ५।३५।४ (दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी से भएउ कंत पर बिधि बिपरीता) ५।३६।६—४५८ ।

मिला बिभीषन जेहि बिधि आई ५।३७।२ (अवसर जानि बिभीषन आवा से प्रभु सुभाव कपि कुल मन भावा) ५।४६।२—४५६ ।

शुक सारन प्रसंग ५।५०।८ (जबहिं बिभीषन प्रभु पहिं आए से मुनि निज आश्रम कहुँ पगु धारा) ५।५६।१२—४६५ ।

सागर निग्रह ५।४६।३ (पुनि सर्वज्ञ सर्व उरवासी से सादर सुनहिं ते तरहिं भव सिंधु बिना जलजान) ५।६०—४६५ ।

लंका कांड

सेतुबंध ६।०(सिंधु बचन सुनि राम सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ से देखि कृपानिधि के मन भावा) ६।३।१—४७४ ।

कपि सेन जिमि उतरी सागर पार ६।३।२ (चली सेन कछु बरनि न जाई से सिंधु पार प्रभु डेरा कीन्हा) ६।४।३—४७६ ।

मंदोदरी का समझाना (दूसरा) ६।५।२(मंदोदरी सुन्यो प्रभु आयो से काल बिबस उपजा अभिमानां) ६।७।६—४७७ ।

रावन सभा ६।७।७(सभा आइ मंत्रिन्ह तेहि बूझा से परम प्रबल रिपु सीस पर तद्यपि सोच न त्रास) ६।१०—४७८ ।

सुबेल सैल की बैठक ६।१०।१(इहाँ सुबेल सैल रघुबीरा से पवन तनय के बचन सुनि बिहँसे राम सुजान) ६।१२—४८० ।

मंदोदरी का समझाना (तीसरा) ६।१३।६ (मंदोदरी सोच उर बसेऊ से. पियहिं काल बस मति भ्रम भएऊ) ६।१५।८—४८२ ।

अंगद बसीठी ६।१६।१(इहाँ प्रात जागे रघुराई से समाचार पुनि सब कहे गढ़ के बालि-कुमार) ६।३८—४८४ ।

मंदोदरी का समझाना (चौथा) ६।३५ (.साँझ भए दसकंधर भवन गएउ बिलखाइ से ...नाथ विमल जस लेहु) ६।३७—४६७ ।

निसिचर कीस लराई ६।३८।१ (रिपु के समाचार जब पाए से अति बिषाद पुनि पुनि सिर धुनेऊ) ६।६१।५—४६६ ।

कुंभकरन कर बल संहार ६।६१।६(ब्याकुल कुंभकरन पहिं आवा से तासु तेज बल बिपुल बखानी)६।७१।५—५१४ ।

घननाद कर पौरुष संहार ६।७१।६(मेघनाद तेहि अवसर आएउ से धन्य धन्य तव जननी कह अंगद हनुमान) ६।७६—५२० ।

रघुपति रावन समर ६।७७।४(सुभट बोलाइ दसानन बोला से जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई) ६।१०१।१—५२५।

सीता त्रिजटा संवाद ६।९८।१(तेहि निसि सीता पहिं जाई से पुनि त्रिजटा निज भवन सिधाई) ६।९९।१—५४२।

रावन बध ६।१०१।२ (मरै न रिपु श्रम भएउ बिसेखा से भालु कीस सब हरषे जय सुखधाम मुकुंद) ६।१०३—५४५।

मंदोदरि सोका ६।१०३।१ (पति सिर देखत मंदोदरी से रुदन करत देखी सब नारी)६।१०४।४—५४७।

राज बिभीषन ६।१०४।४ (गएउ बिभीषन मन दुख भारी से सहित बिभीषन प्रभु पहिं आए) ६।१०५।७—५४८।

सीता रघुपति मिलन ६।१०६।१(पुनि प्रभु बोलि लिए हनुमाना से...जय रघुपति सुखसार) ६।१०९—५४९।

सुरन्ह अस्तुति ६।१०९।२ (आए देव सदा स्वारथी से करि बिनती जब संभु सिधाए) ६।११५।१—५५२।

पुष्पक चढ़ि ६।११५।१ (तब प्रभु निकट बिभीषन आए से लीन्हें सकल बिमान चढ़ाई) ६।११८।१—५५७।

अवध चले ६।११८।२ (मन महँ बिप्र चरन सिर नावा से हरन सोक हरलोक,नसेनी) ६।११९।८—५५९।

जेहि बिधि राम नगर निज आए ६।११९।९ (पुनि देखु अवधपुरी अति पावनि से नगर निकट ..बिमान) ७।४—५६०।

उत्तर कांड

राम अभिषेका ७।९।४ (गुरु बसिष्ट द्विज लिए बोलाइ से,..... जहँ नृप राम बिराज) ७।२६—५७१।

पुर बरनन ७।२६।१ (नारदादि सनकादि मुनीसा से अनिमादिक सुख संपदा रही अवध सब छाइ) ७।२९—५८२।

नृपनीति ७।३० (एहि बिधि नगर नारि नर करहिं राम गुन गान से मैं सब कही मोरि मति जथा) ७।५१।१ —५८५ ।

कथा समस्त १।३२।१ (कीन्ह प्रश्न जेहि भाँति भवानी से बिमल कथा हरिपद दायिनी भगति होइ सुनि अनपायनी) ७।५१।५—५८७ ।

उमा के पाँच प्रश्न ७।५३ (बिरति ज्ञान बिज्ञान दृढ़ रामचरन अति प्रेम से कहहु कवन बिधि भा संवाद) ७।५४।५—५८७ ।

(उमा के पाँचों प्रश्नों में प्रथम और द्वितीय का उत्तर शंकरजी ने न दिया, उनका उत्तर भुसुंडि ने दिया ।)

प्रश्न १ का उत्तर ७।८३ (प्रभु अपने अबिवेक ते बूझौं स्वामी तोहि से ताते मोहिं परम प्रिय स्वामी) ७।८५।४—६२३ ।

प्रश्न २ का उत्तर ७।८५।५ (तजौं न तन निज इच्छा मरना से संभुप्रसाद तात मैं पावा) ७।११२।११—६२४ ।

प्रश्न ३ का उत्तर ७।५५।१ (मैं जिमि कथा सुनी भव-मोचनि से मैं जेहि समय गएउ खग पासा) ७।५७।१—५८६ ।

प्रश्न ४ का उत्तर ७।५७।२ (अब सो कथा सुनहु जेहि हेतू से गएउ गरुड़ जहँ बसइ भुसुंडी) ७।६२।१—६०० ।

प्रश्न ५ का उत्तर ७।६२।३ (करि तड़ाग मज्जन जलपाना से सुगम अगम......श्रम होइ) ७।७३—६०३ ।

राम रहस्य ७।७३।१ (सुनु खगेस रघुपति प्रभुताई से तजि ममता मदमान भजिय सदा सीता रमन) ७।८२—६०८ ।

कलि धर्म ७।८७ (भए लोग सब मोह बस... से ...तजि अधर्म रति धर्म कराही) ७।१०३।६—६२५ ।

ज्ञान भगति विवेचन ७।११४।८ (एक बात प्रभु पूछौं तोही से... खगेस विचार) ७।१२०—६४१ ।

गरुड़ के सप्त प्रश्न ७।१२०।१ (जौ कृपाल मोहिं ऊपर भाऊ से अस बिचारि तजि संसय रामहिं भजहिं प्रबीन) ७।१२२—६४७।

गरुड़ भुसुंडि संवाद का उपसंहार ७।१२२।२ (श्रुति सिद्धांत इहै उरगारी से गएउ गरुड़ बैकुंठ तब हृदय राखि रघुबीर ७।१२५—६५१।

उमा शंभु संबाद का उपसंहार ७।१२५ (गिरिजा संत समागम सम न लाग कछु आन से उपजी राम भगति दृढ़ बीते सकल कलेस) ७।१२६—६५३।

भरद्वाज याज्ञवल्क्य-संवाद का उपसंहार ७।१२६।१ (यह सुभ संभु उमा संबादा से मैं यह पावन चरित सुहावा) ७।१२६।४—६५५।

इस लेख में मूल रामचरितमानस के समझने का प्रयत्न किया गया है। रामचरितमानस के भावी संपादक यदि इस ओर ध्यान देंगे तो क्षेपक-बहिष्कार स्वतः हो जायगा और मानस-मनन में, जिसका युग आ रहा है, सुविधा होगी।

ईत्सिंग के भारतयात्रा-विवरण में उल्लिखित एक संस्कृत-व्याकरण-ग्रंथ की पहचान

[ले० श्री सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी, एम० ए०, व्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ]

सप्तम शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतवर्ष में आए हुए चीन देश के प्रसिद्ध यात्री ईत्सिंग ने अपने यात्रा-विवरण (Records of Buddhist Practices: English translation by Takakusu. 1896) में तत्कालीन संस्कृत व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन संप्रदाय के संबंध में कई महत्त्वपूर्ण बातें लिखी हैं। उनका कहना है कि ६ से लेकर २० वर्ष तक की अवस्था में भारतीय विद्यार्थी निम्नलिखित पाँच संस्कृत व्याकरण-ग्रंथों का अध्ययन करते थे :

(१) सिद्ध-ग्रंथ (सि-तन्-चांग)—इसे ६ वर्ष के बालक ६ महीने तक पढ़ते थे।

(२) पाणिनिसूत्र—इसे ८ वर्ष की अवस्था में प्रारंभ कर ८ महीने में विद्यार्थी मुखाग्र कर लेते थे।

(३) धातुसंग्रह।

(४) खिलत्रय—(अ) अष्टधातु, जिसमें कारक और लकारों का निरूपण है; (आ) धातुसाधित शब्दों के रूप ; (इ) उणादि प्रकरण। इन तीनों खिल-ग्रंथों को १० वर्ष के विद्यार्थी पढ़ते थे और ३ वर्ष के सपरिश्रम अध्ययन से अच्छी तरह समझ लेते थे।

(५) वृत्तिसूत्र (जयादित्यकृत)—पाणिनि के सूत्रों पर इस टीकात्मक ग्रंथ का अध्ययन १५ वर्ष के विद्यार्थी ५ वर्ष की अवधि में कर लेते थे।

इन पाँचों ग्रंथों में से दूसरा ग्रंथ निःसंदेह पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' है। तीसरा, ग्रंथ भी पाणिनीय धातुपाठ है, जो

क्षीरस्वामिन् की क्षीरतरंगिणी टीका के समान किसी तत्कालीन टीका के साथ पढ़ा जाता था। चतुर्थ ग्रंथ में कारक और लकार, कृदंतीय और तद्धितीय रूप और उणादि प्रत्यय—ऐसे ३ भाग थे। ईत्सिंग के मतानुसार इस ग्रंथ को 'खिलग्रंथ' कहने का कारण यह था कि खिल का अर्थ 'बे जोती जमीन' है; जैसे बे जोती जमीन को सपरिश्रम जोतकर किसान उसे उर्वर बना लेता है, वैसे ही विद्यार्थी इन खिल ग्रंथों में परिश्रम कर व्याकरण-ज्ञान के लिये अपने को तैयार कर सकता है। धातुपाठ और खिलग्रंथ यद्यपि आज उसी रूप में उपलब्ध नहीं हैं, तथापि प्रतिपादनीय विषय की समीक्षा से उनके रूप का अनुमान किया जा सकता है। अंतिम ग्रंथ 'वृत्तिसूत्र' के संबंध में लगभग सभी विद्वानों का यही मत है कि वह 'काशिका वृत्ति' है। किंतु प्रथम ग्रंथ के संबंध में घोर मतभेद रहा है। हमें यहाँ इसी प्रथम ग्रंथ का विचार करना है।

ईत्सिंग के मतानुसार इसका दूसरा नाम 'सिद्धिरस्तु' भी है, क्योंकि इस लघु पुस्तिका के प्रथम भाग का नाम 'सिद्धिरस्तु' है। इसमें ४९ अक्षरों के असंयुक्त और संयुक्त रूप यथाक्रम १८ भागों में दिए गए हैं। संपूर्ण ग्रंथ की संख्या १०,००० अक्षर या ३०० श्लोक है। ६ वर्ष के बालकों को यह पुस्तक पढ़ाई जाती थी और ६ मास में इसे वे समाप्त कर लेते थे। महेश्वरदेव ने सर्वप्रथम इसे प्रचारित किया था। इस वर्णन के आधार पर मैक्समूलर ने (दे० Indian Antiquary, भाग ९ पृष्ठ ३०५) इस पुस्तक का महेश्वरकृत चतुर्दश सूत्रों से तादात्म्य बताया। किंतु ३०० श्लोक और १०,००० अक्षर-संख्या को ध्यान में रखते हुए मैक्समूलर ने यह भी कहा कि उस समय चतुर्दश सूत्रों के अतिरिक्त इस ग्रंथ में और भी अनेक बातें थीं। कीलहार्न को (दे० Indian Antiquary, भाग १२, पृष्ठ २२६) यह मत मान्य नहीं हुआ और उन्होंने कहा कि क्षेमेंद्रशर्मन् के 'मातृकाविवेक' ग्रंथ के समान कोई ऐसा लिपिग्रंथ यहाँ अभिप्रेत है, जिसमें असंयुक्त और संयुक्त अक्षर, उनका उच्चारण-स्थान आदि का सम्यक् निरूपण

किया गया हो। उसे 'सिद्धिरस्तु' कहने का तात्पर्य यह है कि ग्रंथारंभ में 'श्रीगणेशाय नमः' की तरह मंगलार्थ 'सिद्धिरस्तु' लिखा रहा होगा। बाद में मैक्समूलर ने भी (दे० India—what it can teach us: १८१८ पृ० २११) यही मत मान लिया। बूलर (दे० On the origin of Indian Alphabet: पृष्ठ ३० और १२२) की भी यही राय है। परंतु ईत्सिंग के यात्राविवरण ग्रंथ के अँगरेजी अनुवादक तकाकुसु को अब भी संदेह है कि शायद शिवसूत्रों की ही ओर निर्देश किया गया है।

परंतु तकाकुसु (Takakusn) का यह अंदाज ठीक नहीं है। क्योंकि शिवसूत्रों का आरंभ 'सिद्धिरस्तु' से नहीं है। उनमें १८ भाग नहीं हैं, केवल १४ सूत्र हैं; और अक्षर-संख्या १०,००० न होकर केवल ४२ है। शिवसूत्रों के पढ़ने में ६ मास का समय आवश्यक नहीं है। अतः यह संभव ही नहीं है कि ईत्सिंग ने शिवसूत्रों को लक्ष्य कर उपर्युक्त बातें कही हों। अस्तु, इस विषय में मतभेद का अंत यहीं नहीं है। मैसूर के विद्वान् ए० वेंकटसुबैया ने (दे० Journal of Oriental Research, Madras: भाग १०, पृष्ठ ११) एक तीसरे ही मत का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि ईत्सिंग द्वारा निर्दिष्ट प्रथम व्याकरण ग्रंथ शर्ववर्मन्-कृत 'कातंत्र व्याकरण' है। इस मत की सिद्धि के लिये खींचातानी कर जो प्रमाण उन्होंने दिए हैं, उनका सारांश यह है। 'कातंत्रव्याकरणोत्पत्तिप्रस्ताव' (वनमाली द्विजराज द्वारा लिखित) की आख्यायिका में लिखा है कि शर्ववर्मन ने प्रथम महादेव की आराधना की और उनकी आज्ञा से कार्त्तिकेय कुमार की उपासना की। उपासना सफल होने पर शर्ववर्मन् ने कुमार के वाहन मयूर के कलाप (पंख) से व्याकरण का संग्रह किया। अतः इस व्याकरण का नाम 'कुमारव्याकरण' या 'कलापव्याकरण' पड़ा। यद्यपि यह व्याकरण साक्षात् महेश्वर-वर-लब्ध नहीं है, तथापि महेश्वर की आज्ञा से की गई कार्त्तिकेय की उपासना द्वारा प्राप्त होने से इसे महेश्वर-वर-प्रदत्त मानने में कोई हर्ज नहीं है। अतः ईत्सिंग के यह कहने से

कि महेश्वर ने इसे सर्वप्रथम प्रचारित किया, कोई विरोध नहीं है। अथवा ग्रंथकार शर्ववर्मन् के नामैकदेश 'शर्व' पद के महेश्वर-पर्यायवाची होने के कारण ईत्सिंग ने भ्रांतिवश महेश्वर या शिव का उल्लेख किया है। वर्तमान उपलब्ध 'कातंत्रव्याकरण' में १८ प्रकरण नहीं, बल्कि २५ (दे० Bibliothica Indica edition) या २८ (दे० Systems of Sanskrit Grammar by Belvelkar, पृष्ठ ८३) प्रकरण हैं। इस वैषम्य का निराकरण करने के लिये वेंकट सुबैयाजी का कहना है कि सरल रीति से व्याकरण पढ़ाने के लिये कातंत्र व्याकरण की निर्मिति होने के कारण जिन विषयों का (जैसे कृत्, तद्धित आदि) इसके मौलिक रूप में समावेश नहीं था, उन्हें परकालीन लेखकों ने उसमें जोड़ दिया है। जर्मन् विद्वान् लीबिख (Liebich) के मतानुसार कातंत्र व्याकरण के मौलिक रूप में केवल १७ प्रकरण थे। अतः ईत्सिंग द्वारा इस ग्रंथ में १८ प्रकरणों का निर्देश केवल यह सूचित करता है कि उसके काल में १८ प्रकरण इस ग्रंथ में पाए जाते थे। ३०० श्लोक-संख्या या १०,००० अक्षर-संख्या के संबंध में वेंकटसुबैयाजी का कहना है कि मौलिक १७ प्रकरणों में ७७५ सूत्र हैं, तो १८ प्रकरणों में मामूली तौर पर ८२० सूत्र होने चाहिए। लगभग ४००० सूत्रों की पाणिनीय अष्टाध्यायी की श्लोक-संख्या ईत्सिंग और यूएन चांग दोनों के मतानुसार १००० है। इस हिसाब से कातंत्र व्याकरण के ८२० सूत्रों के २०५ श्लोक होने चाहिएँ। किंतु कातंत्रकार की विषय-प्रतिपादन-शैली विशद और स्पष्टतर होने से ८२० सूत्रों में ही ३०० श्लोक हो गए होंगे। कातंत्र व्याकरण का आरंभ 'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' से हुआ है, इसी कारण ईत्सिंग ने इसका नाम 'सि-तन्-चांग' या 'सिद्ध-ग्रंथ' दिया है।

परंतु वेंकटसुबैया के उपर्युक्त मत के मानने में कई कठिनाइयाँ हैं। सर्वप्रथम आक्षेप तो यह है कि ६ वर्ष की अवस्था के बालक को कातंत्र व्याकरण का ग्रंथ पढ़ने के लिये दिया जाना असंभव प्रतीत

होता है और १८ प्रकरणों के ग्रंथ को ६ मास में समाप्त करना तो नितांत असंभव है। ५-७ वर्ष के बालक को १-२ वर्ष तो वर्णमाला से सम्यक् परिचय प्राप्त करने में ही लग जाता है, और तब भी संयुक्ताक्षर के क्लिष्ट संस्कृत शब्द उसकी समझ के बाहर रहते हैं। इस अवस्था में यह कैसे विश्वास किया जा सकता है कि ६ वर्ष के अबोध बालक ६ मास के भीतर ही कातंत्र व्याकरण ऐसे सूत्र-शैली में लिखे व्याकरण ग्रंथ को समाप्त कर लेते थे। यह हम मानते हैं कि बालकों के लिये नियमों का समझना आवश्यक नहीं था, केवल शब्दों का रटना ही पर्याप्त था। लेकिन शब्द रटने के लिये भी संस्कृत की संयुक्ताक्षर और असंयुक्ताक्षर वाली वर्णमाला से परिचय तो होना चाहिए। वेंकटसुबैयाजी का यह भी कहना है कि 'सभी छात्र ऊपर लिखे हुए पाँचों व्याकरण-ग्रंथों को नहीं पढ़ते थे, बल्कि प्रथम ग्रंथ पढ़कर अध्यात्मविद्या, हेतुविद्या, चिकित्साविद्या आदि भिन्न भिन्न विद्याएँ पढ़ना आरंभ कर देते थे। अवशिष्ट ४ ग्रंथ वही छात्र पढ़ते थे, जिन्हें शब्दविद्या में विशेष ज्ञान संपादन करना होता था। संस्कृत वाङ्मय की कठिनता पर ध्यान देते हुए यह असंभव प्रतीत होता है कि उस युग में भी (जब संस्कृत का विशेष प्रचार था) ६ वर्ष के बालक ६ मास में ही वर्णमाला, व्याकरण' आदि पढ़कर अध्यात्मादि विद्याओं के अध्ययन के लिये योग्य बन जाते थे। फिर हमें यह भी देखना है कि ईत्सिंग द्वारा निर्दिष्ट पाठ्यक्रम के अनुसार 'सिद्ध-ग्रंथ' का ६ मास तक अभ्यास करने के बाद पाणिनि-सूत्र, धातु-पाठ, शब्दरूपावली, धातुरूपावली और कृदंत-तद्धित रूप मुखाग्र किए जाते थे। तदनंतर ५ वर्ष में काशिका वृत्ति पढ़ी जाती थी। तब कहीं व्याकरण का पर्याप्त ज्ञान होता था। यही परंपरा प्राचीन परंपरा से व्याकरण पढ़नेवाले कुटुंबों में आज तक पाई जाती है। केवल भेद यह है कि शब्दरूपावली, धातुरूपावली, समासचक्र और अष्टाध्यायी मुखाग्र करने के बाद काशिका वृत्ति के स्थान में आजकल सिद्धांतकौमुदी पढ़ी जाती है। शास्त्र-विशेष का अध्ययन उस समय भी काशिका-

वृत्ति पढ़ने के बाद ही किया जाता रहा होगा, जैसे आजकल सिद्धांत-कौमुदी पढ़ने के बाद ही वेदांत, न्याय, साहित्य आदि विशिष्ट विषय पढ़े जाते हैं। व्याकरण का विशेष अध्ययन करनेवाले छात्र आजकल की तरह उस समय भी पातंजल महाभाष्य आदि टीकाग्रंथों का अध्ययन करते थे। काशिकावृत्ति तक व्याकरण पढ़ना तो सबके लिये अनिवार्य था। पूर्व परंपरा के अनुयायी भारतवर्ष में आज की प्रचलित व्याकरणाध्ययन-प्रणाली से ईत्सिंगकालीन प्रणाली का सहज अनुमान किया जा सकता है। अतः यह निश्चय है कि ईत्सिंग-निर्दिष्ट प्रथम व्याकरणग्रंथ से उसका तात्पर्य 'लिपिमातृका', वर्णमाला ग्रंथ या अ-आ-इ-ई-उ-ऊ पुस्तक से है। 'लिपिमातृका' का व्याकरणग्रंथों में सर्वप्रथम उल्लेख असंगत नहीं है, जैसा कि वेंकटसुबैया जी समझते हैं; क्योंकि संस्कृत व्याकरण के प्रारंभिक शिक्षण में वर्णमाला का निर्देश आवश्यक है। क्या प्राचीन क्या नवीन, सभी छात्रोपयोगी व्याकरण ग्रंथों में सर्वप्रथम वर्णमाला दी जाती है। दूसरी बात यह है कि ईत्सिंग ने प्रारंभिक शिक्षोपयोगी पाठ्यक्रम का विवरण देते समय इस ग्रंथ का नाम लिया है। अतः यह निर्देश वर्णमालाग्रंथ के लिये होना चाहिए। अन्यथा ईत्सिंग यह लिखते कि वर्णमाला सीखने के बाद 'सिद्ध-ग्रंथ' (अर्थात् 'कातंत्र व्याकरण') पढ़ाया जाता था। हमें यह भी समझना चाहिए कि ईत्सिंग ने 'व्याकरण' पद का अर्थ भारतवर्ष का साधारण लौकिक शास्त्र किया है और बालकों की प्रारंभिक शिक्षा का यहाँ उल्लेख किया है। यह तो स्पष्ट ही है कि भारतवर्ष की प्राचीन परिपाटी में व्याकरण सर्वप्रथम पढ़ाया जाता है।

ईत्सिंग ने 'वर्णमातृका' ग्रंथ को महेश्वर-प्रचारित क्यों कहा? इसका कारण यह है कि प्रचलित व्याकरण परंपरा में सर्वप्रथम उपलब्ध शिवसूत्रों में दी गई वर्णमाला महेश्वर-कृत मानी जाती है। अतः ईत्सिंग ने स्वकालीन वर्णमालाग्रंथ के प्रचारक के रूप में महेश्वर का उल्लेख किया है। वेंकटसुबैया का यह कहना भी कि 'भारतीय

वर्णमाला परंपरा से ब्रह्मदेव-निर्मित (ब्राह्मी) मानी जाती है, अतः उसे महेश्वर-प्रचारित मानना उचित नहीं है', युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि भारतीय लिपि के ब्रह्मदेव प्रचारक माने जाते हैं, वर्णमाला के नहीं। लिपि अर्थात् लेखनकला और वर्णमाला का वर्गीकरण, ये दो भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं। भारतीय परंपरा में एक के प्रचारक ब्रह्मदेव और दूसरी के महेश्वर माने गए हैं। अतः वर्णमाला ग्रंथ के प्रचारक के रूप में ईत्सिंग द्वारा महेश्वर का उल्लेख असंगत नहीं है।

अब हम संक्षेप में इस ग्रंथ के ३०० श्लोक या १०,८०० अक्षर-संख्या के संबंध में विचार करेंगे। प्रथम ज्ञातव्य तो यह है कि ये संख्याएँ निश्चित परिमाण नहीं बतातीं। ईत्सिंग ने स्वयं लिखा है कि श्लोकों का परिमाण एक सा नहीं है, कई छोटे कई बड़े हैं; अतः एकदम निश्चित परिमाण बताना असंभव है। ईत्सिंग द्वारा प्रयुक्त शब्द 'सि-तन्-चांग' का संशोधकों ने अनुवाद किया है 'सिद्ध रचना'। यून चांग ने 'शी-एर्ह्-चांग' शब्द का प्रयोग इसी संबंध में किया है, जिसका अनुवाद विद्वानों ने 'द्वादश भाग' किया है। सर्वसम्मति से 'द्वादश भाग' का अर्थ द्वादशाक्षरी या बारहखड़ी (क का कि की कु कू के कै को कौ कं कः; ख खा खि खी......आदि) है, जो यून चांग के अनुसार बालकों को सर्वप्रथम सिखाई जाती थी। 'शी-एर्ह्-चांग' का दूसरा नाम 'सिद्धिरस्तु' या 'सिद्धवस्तु' ईत्सिंग ने दिया है। बील (Beal) ने यून चांग के ग्रंथ के अँगरेजी अनुवाद में शी-एर्ह्-चांग को सिद्धवस्तु भी कहा है। इससे स्पष्ट है कि ईत्सिंग का सि-तन्-चांग शब्द (जिसका पर्यायवाची शब्द सिद्धिरस्तु या सिद्धवस्तु है) यून चांग के शी-एर्ह्-चांग (बारहखड़ी) से भिन्न नहीं है। अर्थात् ईत्सिंग-निर्दिष्ट प्रथम व्याकरणग्रंथ द्वादशाक्षरी के समान कोई ग्रंथ होना चाहिए। तकाकुसु (ईत्सिंग के अँगरेजी अनुवादक) ने पादटिप्पणी (पृ० १७०) में लिखा है कि सिद्धिरस्तु नामक वर्णमाला ग्रंथ अब चीन देश में नहीं मिलता है, किंतु जापान में अब तक इसका प्रचार है। वाटर्स (Watters) का कहना है कि चीन के वाङ्मय में बालकों की प्राइमरी पुस्तक

के लिये सि-तन्-चांग या 'सिद्ध चांग' शब्द का प्रयोग पाया जाता है; क्योंकि उसका प्रारंभ 'सिद्ध' शब्द से होता है। आज भी भारतवर्ष में बालकों को अक्षरारंभ कराते समय पहले उनसे 'ओं नमः सिद्धम्' (हँसी में 'ओना मासी धम्') कहलाया जाता है, कहीं कहीं 'श्रीगणेशाय नमः' कहलाते हैं। सन् १५६६ में लिखित 'सिद्ध के १८ प्रकरण' नामक एक जापानी पुस्तक आक्सफोर्ड पुस्तकालय में अभी तक सुरक्षित है। इससे भी पहले का (अर्थात् सन् ८८० में लिखित) एक अन्य जापानी ग्रंथ 'सिद्धपिटक' या 'सिद्ध-कोश' अब भी समुपलब्ध है। इस पुस्तक की आठवीं जिल्द में सिद्ध के १८ खंडों का निरूपण है। प्रारंभ में 'ओं नमः सर्वज्ञाय', फिर 'सिद्धम्', तदनंतर १६ स्वर और ३५ व्यंजन, इसके बाद क ख ग..., क्य ख्य ग्य..., क्र ख्र ग्र... आदि से लेकर क्व ख्व ग्ग घ्घ... तक १८ खंडों में रूप दिखाए गए हैं। इस पुस्तक के अनुसार इसमें १६५५० और तकाकुसु की गणना के अनुसार ६६१३ अक्षर हैं। संयुक्त अक्षरों में से अनुपयुक्तों और अप्रचलितों को निकाल देने से और प्रयुक्तों को सम्मिलित कर देने से अक्षरों की संख्या १०,००० और श्लोकों की संख्या ३०० संभव है। अतः ईत्सिंग के 'सिद्ध चांग' पद से यदि हम उपरिनिर्दिष्ट जापानी पुस्तक के समान 'वर्णमालापुस्तक' का अर्थ लगाएँ तो कोई असंगति नहीं है। ६ वर्ष के बालक के लिये संस्कृत की क्लिष्ट वर्णमाला सीखने में ६ मास का समय लगना ठीक ही है। उर्दू की पाठशालाओं में अब भी अलिफ बे जबर अब, अलिफ बे जेर इब, अलिफ बे पेश उब आदि रटने में कई मास बीत जाते हैं। फिर संस्कृत के स्वर, व्यंजन तथा संयुक्ताक्षरों के रूप उच्चारण करने, रटने, लिखने और पहिचानने में ६ मास का समय लगना ही चाहिए।

एक अन्य आक्षेप का उल्लेख कर हम इस विषय को समाप्त करेंगे। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इसी तरह से प्रथम व्याकरण-ग्रंथ के संबंध में यून चांग ने (सन् ६३५ ई०) १२ प्रकरण का उल्लेख किया है, किंतु लगभग ५० वर्ष के अनंतर ईत्सिंग (सन् ६८५ ई०)

उसी ग्रंथ के १८ प्रकरण का निर्देश करता है। अर्थात् ५० वर्ष में ही वेंकटसुबैया के मतानुसार ६ प्रकरण और जोड़ दिए गए थे। वेंकट सुबैया कहते हैं कि इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि दुर्गसिंह की वृत्ति नामक (कातंत्र व्याकरण की) टीका की रचना के समय (सन् ८०० ई०) तक कातंत्र व्याकरण में प्रकरणों की संख्या २५ तक पहुँच गई थी। किंतु प्रश्न तो यह है कि उन्हीं के कथनानुसार यदि हम मान भी लें कि यून चांग के समय में कातंत्र व्याकरण में १२ प्रकरण थे, तो लीबिख (Liebich) द्वारा संपादित कातंत्र व्याकरण के मौलिक रूप में (जिसका रचनाकाल ई० सन् की प्रथम शताब्दी माना जाता है) उपलब्ध १७ प्रकरणों के अस्तित्व को ठीक मानने के लिये उलटी गंगा बहानी पड़ेगी, अर्थात् मौलिक १७ प्रकरणों के १२ प्रकरण हुए और फिर ईत्सिंग के समय में १८ प्रकरण हो गए। सच बात तो यह है कि ईत्सिंग द्वारा निर्दिष्ट प्रथम व्याकरणग्रंथ का तात्पर्य 'कातंत्र-व्याकरण' होना संभव ही नहीं है। वेंकटसुबैया जी का इस दिशा में प्रयत्न विफल है। सारांश यह है कि ईत्सिंग-निर्दिष्ट प्रथम व्याकरण ग्रंथ 'सि-तन्-चांग' तत्कालीन 'वर्णमालापुस्तक' को सूचित करता है।

बिहारी-सतसई के टीकाकार मानसिंह कवि कौन थे ?

[लेखक—श्री अगरचंद नाहटा]

बिहारी-सतसई के टीकाकार और 'राजविलास' के रचयिता कवि मानसिंह साहित्य-संसार में विख्यात हैं, पर ये कौन थे इस विषय में निश्चित रूप से अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं है। श्री मोतीलाल मेनारिया लिखित 'राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा' के पृष्ठ १०७ में लिखा है कि "कुछ लोग इन्हें जाति के भाट और कुछ जैन यति बतलाते हैं। पर यह सब अनुमान ही अनुमान है। हाँ, इतना अवश्य निश्चित है कि ये राजस्थान के कवि थे, मेवाड़ के महाराणा राजसिंह के समकालीन थे और इन्होंने राजविलास नामक एक काव्य-ग्रंथ बनाया था, जिसकी समाप्ति वि० सं० १७३०* में हुई थी। पर इससे आगे जो कुछ भी इनके संबंध में कहा जाता है वह सब निराधार है।"

यद्यपि राजविलास में कवि ने अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया है, पर बिहारी-सतसई की टीका की पुष्पिका में उनके संबंध में एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। वह इस प्रकार है:

इति श्री बिहारीदासकृत सतसई दोहरा—संपूर्ण सतसही री टीका कृत **विजैगछे** कवि मानसिंह जू टीका कीनी उदयपुर मध्ये ग्रंथाग्रंथ ४५०५ इति संख्या संपूर्णः शुभं भवतु ॥ श्री श्री संवत् १७७२ वर्षे वैशाख वदि कृष्णपक्षे द्वितीयायां लिखतं प्रतापविजयलिखीकृतं ॥ अजमेर मध्येः ॥ श्री स्तु ॥ श्री ॥

—नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, सं० १९८५, पृ० १०२।

---

* पता नहीं संवत् लिखने में मेनारिया जी से यह गलती कैसे की। ग्रंथ का आरंभ सं० १७३४ में स्वयं ग्रंथकार ने लिखा है। समाप्ति तो सं० १७३७।३८ में होना प्रमाणित है।

बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने उपर्युक्त प्रशस्ति में 'विजैगछे' शब्द से 'उदयपुर के निकट विजयगच्छ ग्राम के रहनेवाले मानसिंह' लिखा है अर्थात् विजयगच्छ से विजयगच्छ नाम का ग्राम होने की कल्पना की है। 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' ग्रंथ के पृष्ठ १२१ में भी "मानसिंह विजयगच्छ के निवासी, जैनमतावलंबी थे*। इन्होंने ग्रंथ उदयपुर में लिखा था। बिहारीसतसई सटीक दे० पृष्ठ ७५" लिखकर विजयगच्छ के किसी ग्राम के नाम होने की कल्पना की गई है। यह कल्पना सर्वथा भ्रम-पूर्ण है।

विजयगच्छ कोई गाँव नहीं, श्वेतांबर जैन समाज का एक सुप्रसिद्ध गच्छ (समुदाय) है। इस गच्छ के श्री पूज्य श्री जिन सुमति सागर सूरि अभी भी कोटे में विद्यमान हैं। वहाँ विजयगच्छ का एक उपाश्रय है जिसमें हस्तलिखित ग्रंथों का अच्छा संग्रह है।

सं० १६२९ में तपागच्छीय धर्मसागर-रचित 'प्रवचन-परीक्षा' ग्रंथ में इस गच्छ-मत का खंडन करते हुए इसकी उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई गई है :

मूल—विक्कम-काले सत्तरि-अहिय-पन्नरस-सय-वरिसे।

व्याख्या—विक्रमकालात् सप्तत्यधिक-पंचदश-शत संवत्सरे (१५७०) वर्षे जातमिति गाथार्थः॥ १॥

मूल—लुंपगमय वेसहरो, तनओ नामेण आसित तस्सीसो बीजक्खो—तेण वि अंगी कया पडिमा।

अर्थात्—लुंगक मत के तनय (?) के बीजा नामक शिष्य थे; उन्होंने प्रतिमा-पूजन स्वीकार किया। इनसे बीजा मत की उत्पत्ति सं० १५७० में हुई।

तपागच्छ के सुप्रसिद्ध आचार्य आत्मारामजी (विजयानंदसूरि) ने अपने 'जैन-तत्त्वादर्श' ग्रंथ में भी यही लिखा है :

संवत् १५७० में लुंकामत से निकल कर बीजा नामक वेषधारी ने बीजामत चलाया जिसको लोक विजयगच्छ कहते हैं।

---

* पता नहीं यह बात (यद्यपि ठीक है) किस आधार पर लिखी गई है। संभव है, उस प्रति में इसकी कुछ सूचना हो।

इस विजय-गच्छ में कई विद्वान् एवं कवि* भी हो गए हैं। सं० १६८३ में केशराज द्वारा रचित 'श्रीरामयशो रसायन रास, आनंद काव्य महोदधि, मौक्तिक द्वितीय' के रूप में प्रकाशित भी हो चुका है। उसमें भी लिखा है:

> विजयगच्छ गच्छनायक गिरि वो गोयमनो अवतार।
> विजयवंत विजय ऋषिराजा कीधो धर्म उधार॥

उपर्युक्त प्रमाणों से यह निर्विवाद सिद्ध है कि विजयगच्छ किसी ग्राम का नाम नहीं, श्वेतांबर जैन समाज के एक गच्छ का नाम है। अतएव कवि मानसिंह जैन यति था, भाट नहीं था, यह भी स्वत: प्रमाणित हो जाता है।

'राजविलास' में कर्त्ता ने अपना नाम 'मान' दिया है, पर बिहारी-सतसई की टीका में लेखन-प्रशस्ति में नाम मानसिंह है। इससे दोनों व्यक्ति भिन्न भिन्न हैं, ऐसा प्रश्न भी उठ सकता है। पर मानसिंह नाम के और भी कई जैन ग्रंथकार हुए हैं जिन्होंने अपने ग्रंथ में कहीं 'मान' और कहीं 'मानसिंह' इस प्रकार अपने नाम का उल्लेख किया है। जैसे खरतरगच्छीय शिवनिधान शि० मानसिंह ने अपने

* मनोहरदास—यशोधर चौपाई सं० १६७६, आ० व० ६ गु० दशपुर; गुणसागरसूरि—ढालसागर सं० १६७६, आ० सु० ३ सो० कुकुटेश्वर; रायचंद—विजयसेठ विजयसतीरास सं० १६८२ का० सु० ५ गु० सोफरगढ़; तिलक सूरि—बुद्धिसेन चौ० १७८५ का० सु० १२ गु० जगरोहा; उदयसागरसूरि—मगसीपार्श्वस्तवन।

—जै० गु० क०, भा० १-२।

इस गच्छ के आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमाओं के अनेकों लेख जैन-लेख-संग्रह आदि ग्रंथों में प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें से एक लेख ऋषभ बिंब केसरियानाथ जी उदयपुर में विद्यमान है जो कि सं० १७३२ वै० सु० ५ को राजसिंह जी के राज्य में प्रतिष्ठित किया गया था। इससे इस गच्छवालों का उदयपुर के श्रावकों से भी विशेष संबंध प्रतीत होता है।

'मेतार्य चौपाई' की प्रशस्ति में अपना नाम 'मान' दिया है और उसी सं० १६७० में रचित 'क्षुल्लककुमार चौपाई' की प्रशस्ति में मानसिंह लिखा है।

महाराणा राजसिंह का मंत्री दयालदास भी विजय-गच्छ का अनुयायी था। उसके मंदिर की प्रतिष्ठा भी विजयगच्छीय विनय-सागर सूरि ने की थी। इस प्रकार मंत्री के गुरु के नाते महाराणा से विजयगच्छीय यतियों का संबंध होना संभव है। 'राजविलास' भी इसी विजयगच्छ के 'मान' यति का बनाया हुआ है। इस कथन की पुष्टि कवि के राजकीय संबंध से भी हो जाती है।

'वीर दयालदास' नामक ऐतिहासिक नवल-कथा (उपन्यास) में श्री नागकुमार मकाती बी० ए०, एल-एल० बी० ने मान यति के नाम के फरमान पत्र की नकल दी है, जिसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

सं० १७४९ माह सुदि ५ को (राजसिंह के पुत्र) महाराणा जयसिंह ने एक फरमान मान यति को दिया जिसमें—

(१) जैन मंदिर एवं उपाश्रय की हद में कोई वध नहीं कर सकेगा।

(२) उन स्थानों में जिन जीवों को मारने के लिये ले जाया जायगा वे जीव अमर समझे जाएँगे।

(३) राज्यद्रोही, लुटेरे आदि कैदी भी यदि जैन यतियों के उपाश्रय में शरण लें लें तो उन्हें राज्य के अनुचर पकड़कर नहीं ला सकेंगे।

(४) धान्यपाक में से १ कुड़छी धान, किरियाणे में से एक मुट्ठी, दी जायगी। दान की हुई भूमि, अनेक नगरों में उनके बँधाए हुए स्थान, उपाश्रय आदि की रक्षा की जायगी।

(५) मान ऋषि को १५ बीघा बागायत जमीन और २५ बीघा नीम्बहर के प्रत्येक परगने में दी जाती है। तीनों परगनों में कुल ४५ बीघा बागायत और ७५ बीघा अन्य जमीन दी जाती है।

(६) यति को कोई हैरान न करे, उनके हकों की रक्षा करे। उनके हकों को नष्ट करे तो हिंदू को गाय और मुसलमान को सुअर की कसम है।

इस फरमान की प्रामाणिकता के संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। फिर भी इतना निस्संदिग्ध है कि विजय-गच्छीय यति मानसिंह का उदयपुर राज्य से संबंध था और 'राजविलास' उसी की रचना है। श्रद्धेय ओझाजी से ज्ञात हुआ है कि कविराजा बाँकीदास ने अपनी ऐतिहासिक बातों में बात संख्या २७ में लिखा है कि महाराणा राजसिंह का रूपक 'मान जी यति' ने बनाया।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि बिहारी-सतसई की टीका और 'राजविलास' दोनों ग्रंथ विजयगच्छीय जैन यति मान कवि के ही रचित हैं।

———

कुछ हिंदी शब्दों की निरुक्ति

[लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०]

हिंदी भाषा का निरुक्त बहुत व्यापक है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा द्राविड़ी भाषाओं के अतिरिक्त फारसी, अरबी, तुर्की, चीनी आदि भाषाओं से भी हिंदी में शब्द लिए गए हैं। उन शब्दों का मूल स्रोत ढूँढ़कर स्थिर करना भाषाशास्त्रियों का आवश्यक कर्तव्य है। हिंदी में वह समय आ गया है जब एक या अधिक विद्वान् अँगरेजी में स्कीट के निरुक्तकोष (Etymological Dictionary) की तरह 'हिंदी शब्द व्युत्पत्ति कोष' की रचना की ओर ध्यान दें। अपने अन्य अध्ययन के सिलसिले में हिंदी के कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति का जो संग्रह मैंने किया है उसे पाठकों की जानकारी के लिये नीचे लिखता हूँ—

१. लगलग—तुर्की भाषा का शब्द। अन्य रूप, लकलक, लक्लक् (अरबी), लैलक। सारस पक्षी; अतएव दुबले-पतले व्यक्ति के लिये हिंदी में व्यंग से कहते हैं—'बड़े लगलग बने हुए हैं।' फारस में इस चिड़िया को हाजी लगलग भी कहते हैं। उनका विश्वास है कि जाड़ों में यह हर साल मक्का को हज करने चली जाती है।

२. लफंगा—शोहदा, आवारा (हिंदी)। तुर्की भाषा में एक चिड़िया का नाम लपंग या लफंग। यह गिद्ध से मिलती है, पर उससे छोटी होती है, पूँछ की जड़ सफेद रंग की होती है। शिकार के लिये यह बिलकुल निकम्मी और ढिलुआ समझी जाती है, वैसे भी बड़ी बुद्धू चिड़िया है। इसी से लफंगा शब्द है।

३. चुगद—फारसी में उल्लू के लिये आता है। पर संभवत: इसका मूल तुर्की शब्द 'चुगंद्दीक' है जो एक चिड़िया का नाम है।

४. चील—कोषों के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत चिल्ल से कही जाती है। अमरकोष में 'चिल्ल' शब्द मिलता है। तुर्की भाषा में भी चील शब्द है। संभव है कि गुप्तकाल से पहले यह शब्द तुर्की से संस्कृत में अपना लिया गया हो, शकों के द्वारा यह यहाँ लाया गया हो।

५. हुदहुद—एक चिड़िया (तुर्की शब्द)।

६. बुलबुल—मशहूर चिड़िया (तुर्की भाषा का शब्द)। हिंदी में यह फारसी या अरबी के जरिये आया है।

७. मैना—इस पक्षी के लिये संस्कृत शब्द सारिका है। हिंदी-शब्दसागर में मैना की व्युत्पत्ति मदना या मदनशलाका से दी है। चीनी भाषा में भी मयना एक पक्षी का नाम है। संभव है, चीनी तुर्किस्तान के रास्ते यह शब्द यहाँ आया हो।

ऊपर लिखी व्युत्पत्तियाँ निम्नलिखित पुस्तक से ली गई हैं, जिसमें कई सौ चिड़ियों के नाम तुर्की, मंचू और चीनी भाषा में साथ साथ दिये हुए हैं—Polyglot List of Birds in Turki, Manchu and chinese: Memoir of the Asiatic Society of Bengal.

अब कुछ शब्दों की सूची दी जाती है जो कि तुर्की से फारसी के जरिये हिंदी में अपना लिए गए हैं [देखिए जर्नल आफ दी अमरीकन ओरिएंटल सोसाइटी, जिल्द ५१, Turkish Elements in Serbo-croatian]:—

खोर—जानवरों के चारा खाने की जगह।

माल—धन, जायदाद (तुर्की माल)।

किला, दावा, जेब, हकीम, हलवा, दफ्तर, दर्द, जवाब, जुर्राब, मुहर, असली, ये तुर्की शब्द हैं। इसी तरह जिगर, किराया, हिसाब, कबूल, तमाम ये भी मूल में तुर्की भाषा के शब्द थे। तुर्की हिसाबिति =गिनता है; कबूलिति=लेता है, वसूल करता है; तमामिति= तरतीब से लगाता है।

तोप, दलाल, दरजी, नुसादर, विलायत, सिपाही, सईस, सराय, संदूक, सहन, रईस, मीनार, मदरसा, कंतर (=तराजू या तोलने का काँटा), हैवान, हम्माम, दुकान, दीवान (=पलंग), बारूद, चंगुल (=आँकुड़ा या हुक), कबाब भी तुर्की शब्द हैं।

बक्काल का अर्थ तुर्की में पंसारी है। बनिया-बक्काल हिंदी में परचून की दुकान रखनेवालों के लिये आता है जो ज्यादातर बनिए ही होते हैं।

दिल्ली-मेरठ की बोली में बूदल शब्द भोंदू या पोंगा के लिये आता है। यह भी तुर्की शब्द है।

पहलवान शब्द का इतिहास अत्यंत रोचक है। प्राचीन ईरान में पहलवान् का अर्थ था सरदार या राजा। सासानी वंश (तीसरी शताब्दी ई० से पाँचवीं तक) के समय ईरान की भाषा पहलवी थी। राज्य के संगठन में मुख्य मुख्य 'पहलवानों' या सरदारों का बड़ा हाथ था। हिंदी का पहलवान शब्द भी अर्थों के फेर फार से उसी प्राचीन पहलवान शब्द का स्मारक है।

मुसलमानों में फीरनी एक प्रकार की खीर है जो दूध में चावल का बारीक आटा पकाकर बनाई जाती है। तुर्की भाषा में पिरिंज चावल को कहते हैं। चावल के आटे से बनने के कारण यह खीर फिरनी या फीरनी कहलाती है।

भारतवर्ष में सदियों तक तुर्कों ने दिल्ली के तख्त से राज्य किया। वे धर्म से मुसलमान थे। फारसी उनकी राजभाषा थी और अरबी धर्मभाषा। यह स्वाभाविक है कि उनकी फारसी में हजारों तुर्की शब्द घुल-मिल गए और फिर फारसी के जरिये हिंदी में अपना लिए गए। हिंदी के शब्दकोष में यह कोशिश होनी चाहिए कि हम हर एक शब्द के ठेठ स्रोत को ढूँढ़ निकालें। हमको इतने से संतोष न कर लेना चाहिए कि अमुक शब्द फारसी से या अरबी से आया है। देखना यह चाहिए कि फारसी में वह शब्द प्राचीन ईरान की पहलवी भाषा का है या उसमें भी किसी दूसरी जगह से ले लिया गया है।

मध्यकालीन फारसी भाषा एक अजीब खिचड़ी बन गई थी। उसमें अरबी के शब्दों का बोलबाला था। अरबी से लदी हुई फारसी में उसका अपना मजा न था। इसी लिये फिरदौसी ने शाहनामे में वह फारसी लिखी जिसमें अरबी के पंजे से फारसी की गर्दन छुड़ाने की कोशिश की गई। यानी शाहनामे की भाषा ठेठ फारसी थी, उसमें अरबी का दखल न था। आज रजा शाह पहलवी ने अपनी प्राचीन पहलव-भक्ति के कारण फारस का नाम बदलकर ईरान (जो ऐरायण या आर्यायण का

रूप है) रख दिया है, और जो भाषा का संस्कार उनकी प्रेरणा से ईरान में हो रहा है उसकी तरफ तो हिंदी साहित्यिकों को खास तौर पर ध्यान देना चाहिए। वर्तमान काल की शुद्ध ईरानी भाषा में फिरदौसी को राष्ट्रीय कवि घोषित किया गया है, और फिरदौसी के शाहनामे की फारसी ईरान की आदर्श साहित्यिक भाषा मानी गई है। इन परिवर्तनों के मूल में राष्ट्रीय भावना की लहर काम कर रही है। पर साहित्य की दृष्टि से हमारे लिये काम की बात यह है कि फारसी और हिंदी के बीच में भाषाशास्त्र की दृष्टि से जो सगोतेपन का नाता है उसको इस वक्त साफ साफ पहचानकर उसका प्रचार करें और दोनों भाषाओं में जो कई हजार समान शब्द हैं उनकी तरफ जनता का ध्यान दिलावें।

उदाहरण के लिये 'बुज़ुर्ग' शब्द लीजिए। इसे फारसी का शब्द कहकर हम पराया समझ लेते हैं और कुछ लोग तो इसकी तरफ से नाक-भौं भी सिकोड़ने लगते हैं। असल में बुज़ुर्ग शब्द की आयु बहुत पुरानी है। फारस में सासानी राजाओं के सिक्कों पर 'वुज़र्क' या 'वुज्रक' उपाधि मिलती है; इसका अर्थ था महान। पहलवी भाषा में भी यह शब्द और पुराने वक्त से आया हुआ था। ईस्वी पूर्व छठी सदी में हखामनी वंश के सम्राट् दारा के लेखों में जो विरुद आए हैं उनमें उसने अपने आपको 'वज़र्क' कहा है। यह वज़र्क वैदिक वज्रक शब्द का रूप है, जिसका अर्थ है शक्तिमान् या वीर्यवान्। प्राचीन ईरानी भाषा का संस्कृत भाषा से गहरा संबंध था। दारा ने अपने आपको नीचे लिखे विशेषण दिए हैं:—

अदम् दारयवउष्, ख्शायथिय वज्रक, ख्शायथिय ख्शायथिययानाम्, ख्शायथिय पारसइय्, ख्शायथिय दह्यूनाम्......।

'मैं दारा, महाराजा (वज्रक क्षत्रिय), राजातिराजा (क्षत्रियाणां क्षत्रिय), पारसियों का राजा एवं देशों का राजा हूँ'। [बहिस्तून का लेख*]

* The Inscription of Darius the Great at Behistun. Published by the Trustees of the British Museum.

फारस के शूष (Susa) नामक स्थान से मिले हुए दारा के एक दूसरे लेख में भी वज़र्क शब्द आता है—

बग वज़र्क अउरमज़्दा, ह्य इमाम् बूमिम् अदा, ह्य अवम् अस्मानम् अदा, ह्य मर्तियम् अदा, ह्य शियातिम् अदा मर्तियह्या, ह्य दारयवउम् ख्शायथियम् अकुनउष्, अइवम् परूनाम् ख्शायथियानाम्, अइवम् परूनाम् फ्रमातारम् । अदम् दारयवउष् ख्शायथिय वज़र्क ख्शायथिय ख्शायथियानाम्, ख्शायथिय दह्युनाम् विस्पज़नानाम्, ख्शायथिय अह्याया बूमिया वज़र्काया दूरैयपिय, विष्तास्पह्या पुश हखामनिशिय, पार्स पार्सह्या पुश, अरिय, अरिय चिश......[1]।

अर्थात् अहुरमज़्द महान् देव (बग=भगवान्) है, जिसने (ह्य=यः) इस भूमि को बनाया, जिसने इस आसमान को धारण किया (अधात्), जिसने मनुष्य को बनाया, जिसने मनुष्य के लिये स्वस्तिभाव बनाया, जिसने दारयवउ को राजा बनाया, बहुत से राजाओं पर अकेला, बहुतों के ऊपर अकेला स्वामी (प्रमाता) बनाया। मैं दारयवउ महाराज, राजातिराज, देशों के सब निवासियों का (विस्पज़नानाम्=विश्वजनानाम्) राजा, इस महान् भूमि का दूर तक सम्राट् हूँ। मैं हखामनि वंश (Achaemenian) के राजा विष्तास्प (Hystaspes) का पुत्र, पार्स[2], पार्स का पुत्र, आर्य एवं आर्यवंश का हूँ।

दारा आदि आर्यवंशी सम्राटों के समय की जो ईरानी भाषा है उसमें पचास फी सदी शब्द संस्कृत के हैं। उसी का विकसित रूप कालांतर में पहलवी भाषा हुई जो फारसी की जड़ है। अतएव हिंदी में अपनाए हुए फारसी शब्दों की जन्म-कुंडली का श्रीगणेश हमें दूर तक

१—Journal of the American Oriental Society, 1931: Old Persian Inscriptions by R.G. Kent, P. 221-2.

२—ईरान का एक प्रांत पार्स था जो हखामनि सम्राटों की जन्मभूमि थी। पहलव सम्राट् पार्थिया प्रांत के थे। उनके बाद सासानी वंश के सम्राट् फिर पार्स प्रांत से आए थे। इसी से कालिदास ने गुप्त काल में उन्हें पारसीक कहा है।

जाकर टटोलना होगा। सिर्फ 'फारसी' कह देने से काम न चलेगा। इसके लिये जरूरी है कि प्राचीन ईरानी और पहलवी के शब्द-कोषों का हिंदी के पुस्तकालयों में संग्रह किया जाय और भाषा-शास्त्र की दृष्टि से हिंदी के अध्यापक और विद्यार्थी उनकी छानबीन करें। इस तरह मेहनत करने से हिंदी के हजारों शब्दों की असल पहचान हमारे हाथ लग सकेगी।

यही बात अरबी के शब्दों के बारे में भी कही जा सकती है। हिंदी में कोई शब्द अरबी से लिया गया है तो सिर्फ अरबी कहकर छोड़ देने से हमें संतोष न कर लेना चाहिए। अरबी तो प्राचीन सामी भाषाओं का नवीनतम विकसित रूप है। अरबी भाषा का ठाठ या ढाँचा प्राचीन फिनिशिया (पाणी द्वीप), बेबिलन (बाविरु), इलम (Elamite या शूष) आदि की भाषाओं से अपनाया गया है। हमारे लिये यह जानना रोचक है कि हिंदी का कोई शब्द मूल में किस भाषा में और किस रूप में था, किस शब्द की क्या आयु है और क्या इतिहास रहा है। तभी हिंदी के व्युत्पत्तिशास्त्र का पेटा पूरी तरह भरा हुआ कहा जा सकता है। उदाहरण के लिये ईराक की एक नदी टाइग्रिस (Tigris) है। इसका अरबी नाम दज़ला है। यह बबेरु की भाषा से लिया गया है जिसमें इस नदी को नारु (=नदी) दिगलत कहते थे। इसी का ईरानी नाम तिग्रा था जिससे यूनानी टाइग्रिस बना है। वर्तमान दजला नाम का मूल बेबिलन की भाषा में था। अरबी के अनगिनत शब्दों का मूल प्राचीन ईराक की भाषाओं में दबा हुआ है, जहाँ से हिंदी के विद्वानों को उन्हें खोज कर निकालना चाहिए। यदि हिंदी के विद्वान् 'पाणिनि के बताए हुए मार्ग से' प्रकृति प्रत्यय की क़तर-ब्योंत करते हुए सातवीं सदी से पहले की अरबी भाषा का परदा उठा सकेंगे तो साहित्य और राष्ट्र का बहुत बड़ा हित सिद्ध होगा।

चयन

कश्मीर में लिपि-विवाद

उपर्युक्त विषय पर श्रीनगर (कश्मीर) के श्री अली मोहम्मद बूत का एक लेख ट्रिब्यून पत्र के २९ जनवरी १९४१ के अंक में प्रकाशित हुआ है जो विशेष महत्त्वपूर्ण है। यहाँ उसका अनुवाद प्रस्तुत है: —

लिपि-विवाद के प्रति कश्मीर-जम्मू राष्ट्रीय सम्मेलन की कार्य-समिति की अनुचित धारणा के कारण कश्मीर की राजनीति में अनावश्यक कटुता उत्पन्न हो गई है। शेख मोहम्मद अब्दुल्ला जैसे महान् नेता को इस विवाद में अशोभन भाग लेते और, इससे बढ़कर, देवनागरी लिपि को इस्लाम-विरुद्ध बताते देखकर मुझे दुःख हुआ है। मुझे स्वयं इस विवाद में पड़ने की कोई इच्छा नहीं है। पर राष्ट्रीयता में दृढ़ विश्वास रखने के नाते मैं यह निर्देश करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ कि लिपि-विवाद को सांप्रदायिक रंग देना पाप है। कुछ सौ वर्ष बीते, जब कश्मीर सुल्तानों के शासन में था, देवनागरी लिपि या इसका स्थानीय रूप शारदालिपि कश्मीर के मुस्लिमों के द्वारा उतनी ही स्वीकृत थी जितनी कि हिंदुओं के द्वारा। मैं साथ में अपने पूर्वजों की एक कब्र का फोटो भेजता हूँ जिस पर आप देखेंगे कि अभिलेख शारदा तथा अरबी लिपि में उत्कीर्ण है। ऐसी कब्रें कश्मीर में बहुत हैं। मुझे आश्चर्य है कि कैसे कोई मुस्लिम, कम से कम श्री अब्दुल्ला जैसी प्रतिष्ठा के राष्ट्रवादी मुस्लिम, जनता के सामने यह कह सकते हैं कि देवनागरी या शारदा हिंदुओं की ही है।

अपने को किसी प्रकार कम मुस्लिम न समझते हुए, मैं कहता हूँ कि राष्ट्रवादी मुस्लिमों को फारसी लिपि की अपेक्षा देवनागरी या शारदा लिपि को अधिक अपनाना चाहिए, जैसा कि हमारे पूर्वपुरुषों ने किया था। इससे राष्ट्रीयता उपलभ्य है, न कि हिंदुओं पर भी फारसी लिपि के लादने से।

अहिच्छत्र नामक प्राचीन नगर की खोज

भारत-सरकार के सूचना-विभाग के द्वारा हाल में पुरातत्त्वशोध संबंधी यह महत्त्वपूर्ण सूचना प्रकाशित हुई है :—

संयुक्त प्रांत के बरेली जिले के रामनगर नामक स्थान में ऐसी महत्त्वपूर्ण खोज होने की आशा है, जिससे भारत के प्राचीन इतिहास के कितने ही ऐसे युगों पर प्रकाश पड़ सकता है जिनके संबंध में आज के इतिहासकारों को कुछ भी जानकारी नहीं है। रामनगर की भूमि वास्तव में पांचाल के प्राचीन राज्य की राजधानी अहिछत्र थी। पांचाल की सीमाएँ आज की रुहेलखंड कमिश्नरी की सीमाओं से मिलती-जुलती थीं।

भारत-सरकार के पुरातत्त्व-विभाग ने रामनगर में भूमि की जाँच-पड़ताल पहले-पहल ७० वर्ष पहले सर अलेक्जेंडर कनिंघम की देख-रेख में आरंभ की थी, जो पुरातत्त्व-विभाग के प्रथम डाइरेक्टर जेनरल थे। इस बार जब विभाग ने पश्चिमी युक्त प्रांत में ऐतिहासिक महत्त्व के स्थानों की जाँच करने का निश्चय किया तो रामनगर में भी काम प्रारंभ किया गया। अब भारतीय पुरातत्त्व-विभाग के डायरेक्टर जेनरल की देख-रेख में खुदाई का कार्य चल रहा है।

ईसा से ३०० वर्ष पूर्व

अहिछत्र का प्राचीन नगर टीलों की तिकोनी ऊँची भूमि पर है। यह ईंटों और मिट्टी के बर्तनों के टुकड़ों की कई सतहों से ढका है। नगर के चारों ओर एक चौड़ी ईंटों से बनी दीवार है, जो कहीं कहीं नीचे के मैदान से ५० फुट ऊँची हो गई है। दीवार पर कई जगह गढ़े बने हैं और उसकी परिधि लगभग साढ़े तीन मील है। दीवार में लगी ईंटें असाधारण रूप से बड़ी हैं। इनमें कई की लंबाई २१ इंच से २४ इंच तक है। ईंटों के बड़ेपन से प्रकट होता है कि वे ईसा के जन्म से १०० से ३०० वर्ष पूर्व की हैं।

नगर के बीच में दो टीले ३० से ५० फुट तक ऊँचे हैं। ये दो प्राचीन मंदिरों के अवशेष जान पड़ते हैं। टीलों का जैसा क्रम है

उसे देखकर नगर के विविध भागों में भेद नहीं किया जा सकता। उत्तर से दक्षिण की ओर बीच में एक चौड़ी दीवार है, जिससे नगर पूर्वीय और पश्चिमीय दो भागों में विभाजित हो गया है। पूर्वीय भाग पश्चिमीय भाग की अपेक्षा कुछ बड़ा है। खुदाई पश्चिमीय भाग में ३५० फुट लंबे चौड़े क्षेत्र में हो रही है और भूगर्भ से कई मकान, गलियाँ और राजमार्ग धीरे धीरे प्रकाश में आ रहे हैं।

गुप्तकाल के अवशेष

नगर के जितने मंदिर या मकान अब तक निकले हैं वे गुप्त युग अथवा चौथी या पाँचवीं शताब्दी के जान पड़ते हैं। अब यह निर्विवाद ढंग से कहा जा सकता है कि पांचाल राज्य की राजधानी अहिछत्र पाँचवीं शताब्दी के लगभग हूण लोगों के आक्रमण के समय उजड़ी थी। इससे पहले नगर २००० वर्ष तक खूब समृद्ध अवस्था में रहा होगा।

खुदाई होते समय नगर की सतहें एक के बाद एक जैसे जैसे निकलती जायँगी, वैसे वैसे पता लगता जायगा कि आरंभ में कब कब वहाँ लोगों की बस्ती थी। काम क्रमबद्ध रूप से होने के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु के मिलने का स्थान और उस स्थान की गहराई का लेखा सावधानी से रखा जाय।

रामनगर की खुदाई में मिलनेवाली साधारण से साधारण वस्तु के विषय में यह लेखा रखा जा रहा है। नगर की संपूर्ण भूमि पर ५०० वर्ग-फुट चतुर्भुजों के निशान लगा दिए गए हैं। जिस भाग में खुदाई चल रही है, उसे १०० वर्ग फुट तथा १० वर्गफुट के चतुर्भुजों में बाँट दिया गया है।

मिले हुए बर्तनों को एक अलग जगह में सावधानी से सँभाल-कर रखा गया है। १० फुटवाले चतुर्भुजों के लिये उस जगह कितने ही छोटे छोटे चतुर्भुज बनाए गए हैं और प्रत्येक छोटे चतुर्भुज से मिला हुआ बर्तन रख दिया गया है। भूगर्भ से निकली हुई चीजों का वर्गी-करण करने की यह प्रणाली भारत में प्रथम बार जारी की गई है और आशा की जाती है कि पुरातत्त्व-विषयक अनुसंधान की दृष्टि से यह विशेष उपयोगी सिद्ध होगी। —क।

समीक्षा

भारतीयदर्शन-परिचय, प्रथम खंड, **न्यायदर्शन**—रचयिता प्रोफेसर हरिमोहन झा; प्रकाशक पुस्तकभंडार, लहेरियासराय; मूल्य अज्ञात; पृष्ठ-संख्या १८१ + ६—सविषयानुक्रमणिक; सजिल्द, मोटा एँटीक कागज; छपाई सुंदर।

बी० एन० कालिज पटना के प्रोफेसर हरिमोहन झा ने आठ खंडों में भारतीयदर्शन-परिचय नामक ग्रंथ लिखने का संकल्प किया है। यह संकल्प बहुत सराहनीय है, क्योंकि अभी तक हिंदी भाषा में कोई भी ऐसा ग्रंथ नहीं है जिसके पढ़ने से साधारणतया भी समस्त भारतीय दर्शनों का सरलता से ज्ञान हो सके। हम इस ग्रंथ के समाप्त होकर प्रकाशित होने की बाट उत्सुकता से देखते रहेंगे; क्योंकि इस ग्रंथ का जो प्रथम खंड हमारे सामने है, जिसमें न्यायदर्शन मात्र का परिचय है, वह हमारी समझ में बहुत अच्छे प्रकार से लिखा गया है। यदि सारे खंड इसी भाँति लिखे और छापे जायँगे तो आशा है कि इस एक ग्रंथ के पढ़ने से हिंदी भाषा मात्र जाननेवालों को भारतीय दर्शनों का अच्छा ज्ञान हो जायगा।

हम भारतीयदर्शन-परिचय के इस प्रथम खंड का सहर्ष स्वागत करते हैं। यह लेखक के पांडित्य और लेखनशक्ति का अच्छा परिचय देता है। बड़ी सरलता से उन्होंने न्यायदर्शन (अधिकतर प्राचीन न्याय) से पाठकों को परिचित करा दिया है। हमें उनके ये शब्द अक्षरशः ठीक जान पड़ते हैं—"मैंने भारतीय दर्शनों को यथासंभव सरल और स्पष्ट रूप से समझाने की चेष्टा की है। प्रत्येक खंड में यथासाध्य मूल ग्रंथ का अनुसरण करते हुए विषय की विवेचना की गई है। संस्कृत छात्रों के उपकारार्थ सूत्र भी दे दिए गए हैं। यथोचित स्थलों पर प्रामाणिक भाष्य, वार्त्तिक, वृत्ति, व्याख्या वा टीका के प्रासंगिक

अंश भी उद्धृत किए गए हैं। लक्षणकारों ने जो परिभाषाएँ दी हैं, उनकी ऐसी सरल व्याख्या की गई है कि साधारण योग्यता के विद्यार्थी भी आसानी के साथ समझ सकें"। कोष्ठों के भीतर कहीं कहीं पर अँगरेजी पारिभाषिक शब्दों को और कहीं कहीं पर पाश्चात्य दार्शनिक मतों को देकर लेखक ने पुस्तक की उपयोगिता को और भी बढ़ा दिया है। इस ग्रंथ से अवश्य ही हिंदी भाषा जाननेवालों को भारतीय दर्शन (न्याय) का अच्छा परिचय होने की आशा है। इसमें ग्रंथकार ने अपना मत कहीं देने का प्रयत्न नहीं किया, इससे ग्रंथ पक्षपातरहित है। हमें विश्वास है कि इस उपादेय ग्रंथ का समुचित आदर होगा।

—भी० ला० आत्रेय।

भारतवर्ष में जातिभेद—लेखक श्री आचार्य क्षितिमोहन सेन शास्त्री, एम० ए०; पृष्ठ-संख्या २६४; मूल्य २); प्रकाशक अभिनव भारती ग्रंथमाला, १७१ ए० हरिसन रोड, कलकत्ता।

आचार्य सेन की यह कृति हिंदी-साहित्य में अभिनंदनीय है। वैसे तो अँगरेजी भाषा में इस विषय पर कई ग्रंथ हैं, किंतु हिंदी में यह पहला प्रयास है। जातिभेद भारतवर्ष की एक ज्वलंत समस्या है। इस बात की आवश्यकता थी कि लोकभाषा में जातिप्रथा के अतीत, वर्तमान और भविष्य को समझने के लिये कोई पुस्तक लिखी जाय। लब्धप्रतिष्ठ चिंतक और लेखक आचार्य सेन की लेखनी से प्रसूत प्रस्तुत ग्रंथ ने इस आवश्यकता की पूर्ति की है। इसमें एक खास विशेषता यह है कि लेखक ने प्राच्य विशारदों का अंधानुकरण न कर भारतीय दृष्टिकोण से जाति की समस्या को समझने का प्रयत्न किया है।

इस पुस्तक में जाति-संबंधी प्रायः सभी प्रश्नों पर ऐतिहासिक ढंग से गवेषणापूर्ण विचार किया गया है। इसमें बतलाया गया है कि यद्यपि जातिभेद किसी न किसी रूप में संसार के सभी देशों में पाया

जाता है, परंतु भारतवर्ष में जन्मगत होने से जाति एक दुरूह और अत्यंत वर्जनशील संस्था हो गई है। ऊँच-नीच और छुआछूत का भाव जाति का अभिन्न अंग हो गया है, किंतु है यह मानवजाति की असभ्यता और आदिम अज्ञानमूलक अंधविश्वासों का अवशेष। भारतवर्ष में जातिभेद का परिचय कराते हुए असंख्य जातियों और उनके विविध स्तरों की ओर संकेत किया गया है। अब प्रश्न यह है कि इन अनगिनत जातियों का उदय कैसे हुआ ? भारत के प्राचीनतम साहित्य वेद में, जहाँ वर्णों की उत्पत्ति की कहानी लक्षणा से वर्णित है, मानव-जाति का कर्म से विभाजन और सब वर्णों की मौलिक एकता का ही निर्देश है, आजकल की जातियों का पता नहीं। वास्तव में जातिभेद आर्यों द्वारा चलाई हुई कोई कृत्रिम संस्था नहीं, अपितु उनसे भी पुरानी और भारतवर्ष की विशेष परिस्थिति में विकसित हुई है। आचार्य सेन का मत है कि इसके लिये अनेक मानव-श्रेणियों और संस्कृतियों का संगम ही उत्तरदायी है। किंतु एक ही मानवश्रेणी में कई जातियाँ पाई जाती हैं। इसलिये केवल उपयुक्त कारण जाति-विकास के लिये पर्याप्त नहीं है। भौगोलिक पार्थक्य, अनेक व्यवसायों का अवलंबन, विविध लांछनों की पूजा, विभिन्न पूर्वजों से उत्पत्ति आदि भी इसके लिये जिम्मेदार हैं। यह प्रक्रिया उत्तरपाषाण-काल से लेकर आधुनिक काल तक चली आ रही है। वर्णव्यवस्था और जाति एक नहीं हैं, फिर भी वर्ण-विभाजन ने जातियों के विकास में योग दिया है।

भारतीय प्रजा में विकेंद्रीकरण की अनेक धाराएँ प्रवाहित होने पर भी प्रारंभिक अवस्था में समाज में जीवन था, गति थी। इसी लिये विभिन्न जातियों में भी मुर्दापन की अकड़ न आकर लचीलापन था। पेशों और जातियों का परिवर्तन जारी था, असवर्ण और जाति से बाहर विवाह और खान-पान भी वर्जित न थे। अतः समाज के अंग एक दूसरे से अलग नहीं हुए थे और न समाज का समष्टिभाव ही नष्ट हुआ था। समाज की पाचनशक्ति ठीक होने से बाहर से आनेवाली जातियाँ भी समाज में खपती गईं। इन उदार व्यवहारों के आधार तत्कालीन

ऋषियों के उदार विचार थे। वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों में उदार विचार भरे पड़े हैं (यद्यपि कहीं कहीं अनुदारता के उदाहरण भी मिलते हैं)। अभी तक व्यक्तिगत योग्यता और आचार पर ही जोर दिया जाता था, जन्म की असाधारण महत्ता की स्थापना नहीं हुई थी।

आगे चलकर भारतीय इतिहास में एक ऐसा भी समय आया जब सामाजिक जीवन शिथिल पड़ने लगा और जातियों में पारस्परिक पार्थक्य, कठोरता और वर्जनशीलता आने लगी। फिर ऊँच-नीच का भाव और छुआछूत का रोग भी बढ़ने लगा। इसके मूल में जात्य-भिमान, जातीय ममता, जाति-संबंधी सुविधाओं का प्रलोभन और अपने से नीची जातियों को दबा रखने में श्रेष्ठता का झूठा भाव वर्तमान था। इस प्रक्रिया को जैनों, बौद्धों और वैष्णवों के कृच्छ्राचार ने और भी प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार के जातिभेद से बहुत ही भीषण दुष्परि-णाम हुए हैं। समाज के विविध वर्गों में प्रतियोगिता का अभाव होने से उनका और तत्संबंधी व्यवसायों का उत्कर्ष रुक गया। जीवन-संघर्ष में भी इससे बाधा पहुँची है। समुद्रयात्रा और व्यापार, बाहर जाकर उपनिवेश बसाना, जहाजी या ऐसी नौकरियाँ, जिनमें जातीय आचार की रक्षा न हो सके, हिंदुओं के लिये वर्जित हो गईं। परंतु सबसे बड़ी हानि जो जातिभेद से हुई है वह समाज के समष्टिभाव का नष्ट हो जाना है। इससे समाज के सब अंग विशृंखलित हो गए और आज भी बिखरते जा रहे हैं। हिंदू-समाज अपने बिछुड़ों को दूसरों के हाथ सौंप देने को तैयार है; किंतु अपने शारीरिक स्वास्थ्य और बाहरी खाद्य पदार्थ की ओर उसका बिल्कुल ध्यान नहीं है। यह सब कुछ होता है सामाजिक शौच और परिष्कार के नाम पर। किंतु है यह आत्महत्या का सीधा मार्ग।

उपर्युक्त सभी मतों का प्रतिपादन आचार्य सेन ने बड़ी युक्ति से और मनोरंजक ढंग से किया है। ग्रंथ में प्रतिपादित निष्कर्ष प्रायः सर्वमान्य हैं। किंतु कुछ ऐसे भी स्थल हैं जो अब भी विवादग्रस्त हैं,

जैसे शिव की आर्येतर उत्पत्ति, गणपति का आर्येतर गणचित्त का प्रतिनिधि होना, बहुसंख्यक मुनिपत्नियों का अनार्य होना, गंगादि नदियों का आर्यपूर्व नाम और महत्त्व आदि। आर्यों के धार्मिक विश्वासों में कतिपय ऐसे तत्त्व थे, जिनसे उपर्युक्त देवताओं का प्रादुर्भाव होना संभव था। ग्रंथ में एक स्थान पर अवतरण लेने में भूल हो गई है। पृष्ठ १८४ पर लिखा गया है, "बेसनगर में प्राप्त शिलालेख से जान पड़ता है कि तक्षशिला-वासी दियस के पुत्र ग्रीक नरपति हेलियोडोरस भागवत होके गरुडध्वज बनवा रहे हैं।" यह लेख शिलालेख नहीं, स्तंभलेख है और हेलियोडोरस स्वयं ग्रीक नरपति न होकर तक्षशिला के यवनराज अंतलिकितस का दूत था।

यद्यपि इस पुस्तक में 'मिशनरी प्रचारक की कलुषदर्शिता और समाज-सुधारक की हाय हाय नहीं है' तथापि एक साधक की लोकमंगल-कामना इसमें छिपी हुई है। जातिभेद की वस्तुस्थिति समझाकर उससे असंतोष उत्पन्न करने की काफी सामग्री इसमें है। कुछ अनुचित न होता यदि समाज की भावी रूप-रेखा और पुनरुज्जीवन पर भी कुछ विचार प्रकट किए गए होते। शायद आचार्य सेन ने इन प्रश्नों को समाजसुधारक का एकाधिकार समझकर छोड़ दिया है। फिर भी भारतीय समाज के प्रत्येक विद्यार्थी के लिये यह ग्रंथ पठनीय है।

—रा० ब० पा०।

आशावती-उपाख्यान—अनुवादक श्री महेंद्रकुमार सरकार, एम० ए०, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, डी०ए०वी० कालेज, लाहौर; प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, संस्कृत-हिंदी-पुस्तक-विक्रेता, सैदमिट्ठाबाजार, लाहौर; पृष्ठ-संख्या २४+१००; मूल्य ॥) ।

बंगाल के प्रसिद्ध संत गोस्वामी विजयकृष्णजी ने "गयाधाम के आकाशगंगा स्थान में मानससरोवर-निवासी श्रीमद् ब्रह्मानंद परमहंस-

देव से योग-दीक्षा ली और काशी जाकर संन्यास ग्रहण किया।...... 'वामाबोधिनी' पत्रिका के संपादक की प्रार्थना से स्त्री-जाति के कल्याण और धर्म-शिक्षा को ध्यान में रखकर गोस्वामी प्रभु ने अपने आत्मचरित को आशावती नाम की एक कल्पित स्त्री के चरित के रूप में वर्णन किया। स्त्रियों के लिये उपयोगी बनाने के उद्देश्य से उन्होंने वास्तविक घटनाओं में साधारण हेर फेर भी किया होगा।......प्रस्तुत पुस्तक उसी लेखमाला का संगृहीत रूप है। बँगला भाषा में इसके दो संस्करण हो चुके हैं।......पुस्तक की समस्त बातें गोस्वामी प्रभु के वैयक्तिक अनुभव की हैं।......सत्य धर्म और गुरु के अन्वेषण में भ्रमण का वृत्तांत ही आशावती-उपाख्यान का मूलाधार है।......गोस्वामी प्रभु का जीवन एक ऋषि का जीवन था। शास्त्र और सदाचार की महिमा उनके निज के जीवन में पूर्णतया प्रमाणित हुई है।......पाखंड, छद्म और अंधकार की इस धार्मिक अराजकता के युग में सत्य और असत्य में, पाप और पुण्य में, धर्म और अधर्म में, साधु और असाधु में तथा ज्ञान और अज्ञान में विवेक करना बहुत कठिन है। इस पुस्तक से जिज्ञासु साधकों को ही नहीं अपितु सामान्य गृहस्थों, स्त्री और पुरुषों को भी पर्याप्त प्रकाश मिल सकता है।......हिंदी आज नव भारत की राष्ट्रभाषा होने जा रही है। उसके पढ़ने और समझनेवालों की संख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है। इस अनुवाद से, आशा है, अधिकाधिक जनता तक गोस्वामी प्रभु का संदेश पहुँचेगा।"

"अनुवाद का कार्य कितना कठिन है इसे वही अनुभव कर सकते हैं जिन्होंने कभी इसे अपने हाथों में लिया है। मूललेखक की भावना की रक्षा करना अनुवादक का प्रथम कर्तव्य है, किंतु इसके लिये कभी कभी शब्दों में ही नहीं वाक्यों में भी परिवर्तन करना पड़ता है।...गोस्वामी प्रभु की भावना को अक्षुण्ण रखने के लिये मुझे कभी कभी अपनी इच्छा के विरुद्ध शब्दों और वाक्यों का मोह छोड़ना पड़ा है।...मुझे पुस्तक में बँगला के कई ऐसे शब्द मिले जिन्हें मैंने हिंदी-अनुवाद में ज्यों का त्यों स्थान दिया है। वे शब्द हिंदी भाषा के न होने पर भी इतने

सरल, मधुर और सुबोध हैं कि उनको अपनाने का लोभ मैं संवरण न कर सका। उदाहरण के लिये 'जीवंत' शब्द को लीजिए। 'जीवंत धर्म' की तुलना में 'जीवित धर्म' शक्तिहीन जान पड़ता है। भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी में ऐसे शब्दों का अधिकाधिक समावेश होना चाहिए"।

अनुवादक ने जैसी सूचना दी है वैसा किया है सही, पर स्वल्प मात्रा में। हिंदी में 'चिंतन' और 'चिंता' पृथक् पृथक् दो शब्द हैं और चिंतन का उपयोग हिंदी में उसी अर्थ में प्रचलित है जिस अर्थ में बँगला में कुछ कुछ भावना शब्द। अतः चिंता का उपयोग चिंतन के अर्थ में करने से संभवतः हिंदी जनता भ्रम में पड़ जायगी। 'संभव हो सकता है' प्रयोग भी अब चलाया जा रहा है जो चिंत्य है। हिंदी में 'विषय' और 'विषयी' शब्द दूसरे अर्थ में व्यवहृत होते हैं; पर बँगला में विषय शब्द धन-दौलत, जमीन-जायदाद आदि का बोधक माना जाता है। 'हारी' जाति इस ओर नहीं होती। 'पांथ-पादप' शब्द का प्रयोग करने पर अनुवादक को उसका अर्थ राहगीरों का पेड़ करना पड़ा है।

भाषा अच्छी है और इसके लिये अनुवादक महोदय तथा उनके सुयोग्य शिष्य श्री अनंत 'मराल' शास्त्री एम० ए० धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने अनुवाद में बड़ी सहायता की है।

पुस्तक की उपयोगिता और वर्ण्य विषय के संबंध में नए सिरे से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। आशा है, हिंदी-जनता में इसका प्रचार होगा।

—ल० पा०।

जंबू स्वामी चरित्र—हिंदी लेखक ब्र० शीतलप्रसादजी; प्रकाशक मूलचंद किसनदास कापड़िया, सूरत; पृष्ठ-संख्या २१४; मूल्य १।)।

पिछले वर्ष बंबई की माणिकचंद दि० जैन ग्रंथमाला से पं० रायमल्ल विरचित जंबू स्वामी चरित (संस्कृत) प्रकाशित हुआ था। ब्रह्म-

चारीजी ने उसी का हिंदी में भावानुवाद किया है। मगध देश के अधिपति सम्राट् बिंबसार जैनवाङ्मय में राजा श्रेणिक के नाम से विख्यात हैं। उनका जैनवाङ्मय में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। जंबू कुमार उन्हीं राजा श्रेणिक के समकालीन थे। वे मगध देश की राजधानी राजगृही नगरी के निवासी थे और वहाँ के नगरसेठ के सुपुत्र थे। उनका जीवनवृत्त अत्यंत रोचक होने के साथ ही साथ अत्यंत शिक्षाप्रद भी है। उनके जीवन के प्रभाव से विद्युच्चर नाम का एक राजपुत्र, जो कुसंगति के प्रभाव से उस समय नामी डाकू बन गया था, एक प्रसिद्ध योगी हुआ और उसके ५०० साथियों ने भी उसी के पदों का अनुसरण किया। एक बार विद्युच्चर मुनि अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ भ्रमण करते हुए मथुरा आए और रात्रि में नगर के बाहर एक उद्यान में ठहरे। दैवी उपद्रव से उन सब का वहाँ शरीरांत हो गया। कवि रायमल्ल ने लिखा है कि उस वक्त मथुरा नगरी के पास की बाह्य भूमि में ५०० से अधिक जैन स्तूप थे। ये स्तूप बहुत पुराने होने के कारण जीर्ण-शीर्ण हो गए थे। साहु टोडरमलजी ने उनका जीर्णोद्धार कराया। इस चरित ग्रंथ का प्रथम अध्याय ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। कवि बादशाह अकबर के समकालीन थे; क्योंकि यह ग्रंथ उन्होंने विक्रम सं० १६३२ में समाप्त किया था। अकबर बादशाह के बारे में लिखा है कि उसने 'जजिया' कर माफ कर दिया था और शराब बंद कर दी थी। इस ग्रंथ की रचना में प्रेरक साहू टोडर को टकसाल के कार्य में दक्ष बतलाया है। ये गर्गगोत्री अग्रवाल थे और भटानियाकोल नगर के रहनेवाले थे।

इस संस्कृत चरित का हिंदी रूपांतर ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी ने किया है। ब्रह्मचारीजी एक अध्यवसायी व्यक्ति हैं। जैन समाज में उन्होंने बड़ा कार्य किया है। उनकी अवस्था अब इस लायक नहीं है कि उनके कार्यों की आलोचना की जाय। इस पर भी अपनी भूमिका में उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है—"कठिन भाषा कहीं समझ में

नहीं आई, वहाँ भाव मात्र ले लिया है।' यह लिखने की आवश्यकता इसलिये हुई कि अनुवाद कहीं कहीं स्खलित हो गया है। भाषा भी साधारण है। जो संस्कृत भाषा का जंबूचरित समझने में असमर्थ हैं, उन्हें उसके इस हिंदी रूपांतर को अवश्य पढ़ना चाहिए। इसमें उन्हें उपन्यास का सा आनंद आएगा।

चित्रसेन-पद्मावती-चरित्र—सं० पं० के० भुजबलि शास्त्री, विद्याभूषण; प्रकाशक मूलचंद किसनदास कापड़िया, मालिक दिगंबर जैन पुस्तकालय सूरत; पृ० सं० ८२; मूल्य ।=)।

प्रकृत पुस्तक भी इसी नाम के एक संस्कृत ग्रंथ का हिंदी-रूपांतर है। यह ग्रंथ वि० सं० १७५४ में समाप्त हुआ था। कथानक पौराणिक है और रोचक है। अनुवाद सरल और सुंदर हुआ है। पढ़ने के योग्य है।

—कैलाशचंद्र शास्त्री।

रसवंती—लेखक श्री 'दिनकर'; प्रकाशक पुस्तकभंडार, लहेरियासराय; मूल्य ॥।)।

पुस्तक की भूमिका एक छोटे से निबंध के रूप में लेखक ने स्वयं लिखी है, जिसमें साहित्य और कला के संबंध में प्रचलित अनेक वाद-प्रवादों का उभयपक्षीय पर्यालोचन है। काव्य में स्थूल और सूक्ष्म, यथार्थ और आदर्श तथा प्रतिगामी और प्रगतिकामी इन शब्दों के नाम पर साहित्य-विभाजन की प्रवृत्ति का जो अप्राकृतिक संघर्ष चल रहा है उसके वास्तविक भेद का संक्षिप्त निदर्शन कर लेखक साहित्य के अतिवादों का परित्याग कर, प्राचीनता और नवीनता के मध्य पथ से सामंजस्य करते हुए चलने का मत प्रकट करता है। यही उसका स्वतंत्र विचार है।

काव्य को केवल 'जाग्रत् पौरुष का उभार' समझनेवाले जिस कवि की वाणी के द्वारा अब तक युगसंघर्ष से अनुप्रेरित मनःक्रांति के कुछ आंदोलनों का ही प्रतिध्वनन होता रहा उसका ही जगत् और

जीवन के नित्य एवं स्वस्थ स्वरूप का संवेदनशील अध्ययन करने के लिये मार्मिक अभिव्यंजना के क्षेत्र में उतरना संतोष की बात है। उसने अब समझा है कि "···तब मैं इतना जोड़ना भूल गया था कि उसका विकास अर्द्धनारीश्वर के आशीर्वाद से होता है। हालाहल का पान करनेवाले नीलकंठ का अन्य अर्द्धांग अमृतपूर्ण है, यह कल्पना ही मानो काव्य की अपनी पूर्णता की याद दिलाती है।"

'कल्पक के अबोध शिशु' गीतों के इस संग्रह का समारंभ 'मंगलमयी माँ' की वंदना से होता है जो अपनी निरीहता और भोलेपन की व्यंजना में सफल है—

सीख न पाए रेणु रत्न का भेद अभी ये भोले,
मुट्ठी भर मिट्टी बदलेंगे कंचन-रचित वलय से।

× × × ×

तथा नील नयन देखो माँ इनके दाँत धुले हैं पय से।

× × × ×

......सुन लो, क्या कहने आए हैं ये तुतली सी लय से।

पहली कविता 'रसवंती' में कल्पना की चित्रावली के बीच मनुष्य की सर्वसामान्य अंतर्दशाओं का परिचय बड़ा स्पष्ट है—

दुखों की सुख में स्मृतियाँ मधुर, सुखों की दुख में स्मृतियाँ शूल।
विरह में किंतु, मिलन की याद नहीं मानव-मन सकता भूल॥

'नारी' में मानव हृदय की सहज-दुर्बलताओं का अनुभूत्याभास और 'पुरुष-प्रिया' में इनके प्रकृत संबंध में जो राग, रमणीयता है, उसकी ओर बड़ा मुग्धकारी, वक्र संकेत है। ओज और अप्रमेय तारुण्य से भरा (पूर्ण-) पौरुष '······त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा' की सौंदर्य्य-मधुरिमा के बिना सचमुच अपूर्ण है। 'कवि' 'संध्या' और 'रहस्य' में शब्द-चित्र के साथ साथ भावसमर्पण भी है। अंतः-प्रवृत्तियों से जहाँ जहाँ उनका तादात्म्य हुआ है वहाँ हृदय का स्पर्श करनेवाली उक्तियाँ स्वयं बन आई हैं। 'अगेय की ओर' और 'शेष-गान'

में इनकी रागात्मिका वृत्ति अंतर्मुखी होकर जिसकी खोज में अग्रसर है उसमें अपनी अंत:-सत्ता को, रसास्वादनार्थ, खो जाने से उसने बचा रखा है। गायक गान में विलीन होकर गेय नहीं बन गया, यह उसका कौशल है। अन्यथा, बिना अपने को अलग रखे उस अगेय का चिरंतन मधुर राग वह सुन ही कैसे सकता। यह मधुर भावना द्वैत की संपत्ति है। दृश्य, अदृश्य (द्रष्टा), उद्गाता और श्रोता की अभिन्नता का, अद्वैत दर्शन द्वारा, ज्ञान हो जाने पर फिर भावुकता से यह गाने के लिये कौन बच रहता—

गायक, गान, गेय से आगे मैं अगेय-स्वन का श्रोता मन !
'दृश्य, अदृश्य कौन सत् इनमें मैं या प्राण प्रवाह चिरंतन'।

कविता की भाषा सरल, किंतु उर्दू के प्रगल्भ शब्द-प्रयोगों से मुक्त नहीं है। आदि से अंत तक विशुद्ध, खड़ी बोली भी नहीं कही जा सकती। मृदुता लाने के लिये ब्रज, अवधी का यत्र तत्र मेल है; यथा चहुँ, रोर, आन (आया), पिया, त्यों, अँखियाँ, बाउर आदि। कहीं कहीं मात्रा के लिये, ह्रस्व को दीर्घ करने की खींचतान भी है, जैसे पहुँची को 'पहूँची'। एक ही पद में 'तुम' संबोधन के बाद 'तेरा' की हीनसंगति 'दिनकर' जैसे कवि की कविता में खटकती है।

फिर भी पुस्तक सुंदर है। हिंदी काव्य की नई धारा की रचनाओं में वह टिक सकेगी; क्योंकि इसकी वाणी में कुछ वैदग्ध्य है। प्रसार की दृष्टि से भी केवल 'सुहृद्भवनानि यावत्' न रहकर आगे बढ़ने के लक्षण हैं। विजय-संघर्ष-जात विभिन्न आंदोलनों के तूर्यनादी उदात्त रणनायक में सुकोमल कवि का यह अभ्युत्थान स्वागत के योग्य है।

—रा० ना० श०।

विविध

आचार्य शुक्लजी की स्मृति में

जिसके आकस्मिक अतएव अतिशोचनीय निधन पर समस्त हिंदी-संसार ने विकल होकर अभी अभी आँसू बहाए हैं उसका संबंध इस पत्रिका और इसकी संचालक संस्था नागरीप्रचारिणी सभा से कितना था, यह बतलाने के लिये एक विस्तृत विवरण की आवश्यकता है।

स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्लजी के जन्मसिद्ध गुण-बीजों को अंकुरित, परिवर्धित, पुष्पित और फलित होने के लिये अनुकूल भूमि, परिपोषक दोहद और प्राणतर्पण रससेक प्रदान करने का अवसर, अधिकार, गौरव और सौभाग्य सभा को ही प्राप्त था।

आचार्य शुक्लजी हिंदी भाषा और साहित्य के अनन्य साधक, परिपक्व सिद्ध और सम्मानित सुजान थे। उनकी साधना अविरत, उपज्ञा (उपज) आत्मनिर्भर, विवेचना तर्कप्रतिष्ठ और क्षमता सर्वतो-मुख थी। इसी लिये उनकी कृतियों में कला का उत्तरोत्तर उत्कर्ष, परंपरागत कुछ साहित्यिक तथ्यों पर अनास्था, प्रातिभ ज्ञान पर अविश्वास, इंद्रियातीत अबुद्धिगम्य सत्ता के प्रति "रागात्मिका वृत्ति" का अनुदय आदि पाए जाते हैं।

शुक्लजी का निसर्ग विशुद्ध भारतीय और संस्कार संसर्गज भारतीय और उपार्जित पाश्चात्य था। उनकी कृतियों में इनके तारतम्य का आभास सर्वत्र मिलता है।

उन्होंने जैसी सुलझी कुशाग्र बुद्धि पाई थी, वैसा ही भावतरंगित हृदय। पर उनकी भावुकता सदा बुद्धि के प्रकाश में ही पनपती। न तो स्वयं वे बुद्धिलोक के परे किसी भावलोक की सृष्टि करते और न किसी का वैसा करना पसंद करते। स्पर्श करते ही किसी प्रमेय के

अंतरतम में प्रवेश पा जाने और अपनी दृष्टि से अपना अभिमत द्रष्टव्य देख लेने का मानो वैध अधिकार उन्हें प्राप्त हो गया था।

विश्वविस्तृत बाह्यसौंदर्य को ही वे अगोचर रूपराशि का प्रतीक क्या सर्वस्व मानते और उस पर रोम रोम से मुग्ध हो जाया करते थे। उनकी मति केवल चर नहीं अचर प्रकृति को भी चेतन मानती, चराचर प्रकृति के विशेष सुंदर रूप का यथावत् चित्रण करना कविता का परम लक्ष्य समझती और उसी के मनन में तल्लीन हो जाती थी। उनकी श्रद्धा भी उसी पर टिकती और प्रीति उसी से "रागात्मक संबंध" जोड़ती थी।

× × × ×

विंध्य की नानाविध दिव्यौषधियों के स्वरस से सुवासित विमल जलधारा उदीर्ण वेग से जब बरघाट की दरी में पचासों हाथ नीचे कूदकर अपनी फुहार ऊपर को बिखेर रही थी उसी समय ठीक पश्चिम में अस्तोन्मुख दिवाकर की प्रतिनव जपापुष्प सी लाल लाल किरणों ने ऐसा कुछ उसे माणिक्यमय, स्वर्णमय, शृंगारमय, सौंदर्यमय दिव्य रूप दे दिया कि आंतरिक प्रणिपात से इस जन के दोनों हाथ अबोधपूर्वक जुड़ गए! शुक्लजी बोले—मैं तो यहाँ साष्टांग दंडवत् कर चुका हूँ।

× × × ×

कोटवा की दरी के दिव्य और पुष्कल प्रवाह में घंटों जलविहार करने के उपरांत स्वयं दिव्य होकर जब हम लोग वहाँ के अद्य के समान अद्वितीय 'स्वस्थाश्रम' की ऊँची छत पर जा बैठे तो सावन का ऐसा समाँ बँधा, पावस की प्रकृति का ऐसा चित्रपट खुला कि अचानक यह जन पढ़ उठा—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव॥

(बादलों ने अपनी स्निग्ध श्यामल कांति से समस्त आकाशमंडल को लीप दिया ! इनके बीच झूलती बकमाला झोंके खा रही है ! फुहार भरी धीमी धीमी बयार डोल रही है ! पयोद-सुहृद् मयूर रह रहकर अपनी मीठी मीठी आनंद-केका की कूक उठा रहे हैं ! अच्छा ! हो लेने दो इन सबकी मनमानी। मैं राम हूँ। मेरा कलेजा पत्थर का है। मैं सब कुछ भुगत लूँगा। पर विदेह-नंदिनी सीता ! हाय ! उसकी क्या दशा होगी ! देवी ! धीरज धरो)

उस समय प्रकृतिचित्र और शब्दचित्र की एकरूपता उन्हें ऐसी जँची कि बार बार पढ़ने के लिये कहते गए और यह जन उल्लसित होकर बार बार पढ़ता गया। अब आलोचना की आँख खुली। बोले—कविता का प्रकृत रूप यही है। कवि का काम है प्रकृति का बोलता चित्र सामने खड़ा कर देना और भावुक को जी खोलकर भावानुभव करने के लिये छोड़ देना। अपनी भावना के संकीर्ण और खंडित रूपों का आरोप उस विशाल और अखंड पर थोपना कवि का कर्त्तव्य नहीं। अर्थात् कवि-कर्म में ज्ञेयपक्ष, ग्राह्यपक्ष या विभावपक्ष को प्रधानता मिलनी चाहिए; ज्ञातृपक्ष या आश्रयपक्ष को नहीं। शुक्लजी का यह मत उनके हृदय को प्रबंध-काव्य की श्लाघा के लिये उदार और प्रगीत काव्य के लिये अनुदार बनाने में प्रधान कारण रहा।

× × × ×

कराल काली रात थी। धुँधले नक्षत्रालोक को छोड़कर प्रकाश का कहीं पता न था। हम लोग गिनती के दो-चार जीव ठीक निशीथ काल में प्रकृति के अंत:पुर में प्रवेश करने का साहस कर 'गेरुआ तलाव' से चल पड़े। हमारे सुखद पादचार के लिये चारों ओर नितांत मृदुल और अत्यंत शीतल हरा हरा बेलबूटेदार कालीन बिछा हुआ था। बीच बीच में कँटीले कटावदार झाड़ फर्शी फानूस से रखे हुए थे अवश्य, पर उनमें जो दीपक जल रहे थे वे बहुत छोटे थे। उनका प्रकाश केवल उन्हीं को प्रकाशित कर सकता था। चलते चलते हम एक पक्के तालाब पर पहुँचे। कहते हैं वहाँ रात को पानी पीने जंगली जानवर आया करते हैं, पर उस समय कोई न दिखाई दिया। प्रकृति के उस प्रशस्त

प्रांगण में 'बार बरोबर वारिमय' वह अत्यंत विशाल विमल जलाशय उस अधित्यका की लक्ष्मी का क्रीडासरोवर सा प्रतीत हो रहा था। अब पूर्व दिशा में क्षीण चंद्र निकल आया। उसके कोमल प्रकाश ने अंधकार का मालिन्य धो डाला। परिसर की शोभा ने आँखें खोल दीं। वह कुछ कहना चाहती थी, पर किसी को मुँह खोलने की आज्ञा न थी। नीरवता का अखंड राज्य था। झिल्ली-झनकार भी सो गई थी। प्रकृति के उस शयनागार में हम भी दम साधे चुप बैठे रहे। थोड़ी देर बाद एक टिटिहरी अकस्मात् आई और अपनी भाषा में कुछ कहकर चली गई। शुक्लजी बोले---वनदेवता ने हमारा अभिनंदन मूक और नीरव भाषा में नहीं वावदूक और सरव भाषा में किया है। हम अभ्यागतों का इतना भी स्वागत-सत्कार न होता तो हम कौन सा हृदय लेकर लौटते!

शुक्लजी में विदग्धता और परिहास दोनों का अन्योन्याश्रित संयोग था। यह गुण उनकी गंभीर शास्त्रीय शैली में जहाँ-तहाँ प्रकट होकर पाठकों का बोझ बहुत कुछ हलका करता और प्रस्तुत की दिशा का अज्ञात मार्ग सुझाता। गोष्ठी में भी जब वे इस सम्मोहनास्त्र का प्रयोग करते, चाँदी उनकी होती और लक्ष्य आहत होकर भी आहें न भरता। कहते हैं वे हँसते नहीं थे हँसाते थे अर्थात् सरल काम छोड़कर कठिन काम करते थे, पर उनके स्मित और विहसित की असली थाह किसी अंतरंग अवगाहक को ही मिलती थी।

किसी प्रकार का छद्म, चाहे वह मानसिक हो, वाचिक हो, व्यावहारिक हो, उन्हें प्रिय न था; पर अपनी निश्छद्मता की गहरी छाया में कभी कभी उन्हें छद्म का असली रूप-रंग दिखाई न देता था।

वे मानधन और मनस्वी थे। मान आ जाय तो बड़े से बड़े की परवा नहीं, नहीं तो आशुतोष तो थे ही।

व्यवहार उनका ऐसा स्निग्ध, ऐसा मधुर, ऐसा सरस था कि मिलनेवाला जी खोलकर मिलता और सदा स्मरण रखता।

वे शील और सौम्यता की मूर्ति थे। माधुर्य और विश्रंभ की सूचना देनेवाले उनकी आँखों के लाल डोरे इसकी साख भरते थे। उनकी अत्यधिक शालीनता कभी कभी उनके कष्ट और अनुताप का कारण होती और वे आगे के लिये सचेत होने की प्रतिज्ञा भी करते, पर उनका यह संकोच अंत तक न गया।

उनका हृदय भक्त का हृदय था। वे राम के नाते ही सबसे संबंध जोड़ते, जैसा वे सदा प्रातःकाल उठकर कहा करते—

नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जौ फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं॥

शुक्लजी के उठ जाने से हिंदी का एक महान् स्तंभ टूट गया! और हमारी तो गोष्ठी उजड़ गई!

—केशवप्रसाद मिश्र।

स्वर्गीय सर ज्यार्ज अब्राहम ग्रियर्सन

गत ८ मार्च १९४१ ई० को सर ज्यार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने ९० वर्ष की अवस्था में स्वर्गारोहण किया। भारतीय अनुशीलन एक पथिकृत् आचार्य से और संसार एक आप्त पुरुष से हीन हो गया।

पिछले खेवे के इंडियन सिविल सर्विस के विदेशियों में, जिनमें अनेक ने भारतीय अनुशीलन का व्रत लिया और उसके अनेक अंगों को पुष्ट किया, सर ज्यार्ज विशिष्टता से स्मरणीय रहेंगे। सन् १८७३ में २३ वर्ष की अवस्था में वे बिहार प्रांत में नियुक्त हुए थे। तभी वे लोक-भाषा, लोक-साहित्य तथा बहुपक्ष लोक-जीवन के अध्ययन में उत्साह से प्रवृत्त हुए थे। धीरे धीरे उनके अध्ययन का क्षेत्र बढ़ता गया। भाषाओं तथा बोलियों के ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक अध्ययन की ओर उनकी विशेष रुचि थी और इसमें ही वे महाकृती हुए। परंतु उन्होंने जिस विषय पर भी लिखा साधिकार लिखा, अन्वीक्षण और विवेचन के ऊँचे प्रमाण से लिखा। उन्होंने पहला लेख

१८७७ में कालिदास पर लिखा था। उनके बहुसंख्यक और विविध ग्रंथों तथा लेखों में—जिनकी सूची सन् १९३६ में उनके सम्मान में प्रस्तुत 'वाल्युम ऑव इंडियन एंड इरानियन स्टडीज़' (भारतीय तथा ईरानी अनुशीलनग्रंथ) के २० पृष्ठों में प्रकाशित है—'नोट्स ऑन दी गया डिस्ट्रिक्ट' में गया जिले की जनता की आर्थिक दशा के वर्णन के द्वारा भारतीय जनता की दशा का बहुत उपादेय वर्णन है। 'बिहार पेज़ंट लाइफ़' में ग्रामीण जीवन का ऐसा विवरण है जो आज की बहुमूल्य सूचनाओं का कोष है। उनका विशेष विषय भाषाएँ तथा बोलियाँ ही थीं। कम से कम दो सौ भारतीय बोलियों पर उन्हें पूरा अधिकार था। कितनी ही देशी भाषाओं तथा बोलियों के उन्होंने व्याकरण तैयार किए, उपयोगी ग्रंथों के संपादन तथा अनुवाद किए और साहित्य-विवरण लिखे, जिनमें बिहारी बोलियों के व्याकरण, 'मानस-रामायण' का संपादन और 'दी माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिंदुस्तान' (भारत का आधुनिक देश्यभाषा साहित्य) ऐतिहासिक महत्त्व की कृतियाँ हैं। सन् १८८६ के वियना के अंतर्राष्ट्रीय प्राच्यविद्या-सम्मेलन के आग्रह पर जब भारत सरकार ने भारत का भाषागत सर्वेक्षण (लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया) स्वीकार किया तब १८८८ में डा० ग्रियर्सन उसके अध्यक्ष नियुक्त किए गए। हैदराबाद तथा मैसूर राज्य और मद्रास प्रांत की भाषाओं तथा बोलियों को छोड़, भारत की १७९ भाषाओं तथा ४५५ बोलियों का उन्होंने व्यवस्थित सर्वेक्षण किया। सन् १९०३ में इंडियन सिविल सर्विस से विश्राम लेकर वे इँगलैंड गए और वहाँ से १९२८ तक उन्होंने उक्त सर्वेक्षण के सुविवेचित परिणाम, भूमिका ग्रंथ के साथ, २१ बृहद् ग्रंथों में प्रकाशित किए। ये बृहद् ग्रंथ सर ज्यार्ज के व्यापक पांडित्य तथा महान् अध्यवसाय के श्रेष्ठ स्मारक और भारतीय भाषाविज्ञान के अध्येताओं के लिये पथ-दर्शक आकरग्रंथ रहेंगे।

श्री ज्यार्ज ग्रियर्सन को भारत, योरप तथा अमेरिका से समय समय पर कितने ही ऊँचे सम्मान प्राप्त हुए। सन् १९३६ में उनकी

८५वीं वर्षगाँठ पर संसार के श्रद्धालु विद्वानों ने उक्त 'वाल्युम ऑव इंडियन एंड इरानियन स्टडीज़' (बुलेटिन ऑव दी स्कूल ऑव ओरिएंटल स्टडीज़ लंदन, ग्रंथ ८, भाग २—३) के स्मरणीय उपहार से उनकी साठ से अधिक वर्षों की भारतीय-भाषाविज्ञान-सेवा का सम्मान किया।

सर ज्यार्ज हिंदी क्षेत्र की भाषाओं तथा बोलियों के विशेष अधिकारी विद्वान् थे और इनकी ओर उनकी विशेष सहृदयता थी। हिंदी के महाकवियों के प्रति उनमें बड़ा आदरभाव था। गोस्वामी तुलसीदास को वे श्रेष्ठ महाकवि तथा सुधारक मानते थे। हिंदी के तत्कालीन कवियों तथा विद्वानों में कितनों ही के साथ उनका बड़ा सौहार्द था। उनके भारत से विदा होने पर फरवरी १९०५ की 'सरस्वती' में स्वर्गीय डा० जायसवाल ने उनका जीवनचरित लिखा था। उसके साथ के चित्र के नीचे लिखा था—

श्री तुलसी के काव्य प्रेम सों बाँचनवारे,
सूर, बिहारी, लाल, जायसी माननहारे;
विद्या-कीरति-धाम बड़े वे भाषा-पंडित,
जि० ए० ग्रियर्सन नाम, गुणागर ऋजुता-मंडित।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा के वे पुराने मान्य सदस्य थे। हिंदी ग्रंथों की खोज तथा शोध के कार्य में सभा की उन्होंने अनेक रूप से सहायता की थी। सभा उनके हिंदी-प्रेम का सदा कृतज्ञता से स्मरण करेगी।

स्वर्गीय सर ज्यार्ज अब्राहम ग्रियर्सन अपनी महाकृति के यश से सदा स्मरणीय रहेंगे। उनकी महाकृति से भारतीय अनुशीलन के क्षेत्र में नई नई प्रेरणा होती रहे और उनके विद्याप्रेम, अध्यवसाय तथा सहृदयता के आदर्श से ऊँचे से ऊँचा चरित्त बनता रहे, उनकी पुण्य स्मृति में हमारी यही आशंसा है।

परिशिष्ट

निम्नलिखित पंक्तियाँ श्री अगरचंद जी नाहटा ने इस अंक के 'बिहारी सतसई के टीकाकार मानसिंह कवि कौन थे ?' (पृ० ५५-५९) शीर्षक अपने लेख में जोड़ी जाने के लिये भेजी हैं। देर से मिलने के कारण हम इन्हें यथास्थान न रख सके—

वीरकाव्य-संग्रह पृष्ठ ८८ में मान कवि के विषय में लिखा है कि कवि का नाम मंडान तथा उनकी माता का नाम त्रिपुरा था, मान उनका उपनाम था। इस लेखन का आधार कवि की यह उक्ति है—

तिन ध्यौस मात त्रिपुरा सुकवि (सुमरि ?) कीनों ग्रंथ मंडान कवि।

इसका वास्तविक अर्थ यह है कि त्रिपुरादेवी माता को स्मरण कर कवि ने ग्रंथ बनाया। अत: वीरकाव्यसंग्रह के संपादक का मान कवि के विषय में उपर्युक्त लेखन सर्वथा गलत है।

सभा का अर्धशताब्दी-महोत्सव

४८ वर्ष हो चले, संवत् १९५० में नागरीलिपि तथा हिंदी भाषा और साहित्य की रक्षा, प्रचार एवं उन्नति के उद्देश्य से काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई थी। दो वर्ष बाद सभा के ५० वर्ष और संयोगत: विक्रम-संवत् के २००० वर्ष पूरे हो जायँगे। यह एक महत्त्वपूर्ण संयोग होगा। सभा चाहती है कि यह संयोग यथेष्ट महत्त्वपूर्ण ही सिद्ध हो, संवत् २००० में सभा की अर्धशताब्दी और विक्रम-संवत् की द्विसहस्राब्दी की पूर्त्ति पर एक गौरवमय और स्मरणीय महोत्सव मनाया जाय।

शताब्दी, उसके पादभाग या अर्धभाग, अथवा सहस्राब्दी की पूर्त्ति पर महोत्सव या जयंती मनाने की आधुनिक परिपाटी उपादेय है। इससे पीछे का उपयोगी सिंहावलोकन और आगे के लिये आवश्यक उत्साहवर्द्धन होता है।

सभा हिंदी की प्रमुख संस्था रही है। इसके ५० वर्षों का इतिहास हिंदी भाषा और साहित्य के उतने वर्षों के इतिहास का प्रमुख भाग सिद्ध होगा। इसकी अर्धशताब्दी इसकी प्रगति के साथ उतने

काल की हिंदी की सर्वांगीण प्रगति के लेखे के लिये तथा भविष्य की संभावनाओं और आवश्यकताओं के यथोचित विचार के लिये बड़े महत्त्व का अवसर उपस्थित करेगी। विक्रम-संवत् की द्विसहस्राब्दी इस अवसर को विशेष महत्त्व प्रदान करेगी।

सभा इस महोत्सव के लिये यथोचित योजना बना रही है। यह महोत्सव तो हिंदी-प्रेमी मात्र का महोत्सव होगा। इसकी सफलता के लिये सभा सबसे सभी प्रकार के सहयोग की आशा करती है। हमें विश्वास है कि हिंदीप्रेमीजन इस ओर यथासमय ध्यान देंगे और सभा का अर्धशताब्दी-महोत्सव यथेष्ट गौरवमय और स्मरणीय होगा।

—कृ।

समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकों की सूची अगली सूची के साथ अगले अंक में प्रकाशित होगी—सं०

सभा की प्रगति

सभा के सभापति आचार्य रामचंद्र शुक्ल के २० माघ १९९७ को दिवंगत हो जानेपर रायसाहब ठा० शिवकुमारसिंह सभापति चुने गये थे।

सभा के संवत् १९९८ के वार्षिक विवरण में गत चैत्र मास तक की प्रगति का विवरण दे दिया गया है।

सभा का ४८ वाँ वार्षिक अधिवेशन २१ वैशाख १९९८ को सफलता-पूर्वक संपन्न हुआ, संवत् १९९७ का आय-व्यय का ब्योरा और वार्षिक विवरण तथा सं० १९९८ के लिये आय-व्यय का अनुमान-पत्र स्वीकृत हुआ। सभा के पदाधिकारियों और ना० प्र० स० के सदस्यों का चुनाव भी हुआ जिसका परिणाम निम्नलिखित है—

सभा के पदाधिकारी

सं० १९९८ के लिये

सभापति—राय बहादुर पं० कमलाकर द्विवेदी, सुधाकर रोड, खजुरी, बनारस छावनी।

उपसभापति—(१) पं० रामनारायण मिश्र, कालभैरो, काशी।

(२) पं० रमेशदत्त पांडेय, बरना का पुल, काशी।

प्रधान मंत्री—पं० लल्लीप्रसाद पांडेय, मलदहिया, काशी।

साहित्यमंत्री—पं० पद्मनारायण आचार्य, भदैनी, काशी।

अर्थमंत्री—बाबू जीवनदास अग्रवाल, महाजनी पाठशाला, काशी।

प्रबंध-समिति के सदस्य

सं० १९९८ से २००० के लिये

बाबू कृष्णदेवप्रसाद गौड़, बड़ीपियरी, काशी। श्री राय कृष्णदास, रामघाट, काशी। श्री वंशगोपाल झिंगरन, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, काशी। पंडित विद्याभूषण मिश्र, मामूरगंज, काशी। श्रीमती कमला-कुमारी, सराय गोवर्द्धन, काशी। डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ। पं० अयोध्यानाथ शर्मा, सनातनधर्म कालेज, कानपुर। पं० रामेश्वर गौरीशंकर ओझा, ढढ्ढों की हवेली, अजमेर। पुरोहित हरिनारायण शर्मा, तहबीलदार का रास्ता, जयपुर। स्वामी हरिनामदास उदासीन, श्री साधुबेला

तीर्थ, सक्खर, सिंध। पं० दशरथ ओझा, माडर्न स्कूल, नई दिल्ली। श्री सत्यनारायण लोया हाईकोर्ट वकील, रेजिडेंसी रोड, हैदराबाद, दक्षिण। जी० सच्चिदानंद, १०५५ नंजराज, अग्रहर, मैसूर।

सं० १९९८-९९ के लिये

बाबू राधेकृष्णदास, शिवाला, काशी। श्री सहदेवसिंह ऐडवोकेट, बड़ी पियरी, काशी। राय सत्यव्रत, लहरतारा, बनारस छावनी। श्री कृष्णानंद, ३।१७८ अर्दली बाजार, बनारस छावनी। पं० चंद्रबली पांडेय, पो० लंका, बनारस। रायबहादुर श्री रामदेव चोखानी, ठि० श्री दौलतराम रामदेव, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता। डा० सच्चिदानंद सिनहा, पटना। पं० जगद्धर शर्मा गुलेरी, पंजाब कृषि महाविद्यालय, लायलपुर। पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी, दारागंज, प्रयाग। पं० भोलानाथ शर्मा, बरेली कालेज, बरेली। श्री अगरचंद नाहटा, बंदर बाजार, सिलहट, असम। बाबू मूलचंद अग्रवाल, विश्वमित्र कार्यालय, १४।१ ए, शंभू चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता। बाबू लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु', जिला बोर्ड, पूर्णिया।

सं० १९९८ के लिये

बाबू मुरारिलाल केडिया, नंदन साहु की गली, काशी। पं० केशवप्रसाद मिश्र, भदैनी, काशी। बाबू ठाकुरदास ऐडवोकेट, राजादरवाजा, काशी। रायसाहब ठाकुर शिवकुमारसिंह, बैजनत्था, बनारस। बाबू व्रजरत्नदास, ऐडवोकेट, बुलानाला, काशी। श्री दत्तो वामन पोतदार, १०८ शनिवार पेठ, पूना। श्री ब्योहार राजेंद्र सिंह, साठिया कुआँ, जबलपुर। श्री सरदार माधवराव विनायकराव किबे, इंदौर छावनी। पं० श्यामसुंदर उपाध्याय, सेक्रेटरी, जिला बोर्ड, बलिया। पं० श्रीचंद्र शर्मा, रघुनाथ स्ट्रीट, जम्मू। डा० हीरानंद शास्त्री, डाइरेक्टर आव आर्क्योलाजी, बड़ौदा राज्य, बड़ौदा। श्री० नां० नागप्पा, ९४४ चामुंडी बढ़ावण, मैसूर। श्री० पी० बी० आचार्य, आल इंडिया रेडियो, मद्रास।

आयव्यय-निरीक्षक (सं० १९९८ के लिये)—बाबू गुलाबदास नागर।

१ फाल्गुन से ३० बैशाख १९९८ तक सभा में २५) या अधिक दान देनेवाले सज्जनों की नामावली

प्राप्ति-तिथि	दाता का नाम	धन	प्रयोजन
५ फाल्गुन ९७ / १५ चैत्र ९७	श्री प्यारेलाल गर्ग—गोरखपुर	२००)	श्री महेंदुलाल गर्ग विज्ञान ग्रंथावली
२० फाल्गुन	श्री रामेश्वरसहाय सिन्हा—काशी	१००)	स्थायी कोष
२१ " "	श्री प्रांतीय सरकार	२५०)	पुस्तकालय
२२ " " / ११ चैत्र ९७	म्युनिसिपल बोर्ड बनारस	३६०)	"
२६ फाल्गुन ९७	श्री प्रांतीय सरकार	५००)	हिंदी पुस्तकों की खोज यू० पी०
३ चैत्र ९७	श्रीमती रमाबाई जैन डालमियानगर	१००)	स्थायी कोष
७ " "	श्री सुखदेव शरण केदारनाथ भार्गव—बंबई	१००)	" "
८ " "	श्री सेठ घनश्यामदास बिड़ला—पिलानी	२००)	कलाभवन
१९ " "	श्री प्रो० लालजीराम शुक्ल—काशी	१००)	स्थायी कोष
२६ " "	श्री गोपीकृष्ण कानोड़िया—कलकत्ता	२००)	कलाभवन
२६ " "	श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़—काशी	१००)	स्थायी कोष
२ वैशाख ९८	श्रीमती रामदुलारी देवी दूबे—अजमेर	१०००)	श्री रुक्मिणी देवी ग्रंथमाला
४ वैशाख ९८	श्री कमलाप्रसाद सिंह कलकत्ता	१०१)	स्थायी कोष
६ " "	श्री रामचंद्र शर्मा वैद्य—अजमेर	१००)	"
१९ " "	श्री राजा पन्नालाल वंशीलाल—हैदराबाद	१००)	"
	"	४००)	सूरसागर
२१ " "	श्री लक्ष्मीनारायण पोद्दार—कलकत्ता	१००)	स्थायी कोष
२६ " "	श्री प्रांतीय सरकार	२५००)	कलाभवन
३० " "	श्री प्यारेलाल गर्ग—गोरखपुर	१००)	श्री महेंदुलाल गर्ग विज्ञान ग्रंथावली
		५६११)	

टि०—जिन सज्जनों के चंदे किस्त से आते हैं उनके नाम पूरी रकम प्राप्त हो जाने पर प्रकाशित किए जायँगे।

हमारी परिवर्तन-सूची

अद्यार लाइब्रेरी बुलेटिन (अँगरेजी)	अद्यार
अर्जुन	दिल्ली
आंध्र साहित्य परिषत पत्रिका (अँगरेजी)	कोकोनाडा
आकाशवाणी	लखनऊ
आज (१) दैनिक और (२) साप्ताहिक	काशी
आरती	पटना
आर्य	लाहौर
आर्यमार्त्तंड	अजमेर
आर्यमित्र	आगरा
इंडियन पी० ई० एन० (अँगरेजी)	बंबई
इंडियन हिस्टारिकल कार्टर्ली (अँगरेजी)	कलकत्ता
इंस्टीटल ईंस ओरिएंटल इंस एकेडेमी साइंस (रूसी)	लेनिनग्राड
उर्दू	दिल्ली
एनलस आव ओरिएंटल रिसर्च आव दी युनिवर्सिटी आव मद्रास (अँगरेजी)	मद्रास
एनल्स आव दी भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट (अँगरेजी)	पूना
एनल्स आव दी श्री वेंकटेश्वर ओरिएंटल इंस्टीट्यूट (अँगरेजी)	तिरुपति
एनुअल बिब्लिओग्राफी आव इंडियन आर्क्यालाजी (अँगरेजी)	लीडन
एपिग्राफिया इंडिका (अँगरेजी)	ऊटकमंड
ओरिएंटल कालेज मेगजीन (अँगरेजी)	लाहौर
ओरिएंटल लिटरेरी डाइजेस्ट (अँगरेजी)	पूना
कर्नाटक हिस्टारिकल रिव्यू (अँगरेजी)	धारवाड़
कर्मवीर	खंडवा

कल्पवृक्ष	उज्जैन
कल्याण	गोरखपुर
केसरी (मराठी)	पूना
गुजराती पंच (गुजराती)	अहमदाबाद
जर्नल आव दी ग्रेटर इंडिया सोसाइटी (अँगरेजी)	कलकत्ता
जर्नल आव दी बनारस हिंदू युनिवर्सिटी (अँगरेजी)	बनारस
जर्नल आव दी बांबे ब्रांच आव दी राएल एशियाटिक सोसाइटी (अँगरेजी)	बंबई
जर्नल आव दी बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी (अँगरेजी)	पटना
जर्नल आव दी मद्रास ज्याग्राफिकल असोसिएशन (अँगरेजी)	मद्रास
जर्नल आव दी मिथिक सोसाइटी (अँगरेजी)	बंगलोर
जर्नल आव दी युनिवर्सिटी आव बांबे (अँगरेजी)	बंबई
जर्नल आव दी यू० पी० हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी (अँगरेजी)	इलाहाबाद
जर्नल आव दी रायल एशियाटिक सोसाइटी (अँगरेजी)	लंदन
जर्नल आव दी हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी (अँगरेजी)	राजमहेंद्री
जीवनसाहित्य	नई दिल्ली
जैन सिद्धांत भास्कर	आरा
थियोसाफिस्ट (अँगरेजी)	काशी
दीपक	अबोहर
धर्मदूत	सारनाथ
नई तालीम	वर्धा
पूना ओरिएंटलिस्ट (अँगरेजी)	पूना
प्रताप (१) दैनिक, (२) साप्ताहिक	कानपुर
प्राचीन भारत	कलकत्ता
प्राची प्रकाश	रंगून
बंगीय साहित्य परिषत् पत्रिका	कलकत्ता
बालहित	उदयपुर

बुलेटिन आव दी डेकन कालेज पोस्ट ग्रेजुएट एंड रिसर्च इंस्टीट्यूट (अँगरेजी)	पूना
बुलेटिन आव दी म्यूजियम आव फाइन आर्ट्स (अँगरेजी)	बोस्टन
बुलेटिन आव दी स्कूल आव ओरिएंटल स्टडीज (अँगरेजी)	लंदन
भारत (१) दैनिक (२) साप्ताहिक	इलाहाबाद
भारत इतिहास संशोधक मंडल (मराठी)	पूना
भारतीय विद्या(अँगरेजी) और (हिंदी-गुजराती)	बंबई
भूगोल	इलाहाबाद
महाराष्ट्र साहित्य परिषत् पत्रिका (मराठी)	पूना
माधुरी	लखनऊ
लीडर अर्द्धसाप्ताहिक (अँगरेजी)	इलाहाबाद
विचार	कलकत्ता
विज्ञान	इलाहाबाद
विश्वभारती (अँगरेजी)	शांतिनिकेतन
विश्वमित्र (१) दैनिक (२) साप्ताहिक (३) मासिक	कलकत्ता
वीणा	इंदौर
वैदिक धर्म	औंध
शनिवारेर चीठी (बँगला)	कलकत्ता
शिक्षण अने साहित्य (गुजराती)	अहमदाबाद
श्रीवेंकटेश्वरसमाचार	बंबई
शुभचिंतक	जबलपुर
संगीत	हाथरस
सब की बोली	वर्धा
समय	जौनपुर
सम्मेलन पत्रिका	इलाहाबाद
सरस्वती	इलाहाबाद
सर्वोदय	वर्धा
सार्वदेशिक	दिल्ली

साहित्यसंदेश	आगरा
सिद्धांत	काशी
सुधा	लखनऊ
सेवा	इलाहाबाद
हंस	बनारस
हारवर्ड जर्नल आव एशियाटिक स्टडीज (अँगरेजी)	कैंब्रिज मसाचुसेट्स
हिंदीप्रचार समाचार	मद्रास
हिंदी शिक्षापत्रिका	बड़वानी
हिंदुस्तानी	इलाहाबाद

बिड़ला पुरस्कार तथा रेडिचे पदक

२००) का यह पुरस्कार सं० १९९७ से प्रति चौथे वर्ष धर्मशास्त्र, योग, आचार शास्त्र, नागरिक शास्त्र, मनोविज्ञान तथा अन्य ऐसे विषयों के सर्वोत्तम ग्रंथ के लेखक को दिया जायगा। इस बार यह पुरस्कार १ माघ सं० १९९३ से २९ पौष १९९७ तक (१४ जनवरी १९३७ से १३ जनवरी १९४१ तक) के भीतर प्रकाशित उपर्युक्त विषयों के सर्वोत्तम ग्रंथ पर दिया जानेवाला है। विद्वानों के आग्रह से विचारार्थ पुस्तकें भेजने की अवधि बढ़ा कर १५ अगस्त १९४१ तक कर दी गई है। लेखकों से अनुरोध है कि वे उक्त पुरस्कार के लिए निर्दिष्ट अवधि के भीतर अपनी रचनाओं की पाँच पाँच प्रतियाँ विचारार्थ भेजने की कृपा करें। इस पुरस्कार के साथ ही 'रेडिचे रौप्य पदक' भी दिया जायगा।

द्विवेदी स्वर्णपदक

स्वर्गीय आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रदान की हुई निधि से यह स्वर्णपदक हिंदी में सर्वोत्तम पुस्तक के रचयिता को दिया जाता है। इस वर्ष यह पदक १ वैशाख १९९५ से ३० चैत्र १९९६ तक (१४ अप्रेल १९३८ से १३ अप्रेल १९४० तक) प्रकाशित सर्वोत्तम पुस्तक पर दिया जायगा। इस पदक के लिए विचारार्थ पुस्तकें भेजने की अवधि भी बढ़ाकर १५ अगस्त १९४१ तक कर दी गई है। पुस्तकों की ५-५ प्रतियाँ आनी आवश्यक हैं।

प्रधान मंत्री
नागरी-प्रचारिणी सभा,
काशी।

आवश्यक निवेदन

सभा के निम्नलिखित प्रकाशन अप्राप्य हो गए हैं। इस समय इनकी कुछ प्रतियों की सभा को बड़ी आवश्यकता है। जिन सज्जनों के पास इन प्रकाशनों में से कोई भी पुस्तक या पत्रिका हो वे यदि अपनी प्रति सभा को सहायता के रूप में दे सकें तो सभा उनकी अनुगृहीत होगी और उनका नाम सधन्यवाद प्रकाशित किया जायगा।

जो सज्जन सहायता के रूप में अपनी प्रतियाँ न दे सकें वे चाहें तो सभा उन्हें उतने ही मूल्य के अपने अन्य प्रकाशन बदले में देगी। आशा है सभा के सभासद अथवा अन्य हितैषी सज्जन इस प्रार्थना पर ध्यान देकर सभा की सहायता करेंगे।

अप्राप्य प्रकाशन

पुस्तकें—आत्मशिक्षण, अखरावट, रास-पंचाध्यायी, मित्रलाभ, व्यवहारपत्र-दर्पण, समालोचनादर्श, कोश कमेटी की रिपोर्ट।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका—वर्ष ४४, अंक १, ३, ४।

रिपोर्ट—सभा की वार्षिक रिपोर्ट सन १८९४, १८९५, १८९६, १८९७, १९००, १९०१, १९०३, १९०६, १९१०, १९१२, १९१४, १९२०, संवत् १९८३, १९८४।

प्रधान मंत्री
नागरी प्रचारिणी सभा
काशी

हिंदी-साहित्य सम्मेलन प्रयाग के नए प्रकाशन

१—प्रेमघनसर्वस्व (प्रथम भाग)—ब्रजभाषा के आचार्य स्वर्गीय पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की संपूर्ण कविताओं का सुसंपादित और संपूर्ण संग्रह। भूमिका माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टंडन और प्रस्तावना आचार्य पंडित रामचंद्र शुक्ल ने लिखी है। मूल्य ४॥)।

२—वीरकाव्य संग्रह—हिंदी-साहित्य के वीररस के कवियों की चुनी हुई सर्वश्रेष्ठ कविताएँ और उनके साहित्य की विस्तृत आलोचना। संपादक श्री भागीरथप्रसाद दीक्षित साहित्यरत्न और श्री उदयनारायण त्रिपाठी एम० ए०। मूल्य २)।

३—डिंगल में वीररस—डिंगल भाषा के आठ श्रेष्ठ वीररस के कवियों की कविताएँ तथा उनकी साहित्यकृतियों की विस्तृत आलोचना। संपादक श्री मोतीलाल मेनारिया एम० ए०। मूल्य १॥)।

४—संक्षिप्त हिंदी साहित्य—हिंदी साहित्य का संक्षिप्त और आलोचनात्मक इतिहास। प्राचीन काल से आधुनिक काल तक की हिंदी साहित्य की समस्त धाराओं तथा प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हुए विद्यार्थियों के लिये यह पुस्तक लिखी गई है। लेखक पंडित ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'। मूल्य ॥)।

५—चित्ररेखा—हिंदी के प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि प्रोफेसर रामकुमार वर्मा एम० ए० की कविताओं का अपूर्व संग्रह। लेखक को इसी पुस्तक पर देव पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। मूल्य १॥)।

आधुनिक कवि—सुप्रसिद्ध कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा एम० ए० की लिखी हुई अब तक की सर्वश्रेष्ठ कविताओं का संग्रह। यह संग्रह स्वयं कवयित्री ने किया है और पुस्तक के प्रारंभ में अपनी कविताओं की प्रवृत्तियों के संबंध में प्रकाश डाला है। मूल्य १॥)।

सम्मेलनपत्रिका

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग की यह मुखपत्रिका है। इसमें प्रति मास पठनीय साहित्यिक लेख प्रकाशित होते हैं। हिंदी के प्रचार और प्रसार पर विस्तृत प्रकाश डाला जाता है। सम्मेलन की प्रगति का परिचय प्रतिमास मिलता रहता है। इसके संपादक साहित्य-मंत्री श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' हैं। वार्षिक मूल्य केवल १)।

पता—
साहित्यमंत्री,
हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ४६–अंक २ [नवीन संस्करण] श्रावण १९९८

ईरानी सम्राट् दारा का शूषा से मिला हुआ शिलालेख

[लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

ईरान और उसके पश्चिम में फैला हुआ विशाल भू-प्रदेश संसार की पुरातन सभ्यताओं के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखता है। यह किसी समय आर्य-जाति का लीला-क्षेत्र रहा है और काल के चढ़ाव-उतार से आर्यों की प्रतिद्वंद्वी असुर जाति ने भी इसी प्रदेश में अपनी सभ्यता का विकास किया। इस लंबे इतिहास की कथा मानवी दृष्टि से जितनी रोचक है, भारतीय दृष्टि से हमारे प्राचीन इतिहास के उद्घाटन के लिये उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन भारतीय इतिहास की गौरव-गाथा के अनेक पृष्ठ पश्चिमी एशिया में प्रकट हुए। प्राचीन शिलालेखों की दृष्टि से तिग्रा (दजला, Tigris) और उफ्रातु (फरात, Euphrates) की अंतर्वेदी एक कामधेनु है। यह परम आवश्यक है कि भारतीय इतिहास के विद्वान् इस प्राचीन सामग्री का मौलिक अध्ययन करके अपने इतिहास से संबंधित विषयों को ग्रहण करें।

इन शिलालेखों में ईरानी सम्राट् दारयवउ (दारा, Darius) के लेख सबसे महत्त्व के हैं। दारयवउ हखामनि (Achaemenian) वंश के सबसे प्रतापी सम्राट् थे। इस वंश के राजाओं की तालिका इस प्रकार है—

१—कुरुष् (Cyrus) ई० पू० ५५८—५२८।

२—कंबुजिय (Cambyses) ई० पू० ५२८—५२१।

३—बर्दिय (Smerdis) ई० पू० ५२१।

४—दारयवउ प्रथम (दारा, Darius) ई० पू० ५२१—४८५।

५—खषयार्ष प्रथम (Xerxes) ई० पू० ४८५—४६५।

६—अर्तखषश प्रथम (Artaxerxes) ई० पू० ४६५—४२५।

७—खषयार्ष द्वितीय (Xerxes) " " ४२५—४२४।

८—दारयवउ द्वितीय (दारा, Darius) " " ४२४—४०४।

९—अर्तखषश द्वितीय (Artaxerxes) " " ४०४—३५९।

१०—अर्तखषश तृतीय (Artaxerxes) " " ३५९—३३८।

११—अर्ष (Arses) " " ३३८—३३६।

१२—दारयवउ तृतीय (Darius) " " ३३६—३३०।

इस प्रकार महाप्रतापी कुरुष् के द्वारा, जिसकी तुलना महाराज अशोक से की जाती है, जिस राज्य की स्थापना हुई वह दो शताब्दियों से ऊपर अपने वैभव का विस्तार करके यूनानी विजेता सिकंदर के हाथों नष्ट हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से दारयवउ प्रथम के तीन लेख प्रसिद्ध हैं :—

(१) ईरान के नगर किर्मनशाह के पूर्व में स्थित बहिस्तून (Behistun) पहाड़ी का लेख। इसमें दारयवउ सम्राट् ने अपनी दिग्विजय की गौरवपूर्ण कहानी तीन भाषाओं और तीन लिपियों में खुदवाई थी। बहिस्तून या 'बीसितून का प्राचीन नाम 'बगिस्तन' (संस्कृत भगस्थान)*

* अँगरेजी Behistun अथवा Bahistun नाम प्रसिद्ध हो गया है। पर फारस में इसका उच्चारण बीसितून या बीसुतून है जो पहाड़ी के नीचे उससे सटा हुआ एक छोटा सा गाँव है। इसका प्राचीन नाम डिओडोरस (ई० पू० ४४) की पुस्तक में बगिस्तन मिलता है जो बगस्तन (संस्कृत भगस्थान; ईरानी भग = देव) का रूप है।

अर्थात् देवों का स्थान था। इस चट्टान के पास से एक मार्ग जाता था जो प्राचीन 'बाबिरु' (बबेरु, Babylon) और 'हगमतान' (Ecbatana, modern Hamadan) आधुनिक हमदान को मिलाता था। इसी राजमार्ग पर दारयवउ का यह लेख और उसकी प्रतिमा लगभग ढाई सहस्र वर्ष बाद आज भी सुरक्षित हैं। यह लेख "The Inscription of Darius, the Great at Behistun" नामक पुस्तक में, जो ब्रिटिश म्यूजियम से प्रकाशित हुई है, तीनों भाषाओं में बड़े सुंदर ढंग से संपादित हुआ है।

(२) दूसरा नक्शे-रुस्तमं पहाड़ी का लेख है। यह प्राचीन पर्सिपोलिस (Persepolis) नगर के उत्तर में हुसैन कोह नामक पहाड़ में खुदी हुई गुफा के द्वार पर है, जहाँ कि सम्राट् दारयवउ की समाधि बनी हुई है। इस बड़े लेख में सम्राट् की दिग्विजय का वर्णन एवं जीते हुए देशों की नामावली है।

(३) शूषा के राजमहल से संबंध रखनेवाले लेख। शूषा प्राचीन इलम (Elam) देश की राजधानी थी। यहाँ ईरानी सम्राटों ने अपने रहने के लिये बहुत ही सुंदर भव्य प्रासाद बनवाए थे। शूषा के सबसे प्रसिद्ध लेख का संबंध दारयवउ प्रथम के राजप्रासाद से है। इसे पाश्चात्य लेखकों ने Magna Charta of Susa or Charter of Foundation अर्थात् शूषा का प्रधान लेख अथवा शूषा के राजमहल का शिलान्यास-पत्र कहा है। इस लेख में उस समस्त सामग्री का वर्णन है जो प्रासाद-निर्माण के लिये विशाल ईरानी साम्राज्य के भिन्न भिन्न प्रदेशों अथवा उसके बाहर के देशों से मँगवाई गई थी। यही इसकी विशेषता है। मूल लेख मिट्टी के फलकों पर कीलाक्षर लिपि (Cuneiform characters) में खुदा हुआ है। पूरा लेख ईंटों के कई टुकड़ों को जोड़कर इकट्ठा किया गया है और उसके खोए हुए अंशों को विद्वानों ने बड़े परिश्रम से पूरा किया है। यह लेख तीन भाषाओं में मिला है, अर्थात प्राचीन ईरानी भाषा, शूषा या इलम की भाषा (Elamite language) और अक्कदी भाषा (Accadian language)। इनमें से प्राचीन

ईरानी भाषा का लेख संस्कृत के सबसे अधिक सन्निकट है। पारसी विद्वान् जे० एम० ऊनवाला ने "The Ancient Persian Inscriptions of the Achaemenides found at Susa" पुस्तक में १९२९ में इन लेखों का अँगरेजी अनुवाद सहित संपादन किया। अमरीका की प्राच्य परिषद् के त्रैमासिक पत्र में पैंसिलवेनिया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर आर० जी० केंट ने भी मूल लेख को अँगरेजी अनुवाद सहित प्रकाशित किया है।* अभी हाल ही में कलकत्ता विश्वविद्यालय के डा० सुकुमार सेन ने हखामनि वंश के सम्राटों के समस्त लेख एकत्र पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिए हैं। प्रूफ देखते समय हम इस पुस्तक का उपयोग कर सके।†

मूल लेख

जैसा कि विभिन्न टुकड़ों के तुलनात्मक अध्ययन से पूरा किया गया है :—

१—बग वज़र्क अउरमज़्दा ह्य इमाम् बूमिं अ-	१—बुज़ुर्ग देव अहुर मज़्दा [है] जिसने इस भूमि को बनाया,
२—दा ह्य अवम् अस्मानम् अदा ह्य मर्तियम् अदा	२—जिसने उस आसमान को बनाया, जिसने मनुष्य को बनाया,
३—ह्य षियातिम् अदा मर्तियह्या ह्य दार-	३—जिसने मनुष्य के लिये स्वस्ति भाव बनाया, जिसने
४—यवउम् ख्षायथियम् अकुन-उष् ऐवम् परूनाम् ख्षायथि-	४—दारयवउ को राजा बनाया, एक राजा अनेकों का,

* Journal of the American Oriental Society, Vol. 51, 1931, The recently published old Persian inscriptions, pp. 189-240, by R. G. Kent.

† Dr. Sukumar Sen: Old Persian Inscriptions (Calcutta University), pp. 1-290. इस पुस्तक में मूल लेख प्राचीन ईरानी भाषा में, फिर संस्कृत छाया और अँगरेजी अनुवाद तथा टिप्पणियाँ दी गई हैं।

५—यम् ऐवं परूनाम् फ्रमातारम् अदम् दार-

६—यवउष् ख्षायथिय वज्रर्क ख्षायथिय ख्षायथियानाम् ख्षायथिय दह्यूनाम् ख्षायथिय-

७—अह्याया बूमिया विष्तास्प ह्या पुष् ह्खाम-

८—निषिय। थातिय दारयव-उष् ख्षायथिय अउर मज्दा-

९—ह्य मथिष्त बगानाम् हउव् माम् अदा ह-

१०—उव् माम् ख्षाथियम् अकुन-उष् ह् उव मइय् इम ख्ष-

११—शम् फ्रावर त्य वज्रर्कम् त्य उवस्पम् उम-

१२—र्तियम् वष्ना अउर मज्दा ह् ह्य मना पिता-

१३—विष्तास्प उता अर्षाम ह्य मना नियाक

१४—अवथा उबा अजीवतम् यदिय अउर मज्दा मा-

१५—म् ख्षायथियम् अकुनउष् अह्याया बूमिआ अउर मज्दू-

१६—आ-मइय् अस्पं हरुव ह्याया बूमिआ उता मर्-

१७—तियम् अदा माम् ख्षाय-थियम् अकुनउष् अउर मज्दा-

५—एक विधाता अनेकों का। मैं दारयवउ-

६—राजा बुजुर्ग, राजा राजाओं का, राजा देशों का, राजा

७—इस भूमि का, विष्तास्प का पुत्र जो ह्खामनि वंश का था।

८—राजा दारयवउष् कहते हैं—अहुरमज्दा

९—जो देवों में महान् है, उसने मुझे उत्पन्न किया, उस

१०—ने मुझे राजा बनाया, उसने मुझे इस राज्य

११—को प्रदान किया, बड़े (राज्य) को, सुंदर अश्व और

१२—मनुष्यों से युक्त को अहुर मज्दा की कृपा से जो मेरा पिता

१३—विष्तास्प और जो मेरा पितामह अर्षाम

१४—था, तब दोनों जीते थे, जब अहुरमज्दा ने मुझ-

१५—को इस भूमि का राजा बनाया। अहुर मज्दा

१६—ने मेरे लिये सब भूमि पर अश्व और मनुष्य

१७—उत्पन्न किए; उसने मुझे राजा बनाया अहुरमज्दा ने

१८—मइय उपस्ताम् फ्राबर अउर मज़्दाम अदम् अयद्-

१९—इय् अउर मज़्दा ह्य मथिष्त बगानाम् त्य मइय्-

२०—अथह् चर्तनइय् अव विसम दस्तामइय् कर्तम्-

२१—अव विसम् अउर मज़्दा अकुनउष वष्ना अउ-

२२—रमज़्दाह् इम हदिष् अकुनवम् त्य शूषाया

२३—अकरिय दूरदष् याता इदा अर्जनम् फ्राबर-

२४—इय् बूमि अकनिय् याता अथगम् बूम्या अवारसम्-

२५—यथा कतम् अबव पसाव थिका अकनिय अनिया-

२६—४० अरष्नीष् बष्नां अनिया २० अरष्नीष् बर्ष्-

२७—ना उपरिय् अवाम् थिका हदिष् फ्रासह्य्

२८—उता त्य बूमि अकनिय फ्रवत उता त्य थिका-

२९—अकनिय् उता त्य इष्तिष् अजनिय् कार ह्य बा-

३०—बिरुविय हउव् अकुनउष् धरमिष् ह्य नउ-

१८—मुझे मदद पहुँचाई, अहुरमज़्दा की मैंने पूजा की,

१९—अहुरमज़्दा जो देवों में महान् है, उसने जो मुझसे

२०—करने को कहा, वह सब मेरे हाथ से किया गया—

२१—वह सब अहुर मज़्दा ने किया। कृपा से अहुर-

२२—मज़्दा के इस महल को मैंने बनवाया जो शूषा में

२३—बनाया गया। दूर से उसकी सजावट का सामान (अर्जन) लाया गया।

२४—यह भूमि खोदी गई जब तक मैं भूमि की पथरीली सतह पर पहुँच गया।

२५—जब खुदाई हो चुकी, तब बजरी (थिका) भरी गई, एक जगह

२६—४० अरत्नि गहराई तक, दूसरी जगह २० अरत्नि गहराई तक।

२७—इस बजरी के ऊपर महल बनाया गया।

२८—और जो भूमि नीचे खोदी गई, जो बजरी

२९—भरी गई, और जो ईंटें बनाई गईं, वे जो बाबिरु के लोग हैं

३०—उन्होंने (वह) किया। लकड़ी जो सनोबर की है,

३१—रिन हउव् लबनान नाम कउफ़ हचा अवना अब-	३१—वह, लबनान नाम पहाड़ (है), वहाँ से लाई
३२—रिय् कार ह्य अथुरिय हउदिम् अबर याता	३२—गई। जो अथुरिय (असुर देश) के लोग हैं, वे इसे लाए
३३—बाबिरुव हचा बाबिरउव कर्का उता यउ-	३३—बाबिरु तक; बाबिरु से कर्क और यवन
३४—ना अबर याता शूषाया यका हचा गदारा	३४—शूषा तक लाए। बलूत की लकड़ी* गंधार
३५—अबरिय् उता हचा कर्माना दरनियम् हचा	३५—और कर्मान से लाई गई। सोना
३६—स्पर्दा उता हचा बाख्त्रिया अबरिय् त्य	३६—स्पर्द और बाख्त्री से लाया गया, जो
३७—इदा अकरिय् कासक ह्य कपउतक उता सिकब-	३७—यहाँ गढ़ा गया। काच पत्थर, जो कपोत और सिकब [किस्म का] है,
३८—उद् ह्य इदा कर्त हउव् हचा सुगुदा अब-	३८—जो यहाँ गढ़ा गया, वह सुगुद से लाया
३९—रिय् कासक ह्य अख्षिन हउव् हचा उवारज्-	३९—गया। लाल पत्थर, वह उवांरज्मिय (ख्वारिज्म)
४०—मिया अबरिय् ह्य इदा कर्त अर्दतम् उता अ-	४०—से लाया गया, जो यहाँ गढ़ा गया। चाँदी और
४१—सद दारुव हचा मुद्राया अबरिय् अर्-	४१—ताँबा मिस्र (मुद्रा) से लाया गया।
४२—जनम् त्यना दिदा पिष्ता अब हचा यउना	४२—सजावट की सामग्री जिससे दीवार सजाई गई, वह यूनान से
४३—अबरिय् पिरुष् ह्य इदा कर्त हचा कुष्-	४३—लाई गई। हाथीदाँत जो यहाँ बनाया गया, कुष देश से

* यका, Oak.

४४—आ उता हचा हिंदउव् उता हचा हरउवत

४५—इया अबरिय् स्तूना अथ-गइनिय् त्या इदु-

४६—आ कर्ता अबिरादुष् नाम आवहनम् उजइय

४७—हचा अवदष अबरिय् मर्तिया कर्नुवका त्-

४८—यइय् अवदा अकुनवता अवइय् यउना उता

४९—स्पर्दा मर्तिया दारनियकार त्यइय् दरनि-

५०—यम् अकुनवष अवइय् मादया उता मुद्राय्

५१—आ त्यइय् कासकइषुव् अकुनवष अवइय्

५२—स्पर्दा उता मुद्राया मर्तिया त्यइय्

५३—इष्टिया अकुनवष अवइय् बाबिरुविया

५४—उता यउना त्यइय् दिदाम् अपिय् अवइय् माद-

५५—या उता मुद्राया थातिय् दारयवउष् ख्षायथिय् नष्-

५६—ना अउरमज्दाह फ्रषम् हनिदातम् परिदिष्तम् अ-

४४—और हिंद से, और हरहौती से

४५—लाया गया। पत्थर के खंभे जो यहाँ

४६—गढ़े गए, उज देश में अबिरादु नाम नगर है,

४७—वहाँ से लाए गए। संगतराश

४८—जिन्होंने वहाँ काम किया, वे यूनान और

४९—स्पर्द देश के थे। कारीगर जिन्होंने सोने का काम

५०—बनाया, वे माद और मुद्रा (मिस्र) देश के थे।

५१—जिन्होंने कीमती पत्थरों पर काम किया, वे

५२—स्पर्द और मुद्रा के थे। (वे) मनुष्य जिन्होंने

५३—ईंटों का काम किया, वे बाबिरु

५४—और यूनान के थे। जिन्होंने दीवार पर (काम किया) वे माद

५५—और मुद्रा के थे। राजा दारयवउ कहते हैं

५६—कि अहुरमज्दा की कृपा से (मैंने) उत्तम, सुनिहित और दीवारों से युक्त (महल)

५७—अकुनवम् माम् अउरमज़्दा पातुव उता त्यमइय्	५७—बनवाया। अहुर मज़्दा मेरी रक्षा करे, और जो मुझसे
५८—कर्तम् उता त्य मना पिता उतमइय् दह्युम्	५८—बनवाया गया, और जो मेरा पिता है, उसकी और मेरे देश की (रक्षा करे)।

इस लेख से विदित होता है कि दारयवउ के सम्राट् हो जाने के बाद भी उसके पिता विष्तास्प और पितामह अर्षाम दोनों जीवित थे। यह महल विष्तास्प के जीवनकाल में ही पूरा हो गया होगा; क्योंकि लेख के अंतिम भाग में सम्राट् ने अपने पिता की रक्षा के लिये अहुरमज़्दा से वर माँगा है। हर्जफील्ड के अनुसार पर्सिपोलिस का महल ५१८—१७ ई० पू० में बना। तदनुसार शूषा का प्रासाद ५१७-१६ ई० पू० में बना होगा। ५१८ ई० पू० के करीब दारा अपने ईरानी साम्राज्य की निर्विघ्न व्यवस्था करने में समर्थ हुआ। उसने संभवतः ५१७ ई० पू० में मिस्र देश की यात्रा की और कुश देश को अधीन किया।

इस लेख का सब से रोचक भाग वह है जिसमें राजप्रासाद के शिलान्यास और विविध सामग्री का वर्णन है। शूषा में जो अपदन का टीला है उसकी खुदाई से लेख की बहुत सी बातों की सचाई प्रकट होती है। महल की कुर्सी करीब २५० गज लंबी और १५० गज चौड़ी है। वह आसपास की नीची धरती से १५ गज की ऊँचाई पर बनी है। करीब ९ गज चौड़ी दीवारें हैं। उनकी नींव में कंकरीट कुटी हुई है जो करीब ४० फुट गहराई तक है। कंकरीट भरने के लिये जो मिट्टी खोदी गई थी उसका वर्णन २६वीं पंक्ति में है। उसमें लिखा है कि बजरी भरने के लिये ४० अरत्नि से २० अरत्नि (हाथ) तक जमीन खोदी गई। बाबेरु के मजदूरों ने बजरी भराई का काम किया (पं० २८-३०)। ईंटों की तैयारी भी बाबेरु के कारीगरों ने की। वे इस काम में बहुत दक्ष थे। महल की ईंटें बनावट में खुदड़ी, पर साफ मिट्टी की हैं और छाँह में रखकर कच्ची ही सुखा ली गई थीं। भीतों पर चटकीला लाल और नीला रंग पोत दिया गया था जिसके कई नमूने मिले हैं।

इमारत में बलूत (यका, Oak) की लकड़ी, जो गंधार और करमान से लाई गई, और लबनान पर्वत के सनोवर की लकड़ी काम में लाई गई। लबनान से शूषा तक की ढुलाई में यवन, कर्क, असुर और बाबेरु के लोगों ने भाग लिया। छत, दरवाजे, खिड़की और चौखटों पर सुनहले-रुपहले पत्तरों की जड़ाई से सजावट की गई। सोना स्पर्द (Lydia) और बाख्त्री (Bactria) से, चाँदी और ताँबा मिस्र देश से लाकर शूषा में ही गढ़े गए। रंग-बिरंगी पच्चीकारी के लिये कीमती पत्थर काम में लाए गए। सुगुद (Sogdia) से कबूतरी रंग का काच और खारज्म (Khwarizm) से लाल रंग का पत्थर मँगाया गया। हाथीदाँत इथिओपिया, हिंदुस्तान और हरह्वैती से आया। महल की दीवारों पर बाहर की ओर एक तह नक्काशीदार ईंटों की थी जिस पर अनेक प्रकार के धनुर्धर योद्धा, लपकते हुए शार्दूल, गरुडमुखी सिंह, पक्षधारी बैल और पक्षगामी सिंह दिखाई पड़ते थे। इनके बनाने का श्रेय यूनान के शिल्पियों को था। इनमें से कुछ पर नीले पीले काले हरे सफेद और भूरे रंगों का चमकीला पोता फिरा हुआ था। महल में लगे हुए भारी सतून या पत्थर के खंभे (स्थूणा) उज देश से लाकर शूषा में ही यूनान और लिडिआ के संगतराशों से गढ़े गए।

सम्राट् के अधीन पाँच बड़े देश थे—बाबेरु, मिस्र, यूनान, माद (Medes) और स्पर्द (Lydia)। हर एक काम दो दो देशों के कारीगरों को दिया गया। मोटे तौर पर पाँच तरह का काम हुआ। ईंटों की पथाई बाबेरु और यूनान के कारीगरों ने की। पत्थर के खंभों की घड़ाई यूनान और स्पर्द देश के कारीगरों को सौंपी गई। दीवार की सजावट में माद (Medes) और मुद्रा (Egypt) के लोगों ने भाग लिया और इन्हीं लोगों ने सोने की चिथाई और पच्चीकारी का काम किया। कीमती पत्थरों की कटाई और नक्काशी का काम स्पर्द और मुद्रा के लोगों को सौंपा गया। इस प्रकार ईरान-सम्राट् का यह स्वप्न पूरा हुआ। प्राचीन संसार में महाप्रतापी दारयवउ का यह राजप्रासाद अपने सौंदर्य और वैभव में अद्वितीय गिना जाता था। हाँ, यूनानी राजदूत मैगस्थनीज ने जब चंद्रगुप्त मौर्य के पाटलि-

पुत्र में बने हुए सुगांग राजप्रसाद को देखा तब उसे शूषा और पर्सिपोलिस के राजभवन भी फीके जँचने लगे।

शब्दटिप्पणी

१—बग : संस्कृत भग (भगवान्)=देव।

वज्रर्क=महान्, वैदिक वज्रक, (शक्तिशाली), फारसी बुज़ुर्ग। 'बुज़्रक' उपाधि सासानी वंश के सम्राटों के सिक्कों पर मिलती है। वेद में इंद्र के लिये वज्रिन् विशेषण प्रयुक्त होता है।

अउरमज़्दा : अहुरमज़्द, सं० असुरमेधस्। ईरान के प्राचीन धर्म में देवाधिदेव की संज्ञा। ईरानी सम्राटों के शिलालेखों में अहुरमज़्द का नाम बार बार आता है। दारा के बहिस्तूनवाले शिलालेख की चट्टान पर अहुरमज़्द की मूर्ति सम्राट् की मूर्ति के ऊपर बनी हुई है।

ह्य : स्य:=जिसने, संस्कृत त्यद् शब्द।

बूमिं : सं० भूमिम्।

अदा : सं० अधात् (धा धातु)।

२—अस्मानम् :—प्रसिद्ध शब्द आस्मान।

मर्तियम् : मर्त्यम्=मनुष्य को।

३—षियाति : स्वस्ति। श्याति (डा० सुकुमार सेन, पृ० २२७)।

४—दारयवउम् : दारयवउ, सम्राट् का नाम, जिसका फारसी नाम दारा (Darius) है। अर्वाचीन पारसी नामों में दराब या दोराब इसी का रूप है। इसकी व्युत्पत्ति धारयद्वसु=दारयवहु से कही जाती है।

परुनाम् : पुरूणाम्, सं० पुरु—बहुत, अनेक।

ख्षायथिय : क्षत्रिय। क्षायथ्य:=राजा (डा० सेन)।

अकुनउष् : सं० कृणु धातु से संबद्ध है।

५—फ्रमातारम् : सं० प्रमातारम्=स्वामी।

अदम् : अहम्=मैं।

६—दारा की उपाधि ध्यान देने योग्य है—महाराजा (ख्षायथिय वज्रर्क) राजातिराजा (ख्षायथिय ख्षायथियानाम्)।

दह्यु : देश, संभवतः दस्यु से संबद्ध है। प्राचीन ईरानी अपने अतिरिक्त इतर देशवासियों को दास या दस्यु समझते थे।

७—अह्याया = अस्याः। बूमिया = भूम्याः।

विष्तास्प : दारा के पिता का नाम, Hystaspes, सं० विष्टाश्व।

पुष् : पुत्र।

हखामनिषिय = हखामनि या खाखानी वंश का, Achaemenian, (सं० सखामनीष्य)।

८—थातिय : कथयति।

९—मथिष्त : महिष्ठ = महत्तम, सबसे बड़ा। अहुरमज्दा को सब देवों में श्रेष्ठ (बगानाम् मथिष्त) कहा है।

हउव् : सः = उसने।

१०—ख्षश : राज्य, क्षत्र।

११—फ्राबर = भरण किया, प्रदान किया।

उवस्प : सु + अश्व = सुंदर घोड़ोंवाला।

उमर्तिय : सु + मर्त्य = सुंदर मनुष्यों वाला।

१२—वष्ना = कृपा, आशीर्वाद से—सं० वस्ना।

१३—उता = और।

अर्षाम : Arsames, दारा का पितामह। नियाक = पितामह।

१४—अंवथा : यदिय = तब—जब।

उबा = उभौ। अजीवतम् : अवस्ता जीव् = जीना। अर्थात् दोनों जीते थे।

१६—हरुवह्याया = सर्वस्याः।

१८—उपस्ताम् : उपस्था = सहायता, आश्रय।

२०—अथह : कहा। अकथयत्।

चर्तनइय = आचरण करने को।

विसम् : विश्वम् = सब।

दस्ता = हाथ से। दस्त शब्द का तृतीया ए०।

२२—हदिष् : महल; सदस, सधिस्।

शूषा :—[आकारांत स्त्री० एक०] वह नगर जो अँगरेजी में Susa लिखा जाता है। यह इलम की राजधानी थी। Elam=Highland; इसका एक नाम Anzan भी था। राय कृष्णदासजी सूचित करते हैं कि पुराणों में मेरु के दक्षिण में स्थित वरुण की नगरी का नाम शूषा मिलता है।

२३—दूरदष् : दूर से, दूर+तः, दूरधः।

अर्जनम्=कीमती सामान, अतएव सजावट की सामग्री। यह शब्द ४१-२ पंक्ति में भी आता है और वहीं से यहाँ मूल में सुधारा गया है। अवस्ता अर्ज्, सं० अर्ह्, अर्जः=अर्घ, मूल्य। अर्जन=मूल्यवान्, अतएव अलंकरण-सामग्री। याता=तक—संस्कृत यावत्।

२४—अथगम् बूम्या=भूमि की चट्टान अर्थात् पक्की भूमि। नींव खोदते हुए जब पक्की चट्टान मिली, तब बजरी भरकर दीवारें चिनी गईं। अथग= अथंग=अशंग, फारसी संग।

अवारसम् : अव+अरसम् = नीचे गया, ऋष गतौ—ऊपर से नीचे पहुँचना।

२५—कतम् : खातम् = खुदाई। कन्=खोदना, सं० खन्। अबव : भू धातु, हो चुकी।

थिका=टूटे हुए पत्थर, रोड़े या बजरी। सं० सिकता से ईरानी थिका का संबंध प्रतीत होता है। सिकता=बजरी, शर्करा, हिंदी ठिक्का, ठिकरा। डा० सेन मूल संस्कृत शब्द 'शिका' मानते हैं।

२६—अरत्नीष् : अरत्नि शब्द का द्वितीया बहुवचन। संस्कृत अरत्नि=एक हाथ। अवस्ता अरथ्नि, ईरानी अरत्नि। इस पंक्ति में पत्थर की बजरी के भराव की गहराई बताई गई है। महल की नींव खोदने से बजरी की गहराई ४० फुट (१२ मीटर) तक पाई गई है। कहीं कहीं जहाँ पक्की जमीन थी वहाँ इससे बहुत कम भी है।

वर्त्ना=गहराई या ऊँचाई से, वर्षन् के तृतीया का एक०। संभवतः संस्कृत वर्ष्मणा से संबद्ध है। 'गजवर्ष्म किरातेभ्यः शशंसुर्देवदारवः।' (रघुवंश ४।७६)।

अनिया :—अन्यत्र; कहीं ४० अरत्नि, कहीं २० अरत्नि।

२७—फ्रासह्य् : लुङ् कर्म० प्र० एक०=बनवाया गया। व्युत्पत्ति अनिश्चित।

२८—फ्रवत=नीचे की ओर, सं० प्रवता। इसका अन्वय अकनिय् (खोदी गई) के साथ है।

२९—इष्तिष्=ईंट। सं० इष्टका, अवस्ता, इष्ट्य। बिचली और अब की फारसी में खिश्त। अजनिय् : जन् धातु=बनाई गई।

कार=लोग, सेना।

३०—बाबिरुविय—पाली बावेरु, अँगरेजी Babylonian. नींव खोदना, बजरी भरना और ईंटें पाथना—ये तीन काम बावेरु के लोगों ने किए।

धरमिष्=दारु, धन्नी, Wooden beam.

नउरिन=सनोबर की लकड़ी, अँगरेजी Cedar। बेबिलन की भाषावाले लेख में इसका नाम 'इष् एरिनु' दिया हुआ है।

३१—लबनान: Lebanon जो पुराने समय से सनोवर की लकड़ी के लिये प्रसिद्ध रहा है।

कउफ=पहाड़। कूफ, कोह, सं० कोफः (डा० सेन, पृ० १९७)।

ह्चा=से, From। वैदिक सचा=सह,√षच् समवाये धातु। इस व्युत्पत्ति के लिये मैं प्रो० चेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय का अनुगृहीत हूँ।

अबरिय्=लाई गई। बर् [सं० भर]=ले जाना, लङ्, कर्मवाच्य, प्रथम पुरुष एकवचन। और भी जैसे अकरिय्, अकनिय्, आदि।

३२—अथुरिय : Assyrian. दारा के लेखों में असिरिया के लिये अथुरिय नाम आया है। असिरिया के लोग पहाड़ से लकड़ी ढोकर बेबिलन (बावेरु) तक लाए, और बावेरु से कर्क देशवासी और यूनानी उसे शूषा तक लाए। डा० सेन के मत में ईरानी अथुरिय=अशुर्य; अथुरा=अशुरा, Assyria

३३—बाबिरुव—बावेरु में। जातक में इसका नाम बावेरु मिलता है। कर्का=कर्क देशवासी। हर्जफील्ड के मत में Karians,

३४—यउना = यूनानी ; योनाः (अशोक के लेखों में)। यका = एक लकड़ी जिसे कुछ विद्वान् बलूत या ओक मानते हैं। गदारा = गंधाराः, गंधार देश से।

३५—कर्माना : Carmania, आधुनिक Kerman। दरनियम् = सुवर्ण ; अवस्ता जरन्य, सं० हिरण्य। ईरानी लेखों में पहली ही बार यह शब्द यहाँ मिला है।

३६—स्पर्दा : Sardis जो लिडिया का प्रधान नगर है। सोना और संगतराश स्पर्दा से मँगाए गए थे। सं० स्वर्द (डा० सेन)।

३७—कासक = कीमती पत्थर, ईरानी शब्द, संभवतः कास् धातु से। इलम की भाषा कसिक। कपउतक = एक पत्थर—संस्कृत कपोत। अर्थात् कबूतरी रंग का पत्थर। "Lapis lazuli", लाजवर्दी रंग का पत्थर। इलम की भाषा में कबुत्क सिकब—अज्ञात व्युत्पत्ति, एक प्रकार का पत्थर; शाइल के मत में "Serpentine" नामक पत्थर।

३८—सुगुद : Sogdiana; आमू और सीर नदियों के बीच का पहाड़ी प्रदेश, जहाँ अब रूस का उजबक गणराज्य है।

३९—अखिषन = लाल रंग का कीमती पत्थर; अँगरेजी Hematite.

उवारज़्मिया :—ख्वारिज्म प्रदेश जो रूसी उजबक राज्य के अंतर्गत है, Chorasmia; इसी में खीवा नगर है।

४०—अर्दतम् = चाँदी; अवस्ता अर्जत, सं० रजत।

४१—असद दारुव = ताँबा या काँसा; अनिश्चित व्युत्पत्ति का शब्द।

मुद्रा = इजिप्ट का प्राचीन नाम। बेबिलन की भाषा में इसका नाम मिसिर है। वहीं से अरबी में मिसिर नाम आया है। सं० मिश्र से उसका संबंध नहीं है।

४२—दिदा = दीवार। पिष्ता = सजाई गई—पेष् धातु, रँगना या सजाना।

४३—पिरुष् = हाथीदाँत। सं० पीलु, बेबिलन की भाषा में पिलु, शूषा की भाषा में पिलु, फारसी पील, फील। कुषा = इथिओपिया का प्राचीन नाम, अबीसिनिया। हमदान और नक्शे-रुस्तम के लेखों में भी यह नाम

आता है। सं० कुश द्वीप, नील नदी के प्रथम और दूसरे प्रपात का प्रदेश कहलाता है। पुराणों के आधार पर श्रीयुत विल्फोर्ड ने जो नील नदी का चित्र तैयार किया था, उससे लेफ्टिनंट स्पीक को नील का स्रोत ढूँढ़ निकालने में बहुत सहायता मिली। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतवासी कुश द्वीप से साक्षात् परिचित थे। [Cunningham, Ancient Geography, Introduction by Majumdar, P. 38.]

४४—हिंदउव् :—सिंधौ = हिंदु देश में, भारतवर्ष में [सप्तमी एकवचन], सं० सिंधु।

हरउवतिया : Arachosia, प्राचीन सरस्वती, ईरानी हरह्वैती, हरउवती; आधुनिक अरगंदाब नदी। कंदहार का प्रदेश जिसे हारहूरा भी कहते थे। संस्कृत ग्रंथों में इसे हारहूरक, हारहूणक भी कहा है। यहीं से काली दाख आती है जो बंबई के बाजार में अब तक हारहूर कहलाती है।

४५—स्तूना = स्तंभ। अवस्ता स्तूना, सं० स्थूणा। सतून।

४६—अबिरादुष् = केरिया में Approdisias नामक स्थान जो संगमरमर के लिये प्रसिद्ध था। उजइय् = उज प्रदेश Caria जो फिजिआ और लिडिया के समीप एशिया माइनर में है।

४७—कर्नुवका = संगतराश या खनिक लोग जो खदान में काम करते थे।

४८—अवदा = वहाँ; अवधा।

४९—दारनियकारु = कारीगर (संभवतः सोना साफ करनेवाले, निआरिए)। संस्कृत कार; बिचली फा० कार; नई फा० कार या गार। ४९ से ५५ पंक्तियों तक भिन्न भिन्न देशों से आए हुए कारीगरों का वर्णन है।

५६—फ्रपम् = उत्तम, श्रेष्ठ। इस शब्द की निरुक्ति निश्चित नहीं है। संभव है इसका संबंध फ्रषस्त (सं० प्रशस्त) से हो। उनिदातम् = सुनिहित। Well-laid, पट्रिदिष्तम् = चारों ओर दीवार (दीदा) से घिरा हुआ।

५७—पातुव = रक्षा करे।

शब्दांक अर्थात् संख्या-सूचक शब्द-संकेत

[लेखक—श्री अगरचंद नाहटा]

भारतीय साहित्य और अभिलेखों में संख्या सूचित करने के तीन मुख्य प्रकार पाए जाते हैं—(१) अंकों द्वारा, (२) अक्षर-संकेतों द्वारा, और (३) शब्द-संकेतों द्वारा। इन प्रकारों के भी अनेक उप-प्रकार मिलते हैं। अंकों द्वारा संख्या सूचित करने की दो शैलियाँ थीं। प्रथम प्राचीन शैली में १ से ९ तक की इकाइयों के लिये नौ चिह्न, १०-२०-३०-४०-५०-६०-७०-८०-९० इन नौ दहाइयों के लिये नौ चिह्न, और १०० तथा १००० के लिये दो चिह्न—कुल मिलाकर बीस चिह्न थे। इन बीस चिह्नों से १ से लेकर ९९,९९९ तक की संख्याएँ लिखी जाती थीं। पता नहीं चलता लाख, करोड़ आदि की संख्याएँ कैसे लिखी जाती थीं। दूसरी शैली वही है जो इस समय प्रचलित है। इसमें १ से लेकर ९ तक के लिये नौ चिह्न और शून्य के लिये एक चिह्न—कुल मिलाकर १० चिह्न हैं जिनके द्वारा छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी सब प्रकार की संख्याएँ लिखी जाती हैं।*

अक्षरों द्वारा संख्या सूचित करने की भी दो शैलियाँ थीं जिनमें से प्रथम प्राचीन जैन-साहित्य में और दूसरी आर्यभट आदि के ज्योतिष-विषयक ग्रंथों में उपलब्ध होती है। इन दोनों के भी अनेक उपप्रकार प्रचलित थे।†

* विशेष विवरण के लिये देखिए—श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, परिच्छेद १६ (पृष्ठ १०३)।

† विशेष विवरण के लिये देखिए—

(१) ओझा: भारतीय प्राचीन लिपिमाला, परिच्छेद १९।

(२) मुनि पुण्यविजय: भारतीय जैन श्रमण संस्कृति और लेखन-कला, पृष्ठ ६३।

अक्षरांकों की प्रथम शैली का उपयोग जैनागम-छेदसूत्र एवं चूर्णियों आदि में एक समान पाठ, प्रायश्चित्त, भांगा आदि के निर्देश में जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण कृत गीतकल्प-भाष्य में, जहाँ मूल गाथा का भाष्य समाप्त होता है वहाँ मूलसूत्र की गाथा की संख्या सूचित करने में भी पाया जाता है। पर मुख्यतया इनका प्रचार ताड़पत्रीय पुस्तकों की पत्रसंख्या को सूचित करने में हुआ है। इनकी आकृति के लिये भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृ० १०७ तथा भा० जै० श्र० ले०, पृ० ६३७ देखें।

दूसरी शैली में स्वरांक एवं व्यंजनांक हैं। इनका उपयोग ज्योतिष ग्रंथों में ही मिलता है। मुख्यतया इनका प्रयोग इस प्रकार पाया जाता है—क से झ तक और ट से ध तक क्रम से १ से ९ संख्या, प से म तक १ से ५, य से ह तक १ से ८, न ञ ये शून्य द्योतक।

ग्रंथांतरों में इनकी संख्या भिन्न भिन्न प्रकार* की भी पाई जाती है। देखें भा० प्रा० लिपिमाला, पृ० १२३।

शब्दों द्वारा संख्या सूचित करने के भी दो प्रकार थे जिनको नामांक † और शब्दांक कह सकते हैं। प्रथम प्रकार में किसी वस्तु या व्यक्ति का नाम ही अंक का काम करता है अर्थात् संख्या को सूचित करता है। अपने वर्ग में किसी वस्तु या व्यक्ति की जो क्रम-संख्या होती है उस वस्तु या व्यक्ति का नाम उसी संख्या का वाचक माना जाता है। जैसे तीर्थंकरों के वर्ग में चौबीस तीर्थंकर हैं, उस वर्ग में कुंथुनाथ तीर्थंकर की क्रम-संख्या सत्रहवीं है, अतः कुंथुनाथ यह नाम १७ संख्या का सूचक है।

---

* हमारे संग्रह में अक्षर-चिंतामणि ग्रंथ में व्यंजनांक इस प्रकार से लिखे हैं:—

क ४ ख ३ ग २ घ ५ ङ ७ च १ छ ३ ज १ झ ४ ञ ७ ट ९ ठ ७ ड २ ढ १ ण ५ त ४ थ १ द २ ध ७ न ५ प ६ फ १ ब १ भ ४ म ७ य ७ र २ ल ६ व २ श ८ ष १ स ४ ह २ क्ष ८।

† संवत् की संख्या न लिखकर उसका नाम (विकारी, कीलकादि) ही लिख देने की परिपाटी भी श्रवण बेलगोल आदि के शिलालेखों में विशेष रूप से पाई जाती है। वह भी एक प्रकार से संख्यासूचक नाम-संकेत (नामांक) ही है।

दूसरे प्रकार में पदार्थों की गिनती के आधार पर* उन पदार्थों के वाचक शब्दों द्वारा संख्याएँ सूचित की जाती हैं। जो पदार्थ गिनती में जितना होता है वह उतनी संख्या को सूचित करता है। जैसे वेद चार हैं अतः वेद शब्द ४ (संख्या) का सूचक माना गया है; तीर्थंकर चौबीस हैं अतः तीर्थंकर शब्द २४ का सूचक है। इस निबंध में इन्हीं संख्या-सूचक शब्दांकों का परिचय और संग्रह अभीष्ट है।

---

* यथा :—

मनुष्य आदि के कान, हाथ, आँखें, बाहू, जंघा, स्तन, पैर संख्या में २-२ होने से २ के वाचक हैं।

हाथ की अँगुलियाँ १०, हाथ-पैर दोनों की २०, नख २०, दाँत ३२ होने से उतनी उतनी संख्याओं के वाचक हैं।

गाय के स्तन ४, चरण ४, भौंरे के पैर ६, हाथी के दाँत २ व्याघ्री के स्तन ८ के वाचक हैं।

शिव के नेत्र ३, कार्त्तिकेय के मुख ६, ब्रह्मा की भुजाएँ ४, चंद्र १, सूर्य १२, ग्रह ९, नक्षत्र २७, शिव ११, ब्रह्मा १, इंद्र १४, सुर ३३, यक्ष १३, विद्यादेवी १६ के वाचक हैं।

छंदों के नामों एवं अक्षरों की संख्या पर—अनुष्टुप्, पंक्ति, जगती, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति, कृति, प्रकृति, विकृति इत्यादि।

ज्योतिष संबंधी—मास १२, पक्ष २, दिन १५, राशि १२, भाव २।

साहित्य-शास्त्र संबंधी-पुराण १८, कालिदास-काव्य ३, व्याकरण ८, वेद ४, महाकाव्य ५।

कला-संबंधी—स्त्रीकला ६४, पुरुषकला ७२।

इस प्रकार शब्दांकों का आधार पदार्थों के भेद-प्रभेदों की संख्या है।

कुछ शब्दांकों का संबंध संप्रदायविशेष की मान्यतानुसार होता है; जैसे जैन संप्रदायानुसार—गुप्ति ३, गौरव ३, अनुयोग ४, कथा ४, कषाय ४, गति ४, ध्यान ४, बुद्धि ४, संघ ४, सुरभेद ४, अनुत्तर ५, आचार ५, ज्ञान ५, परमेष्ठि ५, मेरु ५,

उत्पत्ति और प्रयोजन—प्राचीन साहित्य अधिकांश में पद्यमय है। गणित, ज्योतिष एवं अन्यान्य ग्रंथों में लंबी लंबी संख्याओं को छंदोबद्ध करने में कठिनता पड़ती है और विस्तार भी होता है। इस समस्या को हल करने के लिये संभवत: लेखकों ने शब्दों द्वारा संख्या सूचित करने की रीति निकाली।

प्राचीनता और प्रचार—इस प्रकार शब्दों के द्वारा संख्या सूचित करने की परिपाटी बहुत प्राचीन है। वैदिक साहित्य के शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणों तथा जैनधर्म के सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन आदि आगमों में भी इसके उदाहरण पाए जाते हैं। कात्यायन और लाट्यायन श्रौत-सूत्रों में २४ के लिये गायत्री और ४८ के लिये जगती का प्रयोग मिलता है। वेदांग ज्योतिष में १-४-८-१२ और २७ के लिये क्रमश: रूप, अय, गुण, युग और भ-समूह का प्रयोग हुआ है। पिंगल के छंद:सूत्र में कई जगह इसी तरह अंक सूचित किए गए हैं। शब्दांकों का सब से अधिक उपयोग वराहमिहिर ने अपनी पंचसिद्धांतिका में, ब्रह्मगुप्त ने अपने ब्रह्मस्फुट-सिद्धांत में तथा लल्ल ने अपने शिष्य-धी-वृद्धिद में किया है। सातवीं शताब्दी के पीछे के ज्योतिष ग्रंथों में इनका प्रचुर प्रयोग मिलता है। धीरे धीरे शिला-लेखों और ताम्रपत्रों में भी इनका प्रयोग होने लगा। ग्रंथ-प्रणेता अपनी कृतियों के रचना-संवत् इसी परिपाटी से सूचित करने लगे। श्वेतांबर जैन ग्रंथों में ग्रंथ की प्रशस्तियों में एवं दिगंबर शिलालेखों में इस परिपाटी का व्यवहार ग्यारहवीं शताब्दी से विशेष रूप से पाया जाता है।

विषय ५, व्रत, महाव्रत ५, शरीर ५, समिति ५, सुपार्श्वफणिफण ५, स्वाध्याय ५, काय ६, लेश्या ६, तत्त्व ७, ६, नरक ७, पार्श्वफण ७, व्यसन ८, मंगल ८, प्रवचनमाता ८, प्रभावक ८, ग्रैवेयक ९, केशव ९, ब्रह्मगुप्ति ९, जैनपद्य ९, यतिधर्म १०, जिनोपाशकप्रतिमा ११, अनुपेक्षा १२, उपांगभिक्षुप्रतिमा १२, क्रियास्थान १३, प्रथम जिनभव १३, गुणस्थान, पूर्व, जीवाजीवोपकरण १४, परमधार्मिक १५, विद्यादेवी १६, संयम कुंथु १७, पापस्थानक १८, ज्ञाताध्ययन १९, परिषत् २२, जिन २४, लब्धि २८।

संख्या सूचित करने का नियम—'अंकानां वामतो गतिः' इस नियम के अनुसार शब्दांकों द्वारा संख्या प्रकट की जाती है अर्थात् पहले शब्द से इकाई, दूसरे से दहाई, तीसरे से सैकड़ा, चौथे से हजार इत्यादि-इत्यादि। जैसे

नयन-वेद-मुनि-चंद्रमा
२ ४ ७ १

१७४२ का सूचक है न कि २४७१ का। इसी प्रकार युग्म (२) नयन (२) मुनि (७) चंद्र (१) १७२२ की संख्या प्रकट करता है न कि २२७१ की। साधारण और सर्वमान्य नियम यही है पर कहीं कहीं इसके अपवाद भी मिल जाते हैं।*

---

* जैसे—(क) शशि[१] उदधि[७] काय[६] शशि[०] (जिनतर्षकृत जंबूकुमाररास), भोजन[१७] नभ[०] गुप्त[३] (जयसोमकृत १२ भावना वेलि) जै० गु० क० भाग २, पृ० १२७। —यहाँ सीधा क्रम रखा है।

(ख) अचल[७] लोचन[२] संयमभेद[१७] (१७७२) दानविजयकृत वीरस्तवन जै० गु० क० भाग २ पृ० ४४६।

इसमें पहले के दो शब्द सीधे क्रम से और पीछे का एक 'वामतो गति' के अनुसार है।

(ग) संवत संयम भेद[१७] वखाणो, वसु[८] भुज[२] वरिस वखाणो जी (ज्ञान विमलकृत साधु-वंदना)।

संवत संयम भेद[१७] मुनि[७] गुण[२] वरस[८] नुमान (ज्ञान विमलकृत शांतिस्तवन)।

इनमें पहला शब्द सीधे क्रम से, पीछे के दो 'वामतो गति' के अनुसार हैं।

(घ) संवत उगणोत्तर श्रावणमासे (१७१६), सुरसुंदरीदास, जै० गु० क० भाग २, पृ० १८६।

इसमें संख्या सूचित न करके केवल आगे की संख्या दे दी है।

(ङ) दर्शन[६] मुनि[७] शशि[१] मान (१७६)—वृद्धिविजयकृत संखेश्वरस्तवन, जै० गु० क० पृ० २७१।

इसमें शून्यांक छोड़ दिया गया है।

इस प्रकार शब्दांकों का व्यवहार विविध प्रणालियों से देखा जाता है।

दुर्बोधता—एक ही शब्द अनेक संख्याओं का सूचक—(१) अपेक्षा-भेद से एक ही पदार्थ के कई प्रकार हो सकते हैं, एक ही पदार्थ की कई गिनतियाँ हो सकती हैं। इस कारण एक ही शब्द विभिन्न संख्याओं का सूचक हो सकता है। जैसे समुद्र सात भी हैं और चार भी। अतः समुद्र शब्द के द्वारा दोनों संख्याएँ सूचित की हुई मिलती हैं। लोक तीन भी हैं, सात भी और चौदह भी। लोक शब्द के द्वारा ये तीनों संख्याएँ प्रकट की गई हैं।

(२) कभी कभी एक ही शब्द के दो भिन्न अर्थ होते हैं। एक अर्थ में वह एक संख्या को प्रकट करता है और दूसरे अर्थ में दूसरी संख्या को। जैसे, युग का अर्थ जोड़ा भी है और युग नामक काल-विशेष भी। अतः वह २ और ४ दोनों संख्याओं का सूचक है। श्रुति का अर्थ कान भी है और वेद भी। अतः वह भी उक्त दोनों ही संख्याओं को सूचित करता है।

(३) इसी प्रकार कुछ ऐसे शब्द हैं जो अलग अलग वस्तुओं से संबद्ध होने पर अलग अलग गिनती रखते हैं। जैसे अंग शब्द को लीजिए। अंग यदि वेद के हों तो यह शब्द ६ का सूचक होता है, यदि राज्य के हों तो ७ का और यदि योग के हों तो ८ का।

इस प्रकार की अनिश्चितता होने के कारण कभी-कभी संख्या के ज्ञान में बड़ी गड़बड़ हो सकती है।*

* एक ही शब्द विविध संख्याओं का सूचक होने के कारण बड़े बड़े विद्वानों से भूल हुई है। इसका एक ही दृष्टांत पर्याप्त होगा। कविवर समयसुंदर-रचित अष्टलक्ष्मी ग्रंथ का रचनाकाल कवि ने "रस जलधि राग सोम" दिया है। इसका श्रीयुत मोहनलालजी देशाई बी० ए०, एल-एल० बी० ने सं० १६७६ माना, पं० लाल-चंद्रजी गांधी तथा प्रो० हीरालाल कापड़िया ने १६४६ माना। पर वास्तव में सं० १६४९ होना चाहिए। इसमें जलधि से ४ और ७ एवं रस से ६ और ९ दो-दो संख्या निकलने के कारण गड़बड़ी हो गई। अतएव विचार-पूर्वक ही इनका निर्णय करना आवश्यक होता है।

इसलिये जिन शब्दों द्वारा एक से अधिक संख्या सूचित होती है उनकी तालिका यहाँ दी जाती है :—

शब्द	सूचित भिन्न संख्या	शब्द	सूचित भिन्न संख्या
गो	१, ९	रंध्र, ख, छिद्र	०, ९
आदित्य	१, १२	विश्व	१३, १४
हरनेत्र	१, ३	पर्वत	७, ८
युग	२, ४	दुर्ग	९, १०
करांगुलि	४, ५, २०	गुप्ति	३, ९
ईश्वर	४, ११	दंड	१, ३
तत्त्व	३, ५, ९, २५, २८, ७	प्रकृति	१४, २१, २५
भुवन	३, ७, १४	विद्या	३, १४, १८
रस	६, ९	नाग	७, ८
लोक	३, ७, १४	सुर	५, ७, ३३
विकृति	६, २३	जगती	१२, ४८
नरक	७, ४०	गिरि	५, ७
श्रुति	२, ४, ८, २०	वर्ण	४, ५, ६
मेरु	१, ५	अंग	५, ६, ७, ८, ११
यति	६, ७	पक्ष	२, १५
मुनि	३, ७	वसु	७, ८
गुण	३, ६, ६	चंद्रकला	१५, १६
रत्न	३, ५, १४, १३, ९	इंद्र	१, २४
शिव	१०, ३, ११	गोत्र	१, ७
द्वीप	७, ८, १८	पक्ष	२, १५
विधु	१, ४	रद	१, ३२
समुद्रवाची शब्द	४, ७	राशि	१, १२
भूखंड	६, ९	पंक्ति	०, १०
दिशावाची शब्द	४, ८, १०	गज	३, ८
शिलीमुख	५, ७	वाजी	३, ७

शब्द	सूचित भिन्न संख्या	शब्द	सूचित भिन्न संख्या
वेद	३, ४	स्वर, सुर	५, ६ ७, ८
कर्म	८, १२	करल	३, ६
पुर	३, ७	जीव	१, ६
ब्रह्म	१, ३, ८	खर	६, ७
वायु के पर्यायवाची शब्द	५, ४९	मही	१, ७
वह्नि	३, ५	पवन	५, ९

प्रस्तुत संग्रह का संकलन

कोई ७-८ वर्ष पूर्व जब मैंने बीकानेर के जैन ज्ञानभंडारों के हस्तलिखित ग्रंथों की सूची का कार्य प्रारंभ किया तब ग्रंथों के रचना एवं लेखन-काल में प्रयुक्त शब्दों के अंक निर्धारित करने में कठिनता होने लगी। उसी समय इनका संग्रह करने की इच्छा हुई। सुयोगवश जयचंद्रजी के ज्ञान-भंडार की सूची करते समय २ शब्दांकसंग्रहात्मक प्रतियाँ मिलीं, तब वह इच्छा और भी प्रबल हुई। फलतः भिन्न भिन्न ग्रंथों को देखकर इनका एक संग्रह तैयार किया। इस संग्रह को तैयार हुए ५ वर्ष के लगभग हो गए, पर सामग्री बहुत अधिक मिल जाने से उसको स्वतंत्र रूप में प्रकट करने के विचार से वह यों ही पड़ा रहा। किंतु अब वैसा होने में देर देख वह इस इच्छा से प्रकाशित किया जा रहा है कि सभी साहित्यिक विद्वानों को इस संग्रह से लाभ हो। शब्दांकों में प्रयुक्त शब्दों के प्रकारों का विवरण भी तैयार किया गया है। उसे आधारभूत ग्रंथों के श्लोक, टिप्पणियों सहित परिशिष्ट में देने का विचार था, पर लेख का विस्तार हो जाने के भय से वह सारी सामग्री इस लेख में नहीं प्रकाशित की जा रही है।

इस संग्रह के संकलन में अनेक मित्रों से विभिन्न प्रकार की सहायता मिली है। उनमें से स्वामी नरोत्तमदासजी, पं० दशरथजी, मिश्रीलालजी पालरेचा, हजारीमल बाँठिया आदि धन्यवाद के पात्र हैं।

जिस प्रकाशित एवं अप्रकाशित सामग्री का उपयोग इस संग्रह में किया गया है, उसमें से कतिपय ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं : १—भारतीय प्राचीन लिपिमाला, २—भारतीय श्रमणसंस्कृति अने जैन लेखनकला, ३—काव्यकल्पलता सटीक, ४—गणितसारसंग्रह (अवतरण पं० के० भुजबली से प्राप्त), ५—जयचंदजी भंडार की दो प्रतियाँ, ६—रचना-विचार, ७—सुंदरग्रंथावली, ८—ज्योतिर्विज्ञानचंद्रिका (वेदांगकोषमाला), ९—संस्कृत के सांकेतिक अंक (जै० सि० भास्कर भा० ७ कि० १), १०—गणितनाममाला, ११—बाबू पूरणचंद जी नाहर की नोटबुक।

इसी प्रकार वंशभास्कर, पट्टावलीसमुच्चय, खरतरगच्छ पट्टावली-संग्रह, जैन गुर्जर कविओ भाग १-२ आदि अनेक ग्रंथों का उपयोग इस संग्रह में किया गया है।

इस संग्रह में प्रयुक्त शब्दांक एवं संग्रहात्मक सूचियों का ही उपयोग किया गया है। पर्यायवाची शब्दों का संग्रह करने से और भी अनेक शब्दांक बढ़ाए जा सकते हैं।

शब्दांकों के खोजने में सुभीता हो इसलिये इन्हें संख्यानुक्रम तथा उसमें भी अक्षरानुक्रम से लिखा गया है। एक ही पदार्थ के पर्यायवाची जितने शब्द एक-संख्या-सूचक शब्दों में मिले उन्हें ( ) बंधनी में एक ही स्थान पर लिख दिया गया है जिससे पता चले कि मूल शब्दांक कौन से और कितने हैं एवं उनके पर्यायवाची नामों के कारण संख्या कितनी बढ़ गई है। सब ग्रंथों की रचना एवं लेखनकाल संबंधी संवत् जान लेने के साथ उसके साथ में दिए हुए तिथियों-वारों-महीनों को भी जानना आवश्यक होता है और उनके भी कई पर्यायवाची शब्द पाए जाते हैं, अतएव परिशिष्ट सं० १ में उनके पर्यायवाची नामों के साथ सूची दे दी गई है। कई ग्रंथों में लेखकों ने अपने नाम श्लेष में तथा अक्षरों आदि के संकेत रूप से सूचित किए हैं। उनके उदाहरणों की सूची भी परिशिष्ट संख्या २ में दे दी गई है। इस प्रकार यथासंभव इस शब्दांक-संग्रह को विशेष उपयोगी एवं विविध जानकारी का साधन बनाने का प्रयत्न किया गया है।

शब्दांक-संग्रह*

शून्य (०)—आकाश और उसके पर्याय (अंतरिक्ष, अंबर, अनंत, अभ्र, ख, गगन, दिव, नभ, पुष्कर, वियत्, विहायस्, व्योम, विष्णुपाद, सुर-वर्त्म, शून्य), खग, छिद्र और उसके पर्याय (रंध्र), पंक्ति, पूरण, पूर्ण, बिंदु, शिव, शून्य।

एक (१)—अंगुष्ठ, अंशु, अज, (अब्जज, धाता, पितामह, प्रभव, ब्रह्मा, विधु), अतीत, अद्वैतवाद, अमृत-द्युति (अमृतरुचि, इंदु, उडुपति, एणांक, एणभृत, ओषधीश, कलाधर, कलानिधि, कुमुद-बांधव, कुमुदिनी-पति, क्षपाकर, ग्लौ, चंद्र, जैवातृक, द्विजराज, नक्षत्रेश, निशाकर, निशानाथ, निशापति, निशिपति, निशेश, पीयूष-दीधिति, प्रालेयांशु मृगांक, रजनीकर, रजनीनाथ, रजनीश, रात्रि-पति, रोहिणी-पति, विधु, श्वेतज्योति, शशांक, शर्वरीकांत, शशधर, शशभृत, शशि, शीतकर, शीतगु, शीतदधि, शीतरश्मि, शीतांशु, सित-कर, सुधांक, सुधांशु, सोम, हिमकर, हिमगु, हिमज्योति, हिम-रुच्), अलख, अवनि (इला, उर्वरा, उर्वी, काश्यपी, कु, क्षमा, क्ष्मा, क्षिति, क्षोणी, गो, धरणी, धरती, धरा, धात्री, पृथ्वी, भू, भुवि, भूमि, मही, मेदिनी, वसुंधरा, वसुधा) अश्व, आत्मा, आदि, आदित्य (काश्यपि, तपन, दिनेश), इंद्र (शक्र), उदय, एक, कलश, कलि, कुमुद, खड्ग, गजास्य, गणपति-रदन (विनायक-दंत), गो, गोत्र, छाया, जीव, ज्ञेय, तनु, त्रिनयन, दंड (स्वर्दंड), दिक्पति (दिशापति), द्विज, दिनेश-चक्र-रथ, दीप, नायक, नासा-वंश, पताका, प्रभव, प्रालेय, प्रासाद, बिंदु, मनस्, मुख (वक्त्र), मेरु, मेष (राशि), यंत्र, रमा, रद, रश्मि, राशि, रूप, श्वेत, शंख, शरद, शुक्रनेत्र (शुक्रदृष्टि), शीता, शक्वरी, शिशिर, सिंधु, स्वर्दंड, हर-नेत्र, हस्ति-कर।

* इस संग्रह में केवल उन्हीं शब्दों और पर्यायों का संकलन किया गया है जिनका प्रयोग एवं उल्लेख हमें प्राप्त हो चुका है।

दो (२)—अंतक (कृतांत, यम, यमराज, वैवस्वत, शमन), अंबक (अक्षि, आँख, आँखड़ी, ईक्षण, चक्षु, दृग् , दृश्, दृष्टि, नयन, नेत्र, लोचन), अंह्रि (अंघ्रि, चरण, पाद), अश्वि (अश्वी, नासत्य), असि-धारा (खड्ग-धारा), आकृति, उभ (उभय), कर (पाणि, हस्त), कर्ण (श्रवण, श्रुति), कुच (पयोधर, वक्षोज, स्तन), कुटुंब, कृति, गंगा गौरी, गजदंत, गुल्फ, जानु, जंघा, दंडधर, दल, दस्र, दंश, दो: (दोर्, दोस्, बाहु, भुजा), द्वंद्व, द्वि, द्विज, द्वै, , द्वैत, द्वौ, दो, नदी-कूल (नदी-तट), नय, नाग-जिह्वा, पक्ष (घस्र), प्रमाण, प्रीति-रति, भरत-शत्रुघ्न, मिथुन, यमल, युगल, युतक, रथ-धुर्य, रविचंद्र, राम-नंदन (राम-सुत), राम-लक्ष्मण, विनायक-स्कंध, विभव, वृष (राशि), शृंग, स्रोत ।

तीन (३)—अग्नि (अनल, अर्चि, आज्याश, कृशानु, चित्रभानु, ज्वलन, तपन, तनूनपात्, दहन, पावक, रोहिताश्व, वह्नि, वायु-सख, वैश्वानर, शिखी, सप्तार्चि, हव्यवाहन, हिरण्यरेता, हुताशन, होतृ), अर्थि, अर्थ, आज्यांश, ईश्वरनयन (ईश्वरदृग्, प्रभु-नेत्र, शिव-नेत्र, शंकर-लोचन, शिवाक्ष, हरचक्षु, हर-नयन, हर-नेत्र,), कंबुग्रीव-रेखा, काल, कालिदास-काव्य, क्रम, गंगा-मार्ग, गज, गुण, गुप्ति, गौरव, ग्रावा-रेखा, जग (जगत्, भुवन, लोक, विश्व), जरांघ्रि, ज्वर, तत्त्व, ताप, तिस्र, त्रय, त्रि, त्रिकटु, त्रिकाल, त्रिकूट, त्रिकूट-कूट, त्रिक्षेत्र, त्रिगुण, त्रिजगत्, त्रिदशा, त्रिनेत्र, त्रिपदी, त्रिफला, त्रिमौलि, त्रियामा-याम, त्रिरत्न, त्रिवस्ति, त्रिशिरा, त्रिशूल, त्रैत, दंड, दशा, पद्य, पलाश-दल, पाल, पुर, पुरुष, पुष्कर, पूर्ण, ब्रह्म, भव-मार्ग (शिव-मार्ग), भवन, भुवन, मुनि, यज्ञोपवीत-सूत्र, रत्न, राम, वचन, वर्ण, वर्हि, वलय, वलि, वाजी, विक्रम, विष्टप, विद्या, वेद, शक्ति, शिर, शूल, शुभेतरा लेश्या, संध्या, सहोदरा, हर-हत-पुर ।

चार (४)—अंग, अंतःकरण, अंबुधि (अंबुनिधि, अंभोनिधि, अंभोधि, अपांपति, अब्धि, अर्णव, आप उदधि, उदन्वंत, उदन्वान्, कूपार, जलधि, जलनिधि, जलाशय, दधि, नदीनाथ, नीरधि, नीरनिधि, पयोधि, पयोनिधि, पाथोनिधि, पारावार, यादःपति, वनधि, वारिधि, वारिनिधि, वारि-राशि, वार्धि, विषधि, सलिलाकर, समुद्र, सरित्पति, सागर, सिंधु),

अज-मुख (ब्रह्ममुख, ब्रह्मास्य, विधि-मुख), अनुयोग, अब्द-बीज, अभिनय, अप (आप), अवस्था, आश्रम, ईश्वर, उपाय, कथा, करांगुलि, कषाय, कास्य, कूँट, कृत, कृता, केंद्र, कोष्ठ, खानि, गज-जाति, गति, गवांघ्रि (गोचरण), गोचर, गोस्तन, चरण, चतुर, चत्वारि, चतुरिका-स्तंभ, चतुष्टय, चार, चंद्र-यति, जल, जुग (युग) जोधार, तुर्य, दधि, दशरथ-पुत्र, दिशा (दिग्, दिश् , दिशि), ध्यान, निर्जर, नीति, पदार्थ (फल), पाठक, बंध, बंधु, बानी (वाणी), बुद्धि, माला, मुक्ति, याम, युग, योजन-क्रोश, रीति, रोहिणी, लोकपाल, वर्ण, वारण-रद, वाणिज, विधि, विष्णु-भुजा (हरि-वसु, हरि-भुज), वेद (श्रुति), सनकादि, संघ, संघात, संज्ञा, सम-घात (?), सुर-गज-रद, सुर-भेद, सेनांग, स्तवक, संप्रदाय।

पाँच (५)—अंग, अक्ष, अनिल (पवन, प्राण, मरुत, मारुत, वात, वायु, समीरण), अर्थ, असु (प्राण), अनुत्तर, आचार, इषु (नाराच, पत्री, बाण, मार्गण, विशिख, शर, शस्त्र, शिलीमुख, सायक, स्मर-बाण), कन्या, करणीय, करांगुलि, काम-गुण, गव्य, गति, गिरि, चर, ज्ञान, तत्त्व (भूत), तनुवात, तंतु-सायक, निरात्मा, पर्व, पंच, पंचक, पंचकूल, पंचोत्तर-विमान, परमेष्ठी, पांडव, पाप, प्रणाम, प्रजापति, पृषत्क, भूत, महाकाव्य, महापाप, महामथ, महाभूत, महायज्ञ, महाव्रत, माता, मृगशिर, मृगादन, मेरु, यज्ञ, रत्न, वर्ग, वर्ण, वर्त्म, वह्नि, विषय, व्रत, शंभु-मुख (शिव-वदन, हरमुख), शरीर, शस्त्र, श्रम, समिति, सुर, सुरवृक्ष, सुमति, सुपार्श्व-फणि-फण, स्थानक, स्मर-बाण, स्वर, स्वर्ग-व्रताग्नि, स्वाध्याय।

छः (६)—अंग, अलिपद (भ्रमर-चरण, भृंगपद), अंगिरस, अरि (द्विष, द्वेषण, दुर्हृद, रिपु, सपत्न), ऋतु, करभ, काय, कार्त्तिकेय (क्रौंचारि, गुहक), कारक, काल, कुमार-वदन (गुह-मुख, गुहवक्त्र, गुहानन, गुहास्य, भवानीसुतास्य, महासेन-वदन), क्षमा-खंड (खंड), खर, गुण, चक्री (चक्रवर्त्ती), ज्वरासुर, जीव, तर्क, तृण, तैतिल, त्रिशिरानेत्र-नाराणी (?), दर्शन (शास्त्र), देह, द्रव्य, पद, भाषा, भू-खंड, मासार्ध, यति, रति, रस, राग, रामा, लेश्या, वर्ण, वज्र-कोण, वदन, वर्षधर, वेदांग, शर, शिलीमुख, षट्पद, षट्, षट्क, समाय, समास, स्वर, संपत्ति।

सात (७)—अग (अचल, अद्रि, अद्रीश्वर, कुलगिरि, कुल पर्वत, कुलाचल, कुलाद्रि, कुभृत, क्ष्माधर, गिरि, गोत्र, त्रिकूट, नग, पर्वत, भूधर, भूभृत, महीधर, महीभृत, शिखर, शैल, सप्ताचल), अत्रि, अब्धि (उदधि, जलधि, जलनिधि, तोयधि, मकराकर, रत्नाकर, वारिधि, समुद्र, सागर), अर्क, अश्व (घोटक, तुरंग, तुरग, बाजि, रवि-वाह, वाजी, वाह, ब्रध्न, शक्रवाह, सप्ताश्व, हय), अश्वि, अर्चि (अनल, वह्निशिखा), अंग, आहार्य, ऋद्धि, ऋषि (मुनि, यति), कलत्र, क्षेत्र, खर, गंधर्व, गोत्र, गोदावर्य, चक्रवाल, छंद, त्रिकूट, तत्त्व, तपोधा (तपस्वी), ताल, तुला, तूड, दुर्गति, द्वीप, दुःख, धातु, धान्य (व्रीहि), धी, नय, नयस-संतान, नरक, नाग, (पन्नग), पाताल (रसातल), पार्श्वचिह्न, फणि, मणि, पुर, पुरी, पूर (?), भय, भुवन (लोक), मही, मातृक, मात्रक, राज्यांग, व्यसन, वह्निशिखा, वाडव, वार, व्रीहि, श्रीमुख, सप्त, सप्तपर्णपर्ण, सुख, सुर, स्मर, स्वर।

आठ (८)—अंग (योगांग), अनीक, अनुष्टुभ्, अनेकप (इभ, करी, कुंजर, कुंभी, गयवर, गज, दंतावल, दंती, दिग्गज, दिक्कुंभी, दिक्पाल, द्विप, द्विरद, नाग, नागेंद्र, पन्नग, पुष्कर, मदकल, मंगल, मातंग, यूथप, व्याल, वारण, सिंधुर, स्तंबेरम, हस्ति, हय), अमांगल, अलि, अवलेभ, अष्ट, अहि (अहिकुल, अली, तक्ष, तक्षक, नाग, नागेंद्र, पन्नग, फणी, भर्वी, भुजग, भोगी, व्याल, सर्प), ईशमूर्त्ति (शंभुमूर्त्ति), ऐश्वर्य (भूति), कर्म, करटी, करिवाशक, कलभ, कुलपति, कुंभीपाल, गिरि, तनु (अंग), दंत, दिक्पाल (लोकपाल), दिग्दुरित, देश, धी, धी-गुण, पक्षी, प्रवचन-माय, प्रभावक, पुष्कर, बुद्धिगुण, ब्रह्म, भोगी, मद, मंगल, याम, यूथपनाथ, योग, योगांग, वसु, विधि, व्याकरण, श्रुति, सिद्धि, सिद्धिगुण, सुर, स्पर्श, हय।

नौ (९)—अंक, अंग, अंड, अंतर, ऊलर, कृतरावणमुंड, केशव, क्रतु, खंड, ख, खग (खेचर, खेट, ग्रह), गुप्ति, गुण, ग्रैवेयक, गौ, गुह, छिद्र (रंध्र), जैन-पद्म, तत्त्व, द्वार, दुर्ग, नंद, नव, नाडी, नाथ, नाम, नारद, नारायण (वासुदेव), निधान, निधि, पवन, प्रतिनारायण (प्रतिवासुदेव), पदार्थ, ब्रह्म-गुप्ति, ब्रह्मवृत्ति, भक्ति, भूखंड, मंगल,

युवा, योगेश्वर, रत्न, रस, राशि, लब्धि, व्याघ्रीस्तन, सुधा-कुंड, शेवधि, संख्या।

दस (१०)—अंगद्वार, अंगुलि, अवतार, अवस्था, आशा (ककुभ्, काष्ठा, दिक्, दिशा), इंदुवाजि (चंद्रवाह, चंद्राश्व), कर्म, छाया, दश, दशा, दुर्ग, दोष, धाता, धुनि, नाभि, पंक्ति, पद्म, प्राण, मुद्रा, यति-धर्म, विश्वेदेव, वायु, रावण-मस्तक, रावण-मुख, रावण-शिरस्, शंभुबाहु, श्रमण-धर्म, हस्तांगुलि, हरि, हरित्।

ग्यारह (११)—अंग, अंगोपांग, अक्षौहिणी, ईश (ईश्वर, कपर्दी, कपालभृत्, गिरीश, त्र्यंबक, चंद्रशेखर, धूर्जटी, पशुपति, पिनाकी, प्रमथपति, भर्ग, भव, भूतेश, महादेव, महेश, महेश्वर, रुद्र, वामदेव, शंकर, शंभव, शंभु, शर्व, शितिकंठ, शिव, शूली, श्रीकंठ, स्थाणु (हर), एकादश, कुंभ, कुरु-भूपति-सेना, जिनोपासक-प्रतिमा, भीम।

बारह (१२)—अनुप्रेक्षा, अंशुमाली (अब्जिनी-पति, अरुण, अर्क, अर्यमा, अहस्कर, आदित्य, इन, उष्णरश्मि, उष्णांशु, चित्रभानु, जगच्चक्षु, तपन, तरणि, तीक्ष्णांशु, दिनकर, दिनकृत्, दिननायक, दिन-मणि, दिवाकर, द्युमणि, धाम-निधि, पतंग, प्रभाकर, पूषा, भानु, भास्कर, भास्वत्, भास्वंत, मार्त्तंड, मिहिर, रवि, लोक-बंधु, विभाकर, ब्रध्न, सविता, सहस्रकिरण, सहस्रांशु, सूर, सूर्य, हरि, हरिदेव), उपांग, कर्म, कामदेव, कार्त्तिकेय-नेत्र (गुहनेत्र, गुहाक्षि, सेनानी-नेत्र), क्षमापति-मंडल (चक्रिनः, चक्रवर्त्तिनः, चक्रि-राजानः, राजमंडल), गुह-बाहु, गुहाधीश, जगती, द्वादश, नेम, पंथ, पाकशासन, बहुमाता, भक्त, भाव, भावना, भिक्षु-प्रतिमा (यति-प्रतिमा), मास, मीन (सफर), यम (विकर्त्तन), यमक, व्यय, राशि, वक्र, बृहस्पति-हस्ता, संक्रांति, सभासद, सारिकोष्ट, हृदयकमल, हरिदेव।

तेरह (१३)—अघोष, अतिजगति, काम, किरण, क्रियास्थान, घोषा, तरुवर, ताल, तांबूल-गुण, त्रयोदश, नदीद्वार, प्रथम-जिन-भव, प्रमाथी, यक्ष, रत्न, रवि, विश्व, विश्वेदेवाः, वैश्वदेवाः, सरोवर।

चौदह (१४)—अश्विनी, इंद्र (आखंडल, जिष्णु, पुरंदर, पुरुहूत, मघवा, शक्र, शतमन्यु, सुरपति, सुरेश, सुनासीर, वज्रिन्, बिडौजा), इंद्री,

कुलाकर, गुणमणि, गुणस्थान, चतुर्दश, जम (यम), जीवाजीवोपकरण, देव, त्रिदिव, ध्रुवतारा, नियम, पुरुषान्वय, पूर्व, प्रकृति, भर, भुवन (लोक, विश्व, भूतग्राम, मनु, मार्गणा), यम, रज्जु, रजसूत्र, रत्न, वास्तव, विद्या, विद्या-स्थान, विक्रम, विषय, सूत्र, सुर-भवन, स्रोत, स्रोतस्विनी, स्वप्न।

पंद्रह (१५)—अहन् (घस्र, दिन, दिवस), चंद्रकला, तिथि, तिथि-संख्या, पक्ष, पंचदश, परमाधार्मिक, वृष।

सोलह (१६)—अंबिका, अष्टि, इलापति (क्षोणीश, नृप, नरपति, पृथ्वीपति, भूप, भूपति, भूपाल, मेदिनीपति, राजा), इंदुकला (शशिकला, सुधारुचि-कला, हिमकर-कला), उपचार, कला (चंद्र की), चित्रभानु, पार्षद, वयरंभा (?), विद्यादेवी, शृंगार, शुक्रार्चिष, षोडश, सुर, सुरपति, संस्कार।

सत्रह (१७)—अंबुद (घन, जीमूत, मेघ, जलद, वारिद, पयोद), अत्यष्टि, कुंथु, भक्ष (भोजन), मित्र, मेघाब्द, वारि, संयम (संयमभेद), सप्तदश।

अठारह (१८)—अध्याय, अब्रह्म, अष्टादश, जट, तारण, द्वीप, धान्यक, धृति, पापस्थानक, पुराण, प्रवराम (?), भार, विद्या, स्मृति, सेना-भारत।

उन्नीस (१९)—अतिधृति, एकोनविंशति, ज्ञाताध्ययन, धन्या, पार्थिव, पिंडस्थान, विशेष, संज्ञा।

बीस (२०)—अर, अनंतचक्षु, करांगुलि, कृति, चक्षु (रावण-चक्षु, दशकंधर-नेत्र), दशकंधर-भुजा (रावण-भुजा), नख (नखर), नर, भुजा (रावण-भुजा), व्यय, विंशति, विंशोपक, विश्वे, श्रीभर्तृकरशाखा, श्रुति (रावण-श्रुति)।

इक्कीस (२१)—अमरलोक (अमरालय, त्रिदशालय, दिव, देवालय, निर्जरालय, विबुधालय, स्वर्ग, सुरलोक, सुरालय), उत्कृति, एकविंशति, प्रकृति, सर्वजित्।

बाईस (२२)—कृति, जाति, द्वाविंशति, परीषह, बाईसी (पातिशाही-सेना)।

तेईस (२३)—अक्षौहिणी, जरासंध, त्रयोविंशति, विकृति।

चौबीस (२४)— अवतार, अर्हत्, गायत्री, चतुर्विंशति, जिन, तत्त्व, सिद्ध, सुकृति।

पच्चीस (२५)—तत्त्व, पंचविंशति, प्रकृति।

छब्बीस (२६)—उत्कृति।

सत्ताईस (२७)—उडु (ऋक्ष, तारक, तारा, धिष्ण्य, नक्षत्र)।

अट्ठाईस (२८)—लब्धि।

तीस (३०)—दल, सदल।

बत्तीस (३२)—दंत (दशन, द्विज, रद, रदन), द्वात्रिंशत्, नरलक्षण।

तेंतीस (३३)—अमर (त्रिदश, दानवारि, दिवौकस, देव, देवता, निर्जर, विबुध, सुर), त्रयस्त्रिंशत्, त्रिविष्टप, बुध।

छत्तीस (३६)—रागिनी, वर्गमूल।

चालीस (४०)—नरक।

अड़तालीस (४८)—जगती।

उनचास (४९)—अनिल (पवन, पवमान, प्रभंजन, मरुत्, वात, वायु, समीर), तान।

चौंसठ (६४)—स्त्री-कला।

अड़सठ (६८)—तीर्थ।

बहत्तर (७२)—पुरुष-कला।

चौरासी (८४)—जाति।

सौ (१००)—अब्ज-दल (अब्दल, कमल-दल, शतपत्र-पत्र), अर्जुन-सुत, अस्त्र-स्रक्, कीचक, जपमाला, जलधि-भोजन (?), धृतराष्ट्र-पुत्र (धृतराष्ट्र-सुत), पुरुषायु, मणि-हार, रावणांगुलि, शक्रयज्ञ, शतभिषा, शत-मुख (?), स्रज्।

हजार (१,०००)—अंबुजच्छद (कमल-दल, पंकज-दल), अहिपति-मुख (शेष-शीर्ष), इंद्र, इंद्रचक्षु (इंद्रदृष्टि, इंद्रनेत्र), अर्जुन-बाण, अर्जुन-भुज (अर्जुन-बाहु), कार्त्तवीर्यशिर, गंगामुख (जाह्नवी-वक्त्र), पुराणतरदृष्टचंद्र, रवि-कर, वर्ष (?), विश्वामित्र-आश्रम, सहस्र, सामवेद-शाखा।

दस हजार (१०,०००)—अयुत।

लाख (१,००,०००)—प्रयुत।

दस करोड़ (१०,००,००,०००)—अर्बुद।

परिशिष्ट १

मास-पक्ष-वार के पर्यायवाची नाम

मास

चैत्र—चैत, चैत्रिक, मधु।

वैशाख—माधव, राध, वैसाख।

ज्येष्ठ—जेठ, शुक्र, तपन।

आषाढ़—शुचि, असाढ़, हाड़।

श्रावण—नभ, श्रावणिक, सावन, नभ, शुचौ।

भाद्रपद—प्रौष्ठपद, भाद्र, भादों, भादव, नभस्य।

आश्विन—इष, अश्वयुज, क्वार, कुआर।

कार्त्तिक—कार्त्तिकिक, बाहुल, कातिक, ऊर्ज्ज।

मार्गशीर्ष—मगशिर, मगसिर, अग्रहण, अगहन, मार्ग, आग्रहायनिक, सहस।

पौष—सहस्य, पूस, तैष।

माघ—तप, माह।

फाल्गुन—फाल्गुनिक, तपस्य।

पक्ष

कृष्णपक्ष—वदि, असित, बहुल, मेचक।

शुक्लपक्ष—सुदि, विसद, वलक्ष, धवल, सित, श्वेत, उजुआला।

वार

रविवार—सूर्य, अर्क, इतवार इत्यादि सूर्यवाची सभी नाम।

सोमवार—चंद्र इत्यादि चंद्रवाची सभी नाम।

मंगलवार—अंगारक, कुज, भौम, भूमिसुत, लोहितांग।

बुधवार—सौम्य, चंद्रसुत, चंद्रज, जारज, रोहिणेय, ज्ञ, विद्, विदिच।

बृहस्पतिवार—गुरु, सुरगुरु, आंगिरस, सुराचार्य, गीष्पति, जीव, धिषण, वाचस्पति।

शुक्रवार—कवि, काव्य, दैत्यगुरु, उशना, भार्गव, दैत्यराज, आदिदेव, गुरुचित्र, शिखंडिन् , ईज्य।

शनिवार—शनैश्चर, मंद, मंदचाल, छायासुत, सौरि, रविनंदन, अर्कि, मंदग्रह।

परिशिष्ट २

सांकेतिक ग्रंथकारनाम

ग्रंथकार अपने नामों का भी निर्देश नानाविध संकेतों द्वारा किया करते थे। उनके कतिपय उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं। जैन ग्रंथकारों में इस परिपाटी से नामनिर्देश सबसे प्राचीन जिनदासगणि महत्तर (वि० सं० ७३३) ने अपनी निशीथचूर्णि में किया है—

"ति चउ-पण-अट्ठम वग्गा, ति-पण-ति-तिग अक्खरावतेतेसिं।
पढम ततिएहिं ति-दुसर जुएहिंणामं कयं जस्स॥
गुरु दिण्णं च गणित्तं महत्तरत्तं च तस्स तुट्ठेहिं।
तेण कए सा चूण्णी, विसेस नामाणि सीहस्स॥"

इस गाथा में जिणदास नाम सूचित किया है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—अ, क, च, ट, त, प, य, श ये ८ वर्ग हैं। इनमें तृतीय, चतुर्थ, पंचम और अष्टम वर्ग के अनुक्रम से तृतीय, पंचम, तृतीय और फिर तृतीय अक्षर अर्थात् ज ण द स इन अक्षरों में से प्रथम ज और तृतीय द के साथ प्रथम वर्ग के तृतीय और द्वितीय अक्षर (मात्रा) लगाने से 'जिणदास' नाम निकलता है। इन्होंने अपनी नंदिचूर्णि में भी अपना नाम "णिरेणगामत्त महासदाजिका" इन बारह अक्षरों से सूचित किया है, जिनको लौट पौट कर क्रम में रखने से 'जिणदासगणिणा महत्तरेण' नाम निकल जाता है।

पुष्पमालाप्रकरण के कर्त्ता हेमचंद्र सूरि ने अपना नाम इस प्रकार लिखा है—

हेम-मणि-चंद-दप्पण-सूरि-रिसी पढम वन्न नामेहिं।
सिरि अभयसूरि सीसेहिं, विरइयं पगरणं इणमो ॥ ५०१ ॥

इनमें से "हेम मणिचंद दप्पण सूरि रिसी" इनका प्रथमाक्षर लेने से नाम निकलता है।

विवेकविलास में जिनदत्त सूरि ने अपने गुरु 'जीवदेव' का नाम यों सूचित किया है—

जीववत् प्रतिमा यस्य, वचो मधुरिमाश्रितम्।
देहं गेहं श्रियस्तं स्वं, वंदे सूरिवरं गुरुम् ॥

जिनप्रभ सूरि रचित सिद्धांतस्तव के अवचूरि-कर्त्ता ने अपने गुरु का नाम इस प्रकार लिखा है—

ध्यायन्ति श्री विशेषाय, गता वेशालयेनयम्।
स्तुतिद्वारा जयश्रीदः श्रीवीरगुरुगौरवः ॥

(श्रीविशालराजगुरु)

प्रश्न एकषष्टिशतक में जिनवल्लभ सूरि ने अपने गुरुओं का नाम इस प्रकार लिखा है—

कः स्यादम्बुधिवारिपाय रुचिते क्व द्वीपिनं हन्त्ययं
लोकः प्राह हयं प्रयोगनिपुणैः कः शब्दधातुः स्मृतः।
ब्रूते पालयिताऽत्र दुर्द्धरतरः कः क्षुभ्यतेऽम्भोनिधे-
र्ब्रूहि त्वं जिनवल्लभस्तुतिपदं कीदृग्विधाः के सताम् ॥ १ ॥

उत्तरः—श्रीमद्गुरुवो श्रीजिनेश्वरसूरयः।

पाके धातुरवाचिकः क्व भवतां भीरोर्मनः प्रीतये
सालंकारविदग्धया वद कया रज्यन्ति विद्वज्जनाः।
पाणौ किं मरुजिद् बिभर्ति भुवि ते ध्यायन्ति के वा सदा
के वा सद्गुरवोऽत्र चारुचरणश्रीसत्श्रुता विश्रुताः ॥ १ ॥

उत्तर—श्रीमद् अभयदेवाचार्याः।

उपर्युक्त जिनवल्लभ सूरि ने संघपट्टक में अपना नाम इस प्रकार सूचित किया है—

विभ्राजिष्णुमगर्व्वमस्मरमनासादं श्रुतोक्षंघने
सज्ज्ञानद्युमणिं जिनं वरवपुः श्रीचन्द्रिकाभेश्वरम्।
वन्दे वर्णमनेकधा सुरनरैः शक्रेण चेनश्छिदं
दम्भारिं विदुषां सदा सुवचसाऽनेकान्तरंगप्रदम्॥३१॥

इस श्लोक के तीन चरणों के तीसरे एवं सत्रहवें अक्षर को लेने से 'जिनवल्लभेन' शब्द निकलता है।

सं० १२९५ में रचित गणधरसार्द्धशतकबृहद्वृत्ति में --

का दौर्गत्यविनाशिनी हरिविरिंच्यु [च्च ?] प्रवाची च को
वर्णः को व्यपनीयते च पथिकैरत्यादरेण श्रमः।
चन्द्रः पृच्छति मन्दिरेषु मरुतां शोभाविधायी च को
दाक्षिण्येन नयेन विश्वविदितः को भूरि विभ्राजते॥ १॥
(सा ऊ म् अध्वजः = सोमध्वजः)

सोमतिलकसूरि ने अपने एक स्तोत्र में नाम इस प्रकार दिया है—

यस्त्वां श्रीजिन ! सूरितोन्मदमनश्चोर प्रणौति श्रमं
जित्वा सोढगरिष्ठकष्टदहनं शोचिष्णुभालद्युतम्।
दत्ताऽमर्त्यपवित्रसंमद ! पठन् कान्तं विशंकः स्तवं
वन्द्यान्हाय भवान् जिनः प्रददता मन्येऽपि तस्मै शिवम्॥१२॥

इस श्लोक के प्रथम तीन चरणों में से प्रत्येक का तीसरा, सत्रहवाँ, छठा और चौदहवाँ अक्षर एकत्र करने से 'श्रीसोमतिलकसूरिविरचित' नाम निकलता है।

तीर्थकल्प में जिनप्रभ सूरिजी ने—

कोऽर्थं (क्वार्थं सू) जेत् किं प्रतिषेधवाचि ? पदं ब्रवीति प्रथमोपसर्गः ?
कीदृग् निशा ? प्राणभृतां प्रियः कः ? क ग्रंथमेतं रचयांप्रचक्रुः॥१॥
उत्तर—श्रीजिनप्रभसूरयः।

अस्वाध्याय समूल (?) में कवि हीर ने—

अंतवर्ग अंतक्षर जे, च्यार मात्र दीजे तेह।
सतम वर्गबीज अक्षरै, तव कविनामा कहियो इणपरि॥ १॥
जैन गुर्जर कविओ भा० १।

पहेलो अक्षर लाभ नो एमा, बीजो भव नो जाणी।
त्रीजो पुण्यवंत बीजलुँ ए, आगलि समय ठवेइ॥

(देवराज वछराज चौपइ 'लावण्य समय' कृत)

कवि ऋषभदासकृत हीरविजयसूरिरास में किसी किसी कवि ने तो अपना और अपनी कृति का परिचय सभी संकेत में ही दिया है। यथा:—

पाटण मांहि हुओ नर जेह, नात चोरासी पोषे तेह।
मोटो पुरष जगे तेह कहेस, तेहनी नात ने नामे देस॥ १॥

(गूज्जर देश)

आदि अक्षर बिन बीबे जोय, मध्य बिना सहुकोने होय।
अंत्य अक्षर बिन भुवन मझारी, देखी नगर नाम विचार॥ २॥

(खंभात)

खडग् तणोधुरि अक्षर लेह, अक्षर धरम नो बीजो जेह।
त्रीजो कुसुम तणो ते जुही, नगरी नायक कीजे सही॥ ३॥

(खुरम पातशाह)

निसांण तणो गुरु अक्षर लेह, लघु दोय गण पति ना जेह।
भेली नाम भलुं जे थाय, कवि केरी ते कहुं पिताय॥ ४॥

(सांगण)

चंद अक्षर ऋषि घर थी लेह, मेषला तणो नयणमों नेह।
अक्षर भवनमो शालि भद्र तणो, कुसुमदाम नो वेदमो भणो॥ ५॥
विमल वसही नो अक्षर वाणमो, जोडी नाम करोका भयो।
श्रावक सोय रस नीपात, प्रागवंश वीसो विख्यात॥ ६॥

(ऋषभदास)

दिशि आगल लेइ इंद्रिय (इंद्रह) धरो, काल सोय ते पाछल करो।
कवण संवत्सर थापेवली, त्यारे रास कर्मो मन रली॥ ७॥

(१६८५)

वृत्त माहि वडो कहेवाय, जेणे छांहि नर दुष्ट पलाय।
ते तरुवर ने नामे मास, कीधो पुण्य तणो अभ्यास ॥ ८ ॥
[आसो (ज) मास]

आदि अत्तर बिन को भय करो, मध्य विनास हुए आदरो।
अंति बिना सिरि रावण जोया, अजुवाली तिथि ते पण होय ॥ ९ ॥
(शुक्ला दसम)

सकल देव तणो गुरु जेह, घणा पुरष ने वल्लभ तेह।
घरे आण्यो करी जय जयकार, तेणे वारे कीधो विस्तार ॥ १० ॥
(गुरुवार)

दीवाली पहेलुं पर्वज जेह, उदाइ केडे नृप बेठो तेह।
बेहु मली होय गुरु नुं नाम, समये सीझे सघलां काम ॥ ११ ॥
(विजयाणंद सूरि)

महासेनवदनाहिमकरहरि, विक्रम नृप संवत्सरि।
जेम मधु नामि मास कहिजइ, तेथी गुहमाह मास लहीजइ ॥ ९३ ॥
तिथि संख्या त्रिक वर्गि जाणो, यमी जनक वलिवार वखाणो।
शिति पक्षि उडु यामक लहये, सिद्धि ये गते माटइ कहिये ॥ ९४ ॥
(सुघनहर्ष कृत मंदोदरी-रावण-संवाद) जै० गु० क० भा० १, पृ० ५०६।

'देवानांप्रिय' पद का अर्थ

(विद्वान् और मूर्ख)

[लेखक—श्री ईश्वरचंद्र शर्मा मौद्गल्य]

आजकल 'देवानांप्रिय' पद मूर्ख अर्थ में बहुत प्रसिद्ध है। प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों ने अनभिज्ञ के अर्थ में इसका प्राय: प्रयोग किया है। भारत ही नहीं, अन्य देशों के संस्कृतज्ञ लोगों में भी प्रसिद्ध श्रीभट्टोजि दीक्षित की सिद्धांतकौमुदी के अनुसार 'देवानांप्रिय' पद का अर्थ मूर्ख है। 'देवानांप्रिय इति च मूर्खे'* इस वार्तिक के अनुसार यदि वाच्य अर्थ मूर्ख हो तो 'देवानां' पद की षष्ठी विभक्ति का 'प्रिय' उत्तर पद होने पर लोप नहीं होता। पर यदि वाच्य अर्थ मूर्ख न होकर विद्वान् हो तो अलुक् समास नहीं रहता है, षष्ठी विभक्ति का लोप होकर देवप्रिय पद बन जाता है। परंतु महाभाष्य में वार्तिक का पाठ मूर्ख पद से रहित है। इसका आश्रय लेकर श्री सत्यव्रतजी सामश्रमी निरुक्तालोचन† में भगवान् पतंजलि को शाक्य बुद्ध का परवर्ती सिद्ध करते हुए कहते हैं कि पहले पाणिनि के काल में देवानां प्रिय ये दो पद बिना समास के यज्ञ-पशु के वाचक थे। यज्ञ में देवताओं के लिये पशुओं की बलि दी जाती थी, इसलिये पशुओं को देवानांप्रिय अर्थात् देवताओं का प्यारा कहा जाता था। इसके अनंतर कात्यायन के काल में दोनों पद समस्त होकर एक पद बन गए और पशुतुल्य मूर्ख में प्रयोग होने लगा। तब आर्यों ने बौद्धों को देवानांप्रिय कहकर मूर्ख बतलाया। इसके अनंतर कुछ काल में इस पद को प्रशंसावाचक समझकर बौद्धों ने अपना लिया और अपने नाम के साथ इसका प्रयोग आरंभ कर दिया। बौद्ध काल के व्यवहार को देखकर भाष्यकार ने मूर्ख पद को वार्तिक से पृथक् कर

* सिद्धांतकौमुदी, बालमनोरमा सहित (लाहौर); पृ० ६४६

† निरुक्तालोचन (कलकत्ता, १९०७ ई०), पृ० ७० ।

दिया। अब विचार कीजिए। भाष्यकार वार्तिक को मूर्ख पद के बिना पढ़ते हैं। इस दशा में भाष्य से पहले वार्तिक में मूर्ख पद बिना किसी प्रमाण के नहीं माना जा सकता। भाष्य दीक्षित आदि का मान्य है। उसके प्रतिकूल रहने पर सूत्र या वार्तिक का अन्य पाठ शुद्ध नहीं है। कोई प्रबल बाधक प्रमाण न हो तो प्राचीन पाठ ही शुद्ध होता है। वार्तिक-कार से पहले देवानां और प्रिय इन दोनों पदों का यज्ञ-पशु के लिये प्रयोग होता था, इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है। आरंभ में वार्तिक मूर्ख पद के बिना था। पीछे के लेखकों ने मूर्ख पद मिला दिया। पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि के भिन्न भिन्न काल के अनुसार अर्थ के बदलने में मूलभूत आधार नहीं मिलता। यज्ञ-पशु के अर्थ में देवानांप्रिय पद का प्रयोग हो सकता है, व्युत्पत्ति के प्रतिकूल नहीं; पर इसी अभिप्राय से वार्तिक की रचना नहीं मानी जा सकती।

निरुक्तालोचन की रचना के एक वर्ष के अनंतर श्री कीलहार्न ने* इस विषय में अपना मत भिन्न रूप में प्रकाशित किया। उनके अनुसार देवानांप्रिय पद मूर्ख नहीं, बुद्धिमान् गुणी का वाचक है। मूर्ख अर्थ पीछे का है। भगवान् शंकराचार्य ने वेदांतसूत्रों† के भाष्य में इसका प्रयोग मूर्ख अर्थ में किया है। महाभाष्य का प्रयोग मूर्ख अर्थ में है, पर वह विपरीत लक्षणा से है। मनोरमा, तत्त्वबोधिनी और शब्देंदुशेखर के कर्ताओं ने मूर्ख ही वाच्य माना है। पहले पहल मूर्ख अर्थ का उल्लेख प्रक्रियाकौमुदी में हुआ। हेमचंद्र ने शब्दानुशासन में इस पद की सिद्धि करते हुए मूर्ख अर्थ नहीं लिखा। बाण‡ ने दो बार इस पद का प्रयोग प्रशंसा प्रकट करने के लिये किया है।

* जर्नल आव दी रायल एशियाटिक सोसाइटी आव ग्रेट ब्रिटेन (१६०८ ई०) पृष्ठ ०४-५।

† वेदांतसूत्रभाष्य (१।२।८)

‡ हर्षचरित (निर्णयसागर) पृ० २५, २३९।

इससे प्रतीत होता है कि श्री कीलहार्न के अनुसार विद्वान् गुणी मनुष्य देवानांप्रिय कहा जा सकता है। सीधे ढंग से मूर्ख को देवानांप्रिय नहीं कह सकते। हाँ, विपरीत लक्षणा से मूर्खता दिखलाने के लिये इसका प्रयोग हो सकता है। अज्ञानी को पंडित कहकर प्रायः चिढ़ाते हैं। दीक्षित आदि की परंपरा के अनुसार मूर्ख ही वाच्य अर्थ है, विद्वान् अर्थ में प्रयोग भूल है। श्री कीलहार्न के अभिप्राय से वाच्य अर्थ विद्वान् ही है, मूर्ख नहीं। वाच्य न होने पर भी मूर्ख अर्थ में विपरीत लक्षणा से प्रयोग हो सकता है। पहले परंपरा का विचार कर लीजिए। इस पक्ष में दीक्षित के अनुसार वार्तिक में मूर्ख पद का संबंध है। इस प्रकरण में शब्देंदुशेखर के व्याख्याकार श्री भैरव मिश्र* कहते हैं कि भाष्य में मूर्ख पद नहीं दिखाई देता तो भी बहुधा प्रयोग देखने के कारण मूर्ख को वाच्य अर्थ कह दिया गया है। स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० शिवदत्तजी ने अनेक ग्रंथों को संशोधन करके विस्तृत टिप्पणियों के साथ प्रकाशित कराया है। वे वार्तिक में मूर्ख पद नहीं मानते। पर मूर्ख अर्थ को उपपन्न करने के लिये अन्य युक्ति देते हैं। उनका कहना है†—यह वार्तिक 'षष्ठ्या आक्रोशे' इस सूत्र के साथ है इसलिये 'आक्रोशे' का संबंध वार्तिक के साथ है। अर्थात् देवानांप्रिय पद में षष्ठी का लुक् तभी नहीं होता जब निंदा की प्रतीति होती है। पर इस सूत्र के साथ संबंध होने से वार्तिक में निंदा का सूचित होना ठीक नहीं है। आमुष्यायण आदि पदों में अलुक् करनेवाले वार्तिकों का इसी सूत्र के साथ संबंध है। पर वे निंदा की सूचना नहीं देते। आमुष्यायण पद का अर्थ है अमुक का पुत्र। इतने से निंदा नहीं होती। वार्तिक में निंदा का संबंध नहीं है, इसके लिये और हेतु भी है। निंदा के प्रकाशित करनेवाले कुछ पदों की सिद्धि पाणिनि के सूत्रों से होती है। पद सीधे-सादे ढंग से निंदा नहीं सूचित करते। सूत्रों में भी निंदा का कारण

* लघुशब्देंदुशेखर चंद्रकला सहित (बनारस), पृ० १६३।

† सिद्धांतकौमुदी, म० म० शिवदत्तकृत टिप्पणी सहित, पृ० १६०।

नहीं कहा गया। भाष्यकार ने इस प्रकार के स्थलों में निंदा के हेतु को प्रकट किया है। एक सूत्र है—'खट्वा क्षेपे' (२।१।२५)। इसका उदाहरण है खट्वारूढः। इसका सीधा अर्थ है खाट पर चढ़ा हुआ। खाट पर चढ़ने से कोई बुराई नहीं उत्पन्न होती, इसलिये भाष्यकार ने कहा कि शिक्षा समाप्त करके समावर्तन-संस्कार के अनंतर गुरुओं की अनुमति लेकर खाट पर चढ़ना चाहिए। जो इस नियम को तोड़ दे उसे खट्वारूढ कहते हैं। इसी प्रकार 'ध्वाङ्क्षेण क्षेपे' (२।१।४२) और 'क्षेपे' (२।१।४७) इन सूत्रों के उदाहरण क्रम से हैं—तीर्थकाकः और अवतप्ते नकुलस्थितं त एतत्। यहाँ भी काक और नकुल के कामों की समानता से निंदा प्रकट की गई है। इस शैली को देखते हुए सहज ही अनुमान होता है कि यदि वार्तिक में निंदा का कुछ भी संबंध होता तो भाष्यकार मूर्खता को प्रकट करने-वाली समानता का अवश्य उल्लेख करते। फिर खट्वारूढः इत्यादि समस्त पदों के एक एक पद जिस अर्थ को बताते हैं, उनसे यदि निंदा नहीं प्रतीत होती तो स्तुति भी नहीं प्रकट होती। पर देवानां और प्रिय पद का जो अर्थ अत्यंत प्रसिद्ध होने से पहले मन में आता है वह मूर्ख अर्थ के प्रतिकूल है। देवताओं का प्रिय कोई विद्वान् हो सकता है। इस दशा में खट्वारूढ इत्यादि पदों से भी बढ़कर देवानांप्रिय पद में मूर्ख को प्रकाशित करनेवाली समानता का उल्लेख करना आवश्यक है। भाष्यकार ने इस प्रकार की समानता का निरूपण नहीं किया। इसलिये देवानांप्रिय पद खट्वारूढ इत्यादि के समान केवल निंदनीय मनुष्य का वाचक नहीं है। विद्वान् को देवानां-प्रिय कहा जाय इसमें पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि का विरोध नहीं है।

ऋचा में 'देवानांप्रिय' कहकर पवमान सोम की प्रशंसा की गई है। पर वहाँ पर देवानां और प्रिय दो पद हैं, एक पद नहीं। समास से पहले जो अर्थ पदों से प्रतीत होता है, वह समास होने पर स्थिर रहता है। ऋचा यह है—

> अस्मान् समर्ये पवमान चोदय दक्षो देवानामसि हि प्रियो मदः।
> जहि शत्रूँरभ्याभन्दनायतः पिबेन्द्र सोममवनी मृधे जहि॥
>
> (ऋ० ९।८५।२)

असि और हि पद के बीच में होने से स्पष्ट है कि देवानां और प्रियः में समास नहीं है। सम्राट् अशोक ने लेखों में अपने लिये देवानांप्रियः, प्रियदर्शी इन विशेषणों का प्रयोग स्तुति के लिये किया है।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि देवानांप्रियः लिखकर जहाँ प्रशंसा की गई है, वहाँ समस्त एक पद नहीं है। देवानां और प्रियः दो पद हैं और वे समास न होने पर विद्वान् के वाचक हो सकते हैं। अशोक और बाण के प्रयोग बिना समास के हैं। समास में अलुक् होने पर और समास न होने पर पद का आकार एक सा रहता है, पर यदि समास के बिना पद विद्वान् अर्थ को कह सकते हैं तो समास में उनकी शक्ति चली नहीं जाती। जो अर्थ समास के न होने पर है वही समास होने पर क्यों न माना जाय ? देवानांप्रिय से मिलता-जुलता प्रयोग विद्वान् के अर्थ में और भी है। बौधायन गृह्यशेष सूत्र में कहा है—'यो देवस्य प्रियो विद्वान् देवस्य पदमाप्नुयात्' (१।२२।१५)। देवस्य प्रियः और देवानां प्रियः में केवल एकवचन और बहुवचन का भेद है।

अर्थ के विषय में भी अब परंपरा के प्रचलित पक्ष की आलोचना कर ली जाय। दीक्षित ही नहीं, हेमचंद्र, धनंजय और त्रिकांडशेष के कर्ता पुरुषोत्तम ने अपने कोषों में इसे अनभिज्ञ का पर्याय माना है। क्या यह सब प्रमाद है ? कुछ गंभीर विचार करते ही ज्ञात हो जाता है कि मूर्ख अर्थ में भी क्लेश नहीं है। तीन प्रकार से मूर्ख अर्थ प्रकाशित हो सकता है और उसमें लक्षणा का सहारा नहीं लेना पड़ता। पहला पक्ष कैयट का है, दूसरा दीक्षित की मनोरमा का और तीसरा निरुक्तालोचन से सूचित होता है। व्याकरण-ग्रंथों के लेखकों में पहले पहल कैयट ने मूर्ख अर्थ का प्रतिपादन किया। इनके मत में देव शब्द मूर्ख का वाचक है। जो देवों अर्थात् मूर्खों का प्रिय है, वह देवानांप्रिय है। शब्देंदुशेखर में इस पक्ष का अनुमोदन है; परंतु यह अत्यंत क्लिष्ट कल्पना है। देव शब्द से देवताओं का बोध होता है और वे विद्या और आचार में बढ़े-चढ़े होने के कारण मनुष्यों से ऊँचे हैं। केवल योग के बल से मंदबुद्धि को देव कहा जा सकता है पर रूढ़ि इसके प्रतिकूल है। विद्या आदि गुणों से संपन्न देवताओं को देव कहने में

योग भी है, रूढ़ि भी है। मनोरमा के अनुसार देव पद प्रसिद्ध देवताओं का वाचक है। देवों की मूर्खों पर प्रीति है। मूर्ख लोग देवों के पशु हैं। इसी को तत्त्वबोधिनी* में स्पष्ट किया है। जब तक लोगों को ब्रह्म-ज्ञान नहीं है, तब तक वे यज्ञों में पुरोडाश आदि देकर देवों को तृप्त करते रहते हैं। ब्रह्मज्ञान होने पर वे यज्ञ करना छोड़ देते हैं। यज्ञों के कर्ता लोग देवपशु हैं। यही बात बृहदारण्यक† उपनिषद् में कही है। देवों को मनुष्यों का ज्ञानी होना प्रिय नहीं है। समझदार लोग दूसरों की अनभिज्ञता से लाभ उठाते हैं। यही देव करते हैं। इस प्रकार मूर्ख देवों का प्रिय है। तीसरा पक्ष देखिए। यज्ञ में देवताओं के लिये पशुओं का वध किया जाता है। आहार में देवताओं का स्वाभाविक प्रेम है, इसलिये पशु देवताओं के प्रिय हैं। पशुओं के समान मूर्ख होने के कारण अज्ञानी भी देवताओं के प्रिय कहे जाते हैं।

मनोरमा और निरुक्तालोचन के पक्षों का अंतर ध्यान देने योग्य है। मनोरमा के पक्ष में मूर्ख अज्ञानी होने के कारण देवों का प्रिय है। बलि-पशु की समानता प्रिय होने में हेतु नहीं है। और निरुक्तालोचन के अनुसार मूर्ख मूर्खता के कारण देवों का प्रिय कहा जाता है। उसके लिये देवों के प्रेम की आवश्यकता नहीं है। बलि-पशु आहार होने के कारण देवों का प्रिय है, पर मूर्ख को जब देवों का प्रिय कहा जाता है, तब पशुओं के समान विवेकहीनता के कारण; पशु के समान देवों की स्वार्थपूर्ति का साधन है इसका ध्यान नहीं रखा जाता। महामहोपाध्याय पं० शिवदत्तजी कहते हैं‡— 'इतराभ्योपि दृश्यन्ते' इस सूत्र के भाष्य में 'भवान् दीर्घायुः देवानांप्रियः आयुष्मान्' इन पदों का पाठ है। दीर्घायु और आयुष्मान् बड़ी आयुवाले को बतलाते हैं। इन दोनों के मध्य में पाठ होने से देवानांप्रिय को भी दीर्घायु का पर्याय समझना चाहिए। किंतु इस कल्पना में कोई तर्क नहीं है।

* सिद्धान्तकौमुदी तत्त्वबोधिनीसहित, (निर्णयसागर, बंबई) पृ० २१३

† बृहदारण्यकोपनिषत्, अ० ३ ब्रा० ४।

‡ सिद्धांतकौमुदी टिप्पणीसहित पृ० २३५।

न देव पद बड़ी आयु की सूचना देता है न प्रिय पद। बीच में पाठ हो जाने से अर्थ नहीं उलट जाता। अब यह स्पष्ट है कि दोनों अर्थ वाच्य हैं, विद्वान् और मूर्ख। हेमचंद्र, पुरुषोत्तम और धनंजय ने केवल मूर्ख अर्थ लिखा है। इन कोषकारों के काल में मूर्ख अर्थ अत्यंत प्रसिद्ध हो चुका था और विद्वान् अर्थ छिप चुका था। इसलिये इनके आधार पर विद्वान् अर्थ को अयुक्त नहीं ठहराया जा सकता। हर्षचरित के व्याख्याकार महाकवि चूड़ामणि शंकर ने इसको स्पष्ट ही पूजावाचक कहा है। इसी प्रकार शाकटायन व्याकरण में व्याख्याकार अभय सूरि विद्वान् और मूर्ख दोनों अर्थों का निर्देश करते हैं। महाभाष्य में एक स्थान पर देवानांप्रिय कहकर सूत ने वैयाकरण का उपहास किया है। यहाँ अनभिज्ञ अर्थ भी वाच्य हो सकता है और विपरीत लक्षणा से भी प्रयोग माना जा सकता है। निश्चित रूप से केवल मुख्य शक्ति या लक्षणा का स्वीकार करना अनुचित है।

प्रयोग के काल पर दृष्टि डालिए। इससे भी दोनों अर्थों का प्रचार पाया जाता है। अशोक का काल ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी कहा जाता है। उनके लेख में यह प्रयोग पूजार्थक है। उस काल में यह केवल प्रशंसा की सूचना देनेवाला रहा हो और इससे पीछे मूर्ख अर्थ में रूढ हो गया हो इस संभावना को भी कोई स्थान नहीं है। भगवान् शंकराचार्य का काल अनेक विचारकों के अनुसार ईसा का सप्तम शतक है। वे मूर्ख अर्थ में प्रयोग करते हैं। इसी काल के बाण प्रशंसा के लिये प्रयोग करते हैं। शंकराचार्य ही नहीं, उनसे कुछ ही काल के अनंतर ईसा की ८वीं शताब्दी में शांतरक्षित ने* भी मूर्ख अर्थ में प्रयोग किया। महान् बौद्ध विद्वान् शांतरक्षित अशोक के लेखों से ईसा की ८वीं शताब्दी में अवश्य परिचित रहे होंगे। अशोक के लेखों में प्रशंसासूचक प्रयोग देखकर भी मूर्ख अर्थ में प्रयोग करनेवाले शांतरक्षित दोनों अर्थों को स्वीकार करते हैं, यह सहज ही

* वादन्याय, पृ० ४३–४७ (बनारस)।

प्रतीत होता है। अर्वाचीन काल में इसका मूर्ख अर्थ में इतना प्रचार हो गया कि प्रक्रियाकौमुदी* में वार्तिक के साथ मूर्ख पद का संबंध कर दिया गया। प्रसाद नामक इसकी व्याख्या में इसकी पुष्टि की गई। इसके अनंतर भट्टोजि दीक्षित आदि इसी के पीछे चले।

उपर्युक्त दोनों अर्थ सिद्ध हुए। एक बात रह गई। दोनों अर्थों में यदि देवानांप्रिय पद का प्रयोग है, तो षष्ठी विभक्ति का लुक् होकर देवप्रिय इस समस्त पद को शुद्ध कहेंगे या अशुद्ध? उत्तर सीधा है। यदि वार्तिक से लुक् का निषेध नित्य है तो इस प्रकार का प्रयोग व्याकरण के विरुद्ध है और यदि वार्तिक की आज्ञा अटल न हो तो शुद्ध मान लेना चाहिए। पर देवानांप्रिय इस अलुक् समासवाले और देवप्रिय इस लुक्समासवाले पद का इतना भेद रहेगा कि पहले का प्रयोग दोनों अर्थों में पाया जाता है और पिछले को केवल विद्वान् के साथ लगाते हैं। मूर्ख को कभी देवप्रिय नहीं कहा गया।

निष्कर्ष यह कि दीक्षित के मत में विद्वान् अर्थ नहीं है, मूर्ख ही वाच्य है। श्री कीलहार्न के अनुसार मुख्य अर्थ विद्वान् है, मूर्ख अर्थ मुख्य नहीं। लक्षणा से उसका ज्ञान होता है। मैंने निरूपण किया है कि दोनों अर्थ मुख्य हो सकते हैं। मूर्ख अर्थ में लक्षणा नहीं है।

* श्री कमलाशंकरजी त्रिवेदी ने प्रक्रियाकौमुदी की भूमिका में प्रक्रियाकौमुदी के कर्ता का काल ईसा की चौदहवीं सदी का उत्तरार्ध माना है।

घनानंद का एक अध्ययन

[लेखक—श्री शंभुप्रसाद बहुगुना]

नाम, जीवनी और कृतियों का विवेचन

कवियों की जीवनी के स्पष्ट प्रमाण न मिलने पर जब एक ही नाम के अनेक कवि साहित्य में पाए जाते हैं तो उनके विषय में बड़ी गड़बड़ी होती है। एक की रचनाएँ दूसरे के नाम के साथ उसी प्रकार जुड़ जाती हैं, जिस प्रकार एक की जीवन-घटनाएँ दूसरे के साथ आ मिलती हैं। फिर उन्हें उपयुक्त साधनों के अभाव में अलग अलग करना कठिन ही नहीं, असंभव सा हो जाता है। साहित्य के इतिहास में यह कठिनाई अनेक कवियों के विषय में पाई जाती है। घनानंद ऐसे ही कवियों में से हैं। उनके विषय में ऐसी कठिनाई घनआनंद, आनंदघन तथा आनंद नामों के साम्य के कारण आई है और इस कठिनाई को बढ़ाने में इन नामों के कवियों का एक ही समय के आसपास थोड़ा-बहुत अंतर से होना और भी अधिक सहायक हुआ है।

शिवसिंह सेंगर ने अपने सरोज में घनआनंद, आनंदघन और आनंद का विवरण इस प्रकार दिया है :

(१) पृ० ८२ (१९२६ संस्करण) सं० १७०—

घनानंद कवि

गाइहौं देवो गनेस महेस दिनेसहि पूजत ही फल पाइहौं।
पाइहौं पावन तीरथ नीर सु नेकु जहीं हरि को चित लाइहौं॥
लाइहौं आछे द्विजातिन को अरु गोधन दान करौं चरचाइहौं।
चाइ अनेकन सों सजनी घनआनंद मीतहि कंठ लगाइहौं॥

पृ० ४८२ में इस कवि के विषय में लिखा है—

'घनआनंद कवि संवत् १६१५ में उत्पन्न। यह कवि लोगों में महा उत्तम हो गए हैं।'

(२) पृ० ११ सं० २८

आनंदघन दिल्लीवाले

आपु ही ते तन हेरि हँसे तिरछे करि नैनन नेह के चाउ मैं।
हाय दई सु विसारि दई सुधि, कैसी करौं सु कहौं कित जाउँ मैं॥
मीत सुजान अनीति कहा यह, ऐसी न चाहिए प्रीति के भाउ मैं।
मोहनी मूरति देखिबे को तरसावत है बसि एकहि गाँउ मैं॥१॥
जैहै सबै सुधि भूलि तुम्हैं फिरि भूलि न मो तन भूलि चितैहैं।
एक को आँक बनावत मेटत पोथिय काँख लिए दिन जैहैं॥
साँची हौं भाखति मोहिं कका कि सौं पीतम की गति तेरिहू ह्वै हैं।
मो सो कहा अठिलात अजासुत कै हौं कका जी सों तो हूँ सिखैहैं॥

पृ० ३८०-८१ पर सं० २२ में इनके विषय में लिखा है—

"आनंदघन दिल्लीवाले, संवत १६१५ में उत्पन्न। इन कवि का कवित्त सूर्य के समान भासमान है। मैंने कोई ग्रंथ इनका नहीं देखा। इनके फुटकर कवित्त प्राय: पाँच सौ तक मेरे पुस्तकालय में होंगे।"

(३) पृ० ३८३, सं० ३९—

"आनंद कवि, संवत् १७११ में उत्पन्न। कोकसार और सामुद्रिक दो ग्रंथ इनके बनाए हैं।"

यद्यपि सरोजकार ने घनानंद और आनंदघन दिल्लीवाले के जन्म-संवत् में ठीक एक सौ वर्षों का अंतर रखा है, किंतु मिश्रबंधुओं ने इन दो कवियों के एक ही व्यक्ति होने की संभावना देखी; कदाचित् इसी कारण उन्होंने विनोद, भाग १, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १७९ पर सरोजकार के घनानंद का 'गाइहौं देवी गनेस महेस...' वाला सवैया (उस कवि की) भाषा के उदाहरण में दिया है और इस घनानंद का कविता-काल (संवत् १७५०-१७९८) वही माना है जो उनके अनुसार प्रसिद्ध शृंगारी घनानंद का कविता-काल (संवत् १७७१—१७९६) है।

किंतु विनोद में एक और आनंदघन का उल्लेख है, जो यशोविजय जी (संवत् १७०५) के समसामयिक और 'आनंदघन बहोत्तरी स्तवावली' के रचयिता हैं।

आचार्य क्षितिमोहन सेन के लेख 'जैन मरमी आनंदघन' से, जो इंदौर साहित्य-सम्मेलन की सम्मेलनपत्रिका में प्रथम छपा था और बाद को अविकल रूप में नवंबर १९३८ की 'वीणा' में प्रकाशित हुआ, पता चलता है कि 'आनंदघन बहोत्तरी स्तवावली' के रचयिता आनंदघन जैन कवि थे, जो पहले सांप्रदायिक भाव से साधना-मार्ग में अग्रसर हुए थे, परंतु बाद में असांप्रदायिक मरमी सहजपंथ में आ उपस्थित हुए। क्षितिबाबू ने इन जैन मरमी आनंदघन का समय यशोविजयजी की 'अष्ट-पदी' और बड़ौदा के अंतर्गत दभोई नगर में यशोविजयजी की समाधि पर लिखी निधन-तिथि—मार्गशीर्ष मास संवत् १७४५ की एकादशी—के आधार पर संवत् १६७२ (=ई० सन् १६१५) से संवत् १७३२ (=ई० सन् १६७५) तक माना है। अतः वे शृंगारी घनानंद के (जिनका जन्म सरोजकार के अनुसार संवत् १७१५ में हुआ था) समय विद्यमान थे। जैन मरमी आनंदघन की मृत्यु के समय दिल्लीवाले घनानंद इस प्रकार केवल १७ वर्ष के थे।

आनंदघन-बहोत्तरी के दो संस्करणों का उल्लेख क्षितिबाबू ने किया है, जिनमें से एक श्री भीमसिंह माणिक और दूसरा मोतीचंद गिरधरलालजी कापड़िया द्वारा संपादित और प्रकाशित है। इन जैन मरमी आनंदघन के पदों का कबीर के पदों से साम्य दिखाते हुए क्षितिबाबू ने यह निष्कर्ष निकाला है कि "जीवन की साधना के पथ में आनंदघन ज़िस आलोक की अनुप्राणना से चले थे वह कबीर प्रभृति सहजवादी मरमियों का ही है।" हमारे शृंगारी घनानंद का साधना-पथ कबीर का सा नहीं जान पड़ता। सूफी कवियों और फकीरों के संसर्ग में रहने से उनकी प्रेम-भावना कहीं-कहीं सूफी ढंग की अवश्य हो गई है, अन्यथा वे निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित कहे जाते हैं और कृष्णभक्ति-संप्रदाय की रागानुगा भक्ति ही उनमें पाई जाती है।

श्री के० एम० झवेरी ने अपने 'माइल स्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर' में पृष्ठ १३९ पर लाभविजय (संवत् १६८७=ई० सन् १६२०) नामक एक कवि का उल्लेख किया है जिसकी दार्शनिक रचना का नाम 'आनंदघन

चौबीसी' दिया गया है। इस चौबीसी के रचयिता ने जैन तीर्थंकरों की स्तुति की है। इससे यह प्रकट होता है कि इसके रचयिता आनंदघन भी जैन थे। 'आनंदघनचौबीसी' नाम से यह संकेत अवश्य मिलता है कि चौबीसी के रचयिता आनंदघन रहे होंगे और यदि इस ग्रंथ के रचयिता का नाम लाभविजय है, जैसा कि श्री झवेरी ने लिखा है, तो लाभविजय का ही दूसरा नाम आनंदघन होना चाहिए। जैन-साहित्य में किसी और आनंदघन का पता नहीं चलता, साथ ही लाभविजय और जैन मरमी आनंदघन का समय भी एक ही है। फिर गंभीरविजय के अनुसार—जिनके कथन का उल्लेख क्षितिबाबू ने अपने लेख में किया है—दीक्षा के समय आनंदघन का नाम लाभानंद था और वे कविता में अपना नाम आनंदघन लिखते थे। ऐसी अवस्था में लाभविजय ही लाभानंद अथवा जैन मरमी आनंदघन हो सकते हैं और इस प्रकार वे शृंगारी आनंदघन से नितांत भिन्न हैं।

क्षितिबाबू ने लिखा है, "मेरे प्रिय सुहृद श्री नित्यानंद विनोद गोस्वामीजी ने वृंदावन के एक आनंदघन का पता बताया है। उनके पद अभी तक मुझे नहीं मिले हैं। मिलने पर बहुत संभव है कि दोनों आनंदघन एक ही सिद्ध हों; क्योंकि इस आनंदघन के कई पद वैष्णव भाव के ही हैं। काव्य और संगीत में प्रवीण एक घनानंद और हैं जो मोहम्मदशाह के दरबारी थे। इनका जन्म कायस्थ-कुल में और दीक्षा निंबार्क संप्रदाय में हुई थी। अपनी प्रियतमा 'सुजान' को लक्ष्य करके इनकी बहुत सी कविताएँ निर्मित हुई हैं। एक बार सुजान के प्रति अतिशय आसक्ति के कारण बादशाह के प्रति इनका असौजन्य प्रकाशित हुआ था। इसी लिये बादशाह ने इन्हें निर्वासित कर दिया था। ये दिल्ली से वृंदावन आए थे और नागरीदास के साथ रहते थे। नादिरशाह के मथुरा-आक्रमण के समय ये निहत हुए थे।"

जैन मरमी आनंदघन और वृंदावन के आनंदघन के एक होने की संभावना तो कम है, किंतु यह संभव है कि नित्यानंद गोस्वामी के वृंदावनवाले आनंदघन हमारे प्रसिद्ध शृंगारी घनानंद (१६५८—१७३९ ई०)

न होकर सरोजकार के सं० १७० (पृ० ८२) घनआनंद कवि हों और नागरीप्रचारिणी सभा के सन् १९१७,१८,१९ के खोज-विवरण में, संख्या ८ में, आनंदघन की रचनाओं में नोट की गई 'प्रीतिपावस', (जिसका रचनाकाल वहाँ १६५८ संवत्=१६०१ ई० दिया गया है) इन्हीं वृंदावनवाले आनंदघन की रचना हो। यदि प्रीतिपावस की हस्तलिखित प्रति का संवत् खोज-विवरण में १६५८ ठीक दिया गया है तो इस बात के लिये स्थान नहीं रह जाता कि वह संवत् १७१५ में उत्पन्न शृंगारी घनानंद अथवा संवत् १६७२ में उत्पन्न जैन मरमी आनंदघन की रचना हो। अधिक संभव यही है कि वह संवत १६१५ में उत्पन्न (वृंदावनवाले) घनआनंद की रचना हो। किंतु इसके लिये अनुमान तभी ठीक हो सकता है जब सरोजकार का दिया हुआ इस कवि का जन्म-संवत् १६१५ ठीक हो।

जैन मरमी आनंदघन का अंतिम जीवन पश्चिम राजपूताना में मेड़ता नगर में व्यतीत हुआ था। उनकी वाणियों का वहाँ खूब प्रचार रहा। किंतु ऐसा जान पड़ता है कि प्रसिद्ध शृंगारी घनआनंद के कवित्तों और सवैयों का भी प्रचार राजपूताने में हो चुका था, जिससे इन दोनों कवियों की रचनाओं को गड़बड़ा देने में देर न लगी। जैन मरमी आनंद-घन के कई पद वैष्णव भक्ति के पाए जाने और शृंगारी घनआनंद के कवित्तों और सवैयों के लिये 'वाणी' शब्द का प्रयोग होने का यह प्रचार भी एक कारण हो सकता है।

नागरी-प्रचारिणी सभा के १९१२, १३, १४ के खोज-विवरण, सं० ४ में आनंदघन की 'इश्कलता' और 'सुजानहित' दो रचनाओं का विवरण है। 'सुजानहित' से दिए गए अंतिम उदाहरण के अंत में 'इति श्री आनंद-घन जी की बानी संपूरण' लिखा है। मध्ययुग में 'वाणी' शब्द संतों की रचनाओं के लिये प्रयुक्त होता था। शृंगारी आनंदघन की रचनाओं के साथ वाणी शब्द का संयोग दो बातों को प्रकट करता है।—(१) शृंगारी घनानंद संत संप्रदाय (के प्रभाव) में रहे हों। (२) संत संप्रदाय के भी कोई आनंदघन अथवा घनआनंद कवि हुए होंगे, जिनकी वाणियाँ जनता में खूब प्रचलित हो गईं। पहली बात के समर्थन के लिये

अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिलता है, किंतु दूसरी बात का समर्थन जैन मरमी आनंदघन की रचनाएँ करती हैं।

आनंद और घनानंद नाम के कवियों का व्यक्तित्व भी एक किया गया दिखाई दे रहा है। हिंदी-साहित्य के इतिहासों में आनंदघन अथवा घनानंद की रचनाओं में 'कोकसार' भी गिनी गई है। नागरी-प्रचारिणी सभा के प्रकाशित खोज-विवरणों में आनंदघन अथवा घनानंद की रचनाओं में तो नहीं, किंतु आनंद कवि की रचनाओं में अवश्य कोकसार की गिनती हुई है। इस कवि के विषय में सन् १९१७-१८ के खोज-विवरण में डा० हीरालाल ने जो नोट लिखा है उसका आशय है कि—कोकसार का रचयिता आनंद कवि सत्रहवीं शताब्दी का जान पड़ता है। वर्तमान हस्तलिखित प्रति संवत् १८२२ (सन् १७६५) की है किंतु १९०२ और १९०६-०८ की खोजों में मिली प्रतियाँ क्रमशः सन् १७३४ और सन् १७४८ ई० की हैं, जिससे प्रकट होता है कि इस पुस्तक का रचयिता सन् १७३४ ई० में विद्यमान था। कदाचित् विषय को देखते हुए कवि ने यथार्थ नाम छिपाकर कल्पित नाम 'आनंद' ग्रहण किया है। किंतु इसी नाम के भिन्न भिन्न कवियों की रचना कोकसार बताई जाने से गड़बड़ी हो जाती है।

सेंगर ने आनंद कवि की 'कोकसार' और 'सामुद्रिक' दो रचनाओं का उल्लेख किया है और आनंद कवि का (१९२६ के शिवसिंह सरोज के संस्करण में ३८३ पृष्ठ पर) जन्म-संवत् १७११ दिया है।

कोकसार के अंतिम अंश का उद्धरण सन् १९०२ के खोज-विवरण में इस प्रकार है—

"पढ़ि सकल काव्य करि करि विचार।
वरन्यो अनंद कवि कोकसार।
खंड पंचदस अति सरस रचि सु बहू बिधि छंद।
पढ़त चढ़त अति चोप चित्त।

इति पंचदस खंड कोकसार सासत्र संपूरणं। समाप्तं।

संवत् १७९१ रा सुदि २३ सन् बार पोथी लिखी, लष्यतु पं, उदेभाण रा, दसकत छै बाँचे त्याने राम राम है।"

इससे प्रकट होता कि अनंद कवि ने सब काव्यों को पढ़कर, विचार करके, कोकसार की अनेक छंदों में पंद्रह खंडों में रचना की। किंतु कवि का जन्म-संवत् इत्यादि कुछ नहीं दिया गया है। यदि सरोजकार के दिए हुए जन्म-संवत् को प्रामाणिक माना जाय तो अनंद कवि का जन्म संवत् १७११ में हुआ। और यदि कोकसार की सबसे प्राचीन प्रति के प्रतिलिपि काल को ही उसका रचनाकाल भी मान लिया जाय तो अनंद कवि का समय संवत् १७११ से संवत् १७९१ तक आ जाता है।

उधर यही समय शृंगारी घनानंद का है। वे कदाचित् संवत् १७१५ से संवत् १७९८ तक विद्यमान थे। प्रसिद्ध घनानंद की रचना 'वियोग-वेली' को, 'विरहलीला' के नाम से, स्वर्गीय डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने (ब्रिटिश म्यूजियम लंदन की हस्तलिखित प्रति के आधार पर) सन् १९०७ ई० में प्रकाशित करवाया। वियोगवेलि की एक और हस्तलिखित प्रति का उल्लेख अपने 'विनोद' में मिश्रबंधुओं ने किया है और उसे छतरपुर के दरबार के पुस्तकालय में विद्यमान बतलाया है। सन् १९१७-१८-१९ के खोज-विवरण में भी 'वियोगवेलि' का विवरण (सं० ८ ब में) आया है। वहाँ इस ग्रंथ का रचनाकाल सन् १७३८ दिया गया है। उक्त त्रैवार्षिक विवरण में वियोगवेलि से जो आरंभिक उद्धरण दिया गया है, उसका प्राथमिक अंश इस प्रकार है—

"अथ वियोग वेली लिष्यते। आनंद कवि कृत वियोगवेली।"

इस रचना को देखने से जान पड़ता है कि यह प्रसिद्ध शृंगारी घनानंद की ही कृति है जो कि फारसी छंद और ब्रजभाषा में लिखी गई है। एक बात इस पुस्तक में ध्यान देने योग्य है 'आनंद कवि कृत वियोग वेली'। विषय, वर्णन-शैली, भावनाओं और शब्दावलियों को देखकर यह घनानंद की ही रचना जान पड़ती है। इससे यह बात निकली कि घनानंद का कविता में (आनंदा, घनजू, घन आनंद के अतिरिक्त) आनंद नाम भी प्रचलित था।

ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक था कि कोकसार के रचयिता अनंद तथा वियोगवेलि के रचयिता आनंद कवि का व्यक्तित्व एक ही कवि में

सहज ही मिल जाय। कदाचित् इसी सरलता के कारण कोकसार की गिनती प्रसिद्ध घनानंद की रचनाओं में हुई है, अन्यथा उसकी शैली घनानंद की रचनाओं से मेल नहीं खाती। कवित्त-सवैयों में 'कोक पढ़ावत' का उल्लेख सुजान के संबंध में देखकर यह संदेह अवश्य होने लगता है कि हो न हो अनंद कवि के कोकसार से ही कवि का अभिप्राय है। और यदि ऐसी बात है तो यह असंभव नहीं कि कोकसार के अनंद हमारे आनंद, आनंदघन अथवा घनानंद कवि हों, अन्यथा कोकसार का रचयिता अनंद कवि हमारे घनानंद से भिन्न सा ही जान पड़ता है, जो कि समसामयिक होने से कदाचित् घनानंद के साथ मिला दिया गया है।

हमारा संबंध शृंगारी घनानंद से है। उनकी जीवनी के लिये प्रामाणिक सामग्री अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी, इसलिये जनश्रुतियों तथा अनुमानों से ही काम लिया जाता है। डा० ग्रियर्सन ने महादेवप्रसाद के साहित्य-भूषण का प्रमाण देते हुए लिखा है—घनानंद जाति के कायस्थ और मुहम्मदशाह (१७१९-१७४८ ई०) के मुंशी थे। अंतिम दिन इन्होंने वृंदावन में बिताए और वहाँ नादिरशाही में मारे गए। सन् १९०६–७–८ के खोज-विवरण में (सं० १२५ में) बाबू श्यामसुंदरदास ने घनानंद का समय सन् १६५८ से सन् १७३९ तक बतलाया है और लिखा है कि घनानंद अच्छे कवि होने के अतिरिक्त गवैए भी अच्छे थे। इनका उल्लेख रीवाँ के राजा रघुराजसिंह ने अपने भक्तमाल में किया है। सन् १९१२–१३–१४ के खोज-विवरण में (सं० ४ में) पंडित श्यामविहारी मिश्र और शुकदेवविहारी मिश्र ने लिखा है—प्रस्तुत आनंदघन विनोद के सं० ६४१ वाले घनानंद ही हैं। ये दिल्ली के कायस्थ थे। पहले ये सुजान के प्रेम में पड़े, किंतु अंत में निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित हुए। 'रत्नाकर' जी के अनुसार घनानंद बुलंदशहर के निकट के रहनेवाले थे। लाला भगवानदीन ने इनके विषय में कहा है—आनंदघन का जन्म संवत् १७१५ के लगभग प्रतीत होता है। परलोकयात्रा संवत् १७९६ में जान पड़ती है। दिल्ली निवासी भटनागर कायस्थ थे। वंशपरंपरा में नौकरी पेशा चला आने के कारण समयानुसार इन्होंने फारसी भाषा की शिक्षा

पाई और उस भाषा का अच्छा पांडित्य प्राप्त किया था। बचपन में इन्हें रासलीला देखने का बड़ा शौक था, जिससे पीछे भी इनका मन बादशाह के दरबार में न लगा और वे विरक्त होकर वृंदावन चले गए जहाँ राधाकृष्ण की भक्ति में इन्होंने अपना जीवन बिताया और अंत में नादिर-शाही में मारे गए। क्षितिबाबू के अनुसार ये वृंदावन में नागरीदास के साथ रहते थे। वियोगी हरि और आचार्य शुक्ल घनानंद की जन्मतिथि संवत् १७४६ के आसपास मानते हैं।

जनश्रुति है कि घनानंद का सुजान नाम की वेश्या से प्रेम हो गया था। दरबारियों ने एक दिन बादशाह से चुगली खाई कि घनानंद गाते बहुत अच्छा हैं। बादशाह ने घनानंद से गाने को कहा, किंतु वे चुप रहे। इस पर किसी ने कहा कि यदि सुजान बुलाई जाय तो ये अवश्य गाने लगेंगे। सुजान के इनके सामने आते ही इनकी सरस्वती खुल गई और ये गाने लगे। बादशाह को इससे बड़ा क्रोध आया और इन्हें दरबार से निकाल दिया। घनानंद को आशा थी कि सुजान भी उनका साथ देगी, पर वह ऐसा न कर सकी। इससे घनानंद विरक्त होकर वृंदावन चले, गए और वहाँ राधा और कृष्ण के भजन में लग गए, किंतु अपनी प्रियतमा की स्मृति बनाए रखने के लिये उन्होंने राधा और कृष्ण के साथ भी सुजान का नाम जोड़ दिया। नादिरशाह के मथुरा-आक्रमण में धन की खोज में सिपाहियों ने इन्हें मार डाला और ये सदेह वैकुंठ गए। सदेह वैकुंठ जाने की बात से इतना तो स्पष्ट है कि घनानंद उच्च कोटि के भक्त भी थे। किंतु यह सारी जनश्रुति ही है। हो सकता है, घनानंद के रसिक काव्य में सुजान की छाप के कारण ही पीछे से लोगों ने इस कथा की उद्भावना की हो और घनानंद की सुजान राधा ही हो, न कि कोई वेश्या। ऐसी दशा में बादशाह के द्वारा निर्वासित किए जाने की बात की अपेक्षा घनानंद के बचपन की रासलीला के संस्कारों के कारण स्वयं विरक्त होकर वृंदावन चले जाने की बात ही अधिक मान्य हो सकती है। और सुजान के नृत्य, रूप, संगीत आदि का जो वर्णन घनानंद के काव्य में मिलता है, वह रासलीला की राधा का भी हो सकता है जो कि प्रेमी

कवि की भावनाओं के परिष्कृत होने के पूर्व रसिक रूप में हुआ है। किंतु जनश्रुति यदि अपने प्रचलित रूप में भी सत्य हो तो भी घनानंद के जीवन में कोई ऐसी बात नहीं पाई जाती जो उनके प्रेम की हीनता को प्रकट करे। घनानंद ने यदि सुजान से प्रेम किया तो सच्चे हृदय से। वे सुजान के गुणों पर बिके, शरीर मात्र पर नहीं। सुजान के प्रेम में उन्होंने बावले लोगों की चिंता न की। जब तक वे सुजान के समीप रहे तब तक प्रेम की अग्नि में जलते हुए भी सुखी थे। दुःख का वज्रपात तो उन पर तब हुआ जब उन्हें सुजान से दूर हो जाना पड़ा और वह सुजान उनके साथ न आ सकी जिसके प्रेम के कारण वे दरबार से निकाले जा रहे थे और जिस पर घनानंद जी-जान से न्योछावर थे। किंतु फिर भी सच्चे प्रेमी घनानंद ने सुजान से दूर हो जाने पर उसको भुला नहीं दिया, वरन् अपने आराध्य राधा और कृष्ण पर भी सुजान का रंग चढ़ा दिया। सुजान की एक एक सुध घनानंद को बेसुध करती रही। सुजान ने भी कभी घनानंद को याद किया या नहीं, यह जानने के लिये कोई साधन नहीं हैं; किंतु घनानंद की कविता आँसू गिरा गिराकर बतला रही है कि सुजान की बेसुध कर देनेवाली सुध में घनानंद ने जो आँसू बहाए, उनकी एक एक बूँद में जो ठंडी साँसें भरीं, उनके एक एक उच्छ्‌वास में एक मूक प्रेमी के संयत हृदय का करुण आत्मनिवेदन है।

घनानंद की स्फुट रचनाओं के अनेक संग्रहों का पता मिलता है। मिश्रबंधुओं ने इनकी रचनाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है—"इनका कविताकाल संवत् १७७१ से १७९६ तक समझना चाहिए। इन्होंने सुजान-सागर, कोकसार, घनानंद कवित्त, रसकेलिवल्ली, वियोगवेली और कृपाकांड निबंध नामक ग्रंथ बनाए जो (सन् १९०० तथा १९०३ की) खोज में मिले हैं। सरदार कवि ने अपने संग्रह में इनके प्रायः डेढ़ सौ छंद लिखे हैं। और इनके चार सौ पचीस छंदों का एक स्फुट संग्रह हमने देखा है। इनके अतिरिक्त हमको ५४२ बड़े पृष्ठों का एक भारी ग्रंथ संवत् १८८५ का लिखा हुआ दरबार छतरपुर के पुस्तकालय में देखने को मिला, जिसमें १८८१ विविध छंदों तथा १०४४ पदों द्वारा निम्नलिखित विषय वर्णित हैं—प्रिया-

प्रसाद, व्रजत्योहार, वियोगवेली, कृपाकांड निबंध, गिरिगाथा, भावना-प्रकाश, गोकुलविनोद, व्रजप्रसाद, धामचमत्कार, कृष्णकौमुदी, नाममाधुरी, वृंदावन मुद्रा, प्रेमपत्रिका, व्रजवर्णन, रसवसंत, अनुभवचंद्रिका, रंग बधाई, परमहंसवंशावली और पद। इनमें पदों की रचना साधारण है और उनमें भक्ति तथा व्रजलीलाओं का वर्णन किया गया है। दूसरे वर्णन विविध छंदों में किए गए हैं, जिनमें कवित्तों और सवैयों की अधिकता है।.......यह साहित्य सरस और प्रशंसनीय है।.........इस भारी ग्रंथ में हर स्थान पर भक्ति का चमत्कार देख पड़ता है।........तृतीय त्रैवार्षिक खोज में इनके सुजानहित तथा इश्कलता नामक दो ग्रंथों का पता चलता है तथा चतुर्थ त्रैवार्षिक रिपोर्ट में इनका 'प्रीतिपावस' नामक ग्रंथ मिला है।"

मिश्रबंधुओं ने जिन रचनाओं का उल्लेख किया है उनमें कोकसार और प्रीतिपावस पर विचार किया जा चुका है। सन् १९००-०१-०३ की खोजों में मिली जिन रचनाओं—घनानंद कवित्त, रसकेलिवल्ली और कृपाकांड निबंध—का उल्लेख मिश्रबंधुओं ने ऊपर के अवतरण में किया है उनके विषय में खोज-विवरण में दी गई बातों का उल्लेख कर ही देना आवश्यक है। सन् १९०० के खोज-विवरण में बाबू श्यामसुंदरदास ने घनानंद कवित्त के विषय में (सं० ७९ में) लिखते हुए लिखा है—कहा जाता है कि घनानंद के एक हजार पाँच सौ कवित्तों का एक संग्रह (रसकेलिवल्ली के नाम से) था जिसके केवल पाँच सौ सोलह कवित्त मात्र प्रस्तुत संग्रह में आए हैं। बाबू साहब के इस कथन में 'कहा जाता है' से स्पष्ट है कि रसकेलिवल्ली प्राप्त नहीं हुई। सन् १९०३ ई० की खोज में 'कृपाकांड निबंध' का तो नहीं किंतु 'कृपाकंद निबंध' का उल्लेख है।

वियोगी हरि ने 'व्रजमाधुरी सार' (संवत् १९९६ संस्करण, पृष्ठ २५९) में घनानंद की रचनाओं में 'बानी' का उल्लेख किया है और लिखा है "बानी में राधाकृष्ण के विहार और अष्टयाम संबंधी पदों का संग्रह है। बानी के पद्य इनकी अन्य रचनाओं से कुछ शिथिल हैं।"

इनके अतिरिक्त घनानंद के स्फुट कवित्तों और सवैयों के संग्रह जमनादासजी कीर्तनिया और मायाशंकरजी याज्ञिक के पुस्तकालयों में पाए

जाते हैं। सेंगर ने भी अपने पुस्तकालय में इनके कवित्तों और सवैयों के संग्रह का उल्लेख 'सरोज' में किया है।

कदाचित् घनानंद ने संगठित रूप से कोई ग्रंथ नहीं रचा, प्रत्युत भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न विषयों पर वे स्फुट कविता करते रहे जो अपनी लोकप्रियता के कारण भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न भिन्न समय में संगृहीत हुई। इन संग्रहकर्त्ताओं ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार संग्रहों के नाम रख लिए अथवा खोज करनेवालों ने भी कहीं कहीं विषय को देखकर रचनाओं को नाम दे दिए। प्रबंध अथवा खंडकाव्य लिखने का प्रयत्न शायद घनानंद ने कभी नहीं किया।

घनानंद की अधिकतर रचनाएँ अभी अप्रकाशित ही पड़ी हैं। विरह-लीला के नाम से वियोगवेलि जो स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवाल ने सन् १९०७ ई० में नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित करवाई थी उससे पूर्व घनानंद की कविता को प्रकाशित करने का सबसे पहला प्रयत्न भारतेंदु हरिश्चंद्र का था जिन्होंने 'सुंदरी तिलक' में इनके बहुत से सवैये संगृहीत करवाए। फिर सन् १८७० ई० में 'सुजानसागर' से ११८ कवित्तों और दोहों को 'सुजानसतक' नाम से प्रकाशित किया। 'सुजानसागर' का प्रथम संस्करण, जो कि स्वर्गीय रत्नाकरजी द्वारा संपादित हुआ था, सन् १८९७ ई० में, काशी के हरिप्रकाश यंत्र से प्रकाशित हुआ। उसका दूसरा संस्करण, जिसमें कुछ पद भी सम्मिलित हैं, बाबू अमीरसिंह द्वारा संपादित होकर सन् १९२९ में नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ। इनके अतिरिक्त कोई रचना घनानंद की अभी तक प्रकाशित नहीं हुई। इससे घनानंद के काव्य का पूरा पूरा विवेचन करना अत्यंत कठिन है।

प्रेमपरिशीलन तथा काव्य-विवेचन

खड़ी बोली के इस उत्कर्षकाल में जब जीवन की धारा एकबारगी ही बदल गई है, पश्चिमी ज्ञान और विज्ञान के धक्कों से, इतिहास के आलोक में जब शताब्दियों से राधा-कृष्ण के ऐकांतिक मंदिर के आँगन में बैठे हुए पुजारियों के आगे नवीन नवीन देवता पूजा पाने के लिये आकर खड़े

हो गए हैं, प्राचीन कवियों के प्रति न्याय करना असंभव सा हो गया है। इसी देश के निवासी होने पर भी सूरदास और प्रसाद, घनानंद और सुमित्रानंदन पंत में प्रायः उतना ही अंतर है जितना पृथ्वी के दो कोनों में पैदा हुए आदमियों में होता है। राधा और कृष्ण की आड़ में अपनी तथा अपने आश्रयदाताओं की वासनाओं को कविता का रूप देनेवाले कवियों का तो अब कहीं भी आदर नहीं। इने-गिने रसिक साहित्यिकों को छोड़कर रीति-काल के इन कवियों पर प्रायः कम लोग ही मोह करते हैं। फिर भाषा की भी एक अड़चन सामने है। खड़ी बोली के अधिकाधिक प्रचार के साथ साथ ही ब्रजभाषा अधिकाधिक दुरूह होती चली जा रही है। इतना सब होने पर भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जब तक संसार में कोई कविता-प्रेमी रहेगा, जिसका हृदय दूसरे के दुःख को देखकर पिघलता है, तब तक घनानंद की कविता का आदर रहेगा। वह भुलाई नहीं जा सकती; क्योंकि उसमें वह अमृत-तत्त्व है जिसे पाने के लिये पाठक ब्रजभाषा की दुरूहता के पर्वत लाँघेंगे, उसमें वह सौंदर्य है जिसे हृदयंगम करने के लिये पाठक कई बार इन कवित्तों और सवैयों को पढ़ेंगे।

घनानंद तुलसी की भाँति जनता के कवि नहीं, टिमटिमाते दीपकों की कुटियों से लेकर जगमगाते राजमहलों तक उनकी पहुँच नहीं। उनकी कविता चौपालों में बैठे हुए किसानों, 'पराधीन सपनेहुँ सुख नहीं' कहकर राजनीति का लेकचर समाप्त करनेवाले लीडरों तथा गंगा-किनारे बैठे गेरुआ वस्त्र पहने हुए शांत साधुओं के मुखों से नहीं सुनाई देती और न तो उर्दू की गजलों की तरह अयोग्य पात्रों के मुखों से ही सुनाई देती है। घनानंद भवभूति की तरह उन्हीं समानधर्माओं के लिये काव्य-रचना करते थे जिनके लिये प्रेम एक ऊँचा आदर्श है और जिन्होंने हृदय की आँखों से प्रेम की पीर को तका है।* सुसंस्कृत रुचि के

---

* प्रेम सदा अति ऊँचो लहै सु कहै इहि भाँति की बात छकी।
सुनि कैं सबके मन लालच दौरै पै बौरे लखैं सब बुद्धि चकी॥
जग की कविताई के धोखे रहैं ह्याँ प्रबीननि की मति जाति जकी।
समुझै कविता घनआनँद की हिय आँखिन नेह की पीर तकी॥

ऐसे पुरुषों के लिये घनानंद के सवैये और कवित्त अमृत की बूँदों के समान हैं।

बात यह है कि घनानंद ने सच्चे हृदय से प्रेम किया था। बिहारी, मतिराम, देव आदि से वे इसी बात में भिन्न और सूर तथा तुलसी से इसी बात में मिलते-जुलते थे। बिहारी ने प्रेम को शायद पोथियों से जाना था। 'प्रेम की पीर', जिसे जायसी खूब पहचानते थे, जिसने सूर के हृदय को मथित कर उसके रत्नों को 'सूरसागर' के रूप में सँवारा था, जिसने मीरा को जीवन भर रुलाया था, वह बिहारी के लिये अनजान थी। यही हाल मतिराम और देव का भी है। इनके लिये नायिका का शरीर ही सब कुछ है, और इनका प्रेम भी उसके शरीर ही तक सीमित है। इनकी विरह-व्यथा की अवधि भी शायद एक-दो रातों से अधिक नहीं है, सखियों के और गुरुजनों के सामने नायक नायिका को 'प्रेम' करने लगते हैं। नायिका रिसा जाती है। वे मुसकाकर उठ जाते हैं। नायिका के दुःख का पारावार नहीं। वह सिसक सिसककर रात काटती है, रो रोकर सबेरा करती है। बड़ी बड़ी आँखों से आँसू ढलते हैं, और गोरा गोरा मुख धीरे धीरे ओले की तरह 'बिलाता' जाता है—

सखी के सकोच, गुरु सोच मृगलोचनि
रिसानी पिय सों जो उन नेकु हँसि छुयो गात।
'देव' वै सुभाय मुसकाय उठि गए, यहाँ
सिसकि सिसकि निसि खोई, रोय पायो प्रात॥
को जानै री, बीर बिनु बिरही बिरह-व्यथा,
हाय हाय करि पछिताय न कछू सुहात।
बड़े बड़े नैनन सों आँसू भरि भरि ढरि
गोरो गोरो मुख आज ओरो सो बिलानो जात॥

—देव।

कहीं विरह-व्यथा से नायिका इतनी पतली हो गई है कि दिखाई नहीं देती, केवल एक आँच सी बिस्तर पर दिखाई देती है, जिससे अनुमान हो सकता है कि शायद नायिका यहीं है—

देखि परे नहिं दूबरी, सुनिए श्याम सुजान।
जानि परे परजंक में, अंग आँच अनुमान॥

—मतिराम।

पूस की रात में अपने कपड़े भिगोकर सखियाँ नेह-वश विरहिनी सखी के पास जा रही हैं जो प्रलय-काल के सूर्य की तरह ज्वाला उगल रही है—

आड़े दै आले बसन जाड़ेहू की रात।
साहस कै कै नेह-बस सखी सबै ढिग जात॥

—बिहारी।

इस पर शायद किसी को कुछ कहने का अधिकार भी नहीं है; क्योंकि कवि कहते हैं—

को जानै री, बीर बिनु बिरही बिरह-व्यथा।

ये कवि विरह-व्यथा के वर्णन में चमत्कार दिखाने के फेर में बेतरह पड़े थे, और चमत्कार दिखाने की इन्हें इसलिये सूझी कि इन्हें कभी भी सच्चा विरह नहीं हुआ था, और सच्चा विरह इन्हें इसलिये नहीं हुआ था कि इन्होंने कभी भी सच्चा प्रेम नहीं किया था। घनानंद इन कवियों से प्रधानतया इसी बात में भिन्न हैं। प्रेम की कसौटी विरह है, और घनानंद का विरह-वर्णन उनके सच्चे प्रेम का साक्षी है।

भवभूति ने 'अद्वैतं सुखदुःखयोः' कहकर प्रेम की वंदना की है। तुलसीदास ने अपना आदर्श चातक को माना है और सूर ने हिरन को, जो सम्मुख बाण के लगने पर भी अंगों को पीछे नहीं मोड़ता। घनानंद का भी इन्हीं की भाँति प्रेम का आदर्श ऊँचा है। उनके लिये प्रेम अपार महोदधि है जिसमें स्वयं राधा और कृष्ण एकरस होकर सदा निमग्न रहा करते हैं और जिसकी तरल तरंगों की भूली-भटकी एक ही बूँद सृष्टि को आनंद-मग्न कर देने में समर्थ है—

प्रेम को महोदधि अपार हेरिकै बिचार
बापुरो हहरि वार ही तैं फिरि आयो है।
ताही एक रस है बिबस अवगाहैं दोऊ
नेही हरि राधा जिन्हें देखे सरसायो है॥

ताकी कोई तरल तरंग संग छूट्यो कन
पूरि लोक लोकनि उमँगि उपनायो है।
सोई घनआनंद सुजान लागि हेत होत
ऐसे मथि मन पै सरूप ठहरायो है॥

तुलसी की भाँति घनानंद भी कहते हैं—

एकै आस, एकै विश्वास प्रान गहैं बास
और पहिचानि इन्हें रही काहू सों न है।
मोहि तुम एक, तुम्हैं मो सम अनेक आहिं
कहा कछु चंदहि चकोरन की कमी है॥

घनानंद का 'चाह के रंग में भींजा' हृदय बिछुड़े प्रीतम के मिलने पर भी शांति नहीं मानता; क्योंकि उनका प्रेम देह का नहीं है, वह देह के मिलने से कहीं आगे भी देखता है। घनानंद प्रेम-मार्ग को अच्छी तरह जानते हैं। प्रेम का रास्ता बिलकुल सीधा है। वहाँ कपट-चातुरी नहीं चाहिए। सच्चे प्रेमी उस मार्ग में अपनापन छोड़कर चलते हैं। जो निश्शंक नहीं हैं, जो कपटी हैं, वे वहाँ चलने से झिझकते हैं—

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।*
तहाँ साँचे चलैं तजि आपनपौ† झिझकैं कपटी जे निसाँक नहीं।
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक तै दूसरो आँक नहीं।‡
तुम कौन धौं पाटि पढ़े हो लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

लेकिन सब तो इस प्रकार अपना सर्वस्व समर्पण नहीं करते। घनानंद ने अपना सर्वस्व जिसे दिया उसे तो 'निठुराई से निपट नेह'§ है, वह पहले

* पिय को मारग सुगम है, तेरा चलन अबेड़ा।
नाच न जानै बावरी कहै अंगना टेढ़ा॥—कबीर

† तूँ तूँ करता तूँ भया मुझमें रही न मैं।—कबीर

‡ प्रेम-गली अति साँकरी तामें दो न समाहिं।—कबीर

§ जासों प्रीति ताहि निठुराई सों निपट नेह।

स्नेह के साथ अपनाता है और फिर सहसा ही स्नेह को तोड़ देता है। निराधार को पहले तो सहारा देता है और फिर बीच धार में बाँह छोड़कर डुबो देता है। रस पिलाकर, जिलाकर, आशा को बढ़ाकर न जाने क्यों विश्वास में विष घोल देता है।* पहले मीठे मीठे बोल बोलकर ठगता है और फिर जी को जलाने लगता है।† रस-रंग से अंग अंग को सींचकर उन्हीं में विषम विषाद की बेलि बोकर चला जाता है।‡ उसकी रीति बधिक से भी अधिक क्रूर है। वह कपट का चुगा देकर फिर मार नहीं देता, बल्कि एक बार ही छोड़ देता है। 'गुननि' से पकड़कर, पंखों को खसोटकर जीव को ऐसी दशा में छोड़ देता है कि वह न तो मर ही सकता है और न जी ही सकता है। हाय उसकी दया भी छुरी से अधिक विषम है।§ इतना सब होने पर भी प्रेमी उस निष्ठुर से नेह करना नहीं छोड़ता, उसकी दृष्टि कहीं लगती ही नहीं।|| रो रोकर वह दृष्टि को बहा दे—पर नहीं, यदि कभी वे आ गए तो वह उन्हें कैसे देखेगा? रसना को विष में डुबाकर वह वाणी को ही मिटा देता; पर नहीं, वह तो उनके नाम की सुधा

* पहिले अपनाय सुजान सनेह सों क्यों फिर नेह को तोरिए जू।
निरधार अधार दै धार मँझार दई गहि बाँह न बोरिए जू॥
घनआनँद आपने चातक कों गुन बाँधि लै मोह न छोरिए जू।
रस प्याय कैं ज्याय बढ़ाय कै आस बिसास मैं यों विष घोरिए जू॥

† मीठे मीठे बोल बोलि ठगी पहिलैं तौ तब,
अब जिय जारत धौं कौन न्याय है।

‡ सींचे रस रंग अंग अंगनि अनंग सौंपि
अंतर मैं विषम विषाद बेलि बै चलै।

§ अधिक बधिक तें सुजान रीति रावरी है
कपट चुगौ दै फिरि निपट करौ बरी।
गुननि पकरि लै निपाख करि छोरि देहु,
मरहि न जीयै महा विषम दया छुरी।

|| दीठि को और कहूँ नहिं ठौर फिरी द्दग रावरे रूप की दोहीं।

को पी रही है। वह अपने जीवन को समाप्त कर दे, पर यदि कभी वे मिल गए तो? यही आशा है जो उसको जीवित रखती है—

दृग नीर सों दीठिहिं देहुँ बहाय पै वा मुख कौं अभिलाषि रही।
रसना बिस बोरि गिराहि गसौं वह नाम सुधानिधि भाषि रही॥
घनआनँद जान सुबैननि त्यों रचि कान बचे रुचि साखि रही।
निज जीवन पाय पलै कबहूँ, पिय कारन यों जिय राखि रही॥

जीवन से निराश होने पर भी हृदय के एक कोने में मिलने की आशा बनी है। उसी की टेक से प्राणों के बटोही अभी बैठे हैं। वे उड़ना चाहते हैं, पर प्रेमी, पिय का नाम ले लेकर, उन्हें बहला रहा है—

जीव ते भई उदास तऊ है मिलन आस
जीवहु जिवाऊँ नाम तेरो जपि जपि रे।

अपनी इस विपत्ति को वह अपने भाग्य की करतूत मानता है; वह किसे दोष दे?—

रैन-दिन चैन को न लेस कहूँ पैयै, भाग
आपने ही ऐसे, दोष काहि धौं लगाइए।

वे जो निपट निठुर हो गए हैं, उन्होंने जो उसकी सुधि भुला दी, यह सब उसी के भाग्य की कृपा थी। वह अब भाग्य के प्रहार के नीचे झुक जाता है। प्रेमी से कहता है—मैं तो तुम्हारी ही बातों से जी रहा हूँ, तुम्हें जो व्यवहार करना हो करते रहो। ईश्वर करे, तुम चतुर कहाकर हमेशा फूलते फलते रहो।

इन बाँट परी सुधि रावरे भूलनि, कैसे उराहनो दीजियै जू।
अब तो सब सीस चढ़ाय लई जु कछू मन भाई सु कीजियै जू॥
घनआनँद जीवन प्रान सुजान तिहारियै बातनि जीजियै जू।
नित नीके रहौ तुम चाडु कहाय असीस हमारियौ लीजियै जू॥

उसे अपनी चिंता नहीं है। यदि प्रेमी को उसे जलाना ही रुचा है तो वह प्रिय की सौगंध खाकर कहता है कि वह जीवन भर जलता ही रहेगा, लेकिन यदि उसकी दशा देखकर किसी ने उसके प्रेमी के लिये बुरा-भला कहा तो वह क्या करेगा? उसे तो वह बे-मौत का मरना हो जायगा—

मन भायो वियोग मैं जारिबो ज्यो तौ तिहारी सौं नीकें जरैं औ मरैं ।
पै तुम्हैं मत कोऊ कहौ हितहीन सु या दुख बीच अमीच मरैं ॥

प्रतिकूल हवा के इतने झोंकों को लगातार सहता हुआ भी जो प्रेम का पौधा इस प्रकार निश्चल रह सकता है, उसकी जड़ें कितनी गहरी होंगी ?

प्रेम की यह गहन अनुभूति थी, जिसने घनानंद की कविता को स्वाभाविकता की हरियाली देकर रीतिकाल की अस्वाभाविकता की मरुभूमि में आनंदप्रद बना दिया है। प्रेम की बारीकियों को जितना घनानंद ने देखा है, उतना प्रायः और किसी ने नहीं। अन्य शृंगारी कवियों में शृंगार के वर्णन में आचार्यत्व का जितना ध्यान रहा है, उतना साहित्य का नहीं। मतिराम, ठाकुर, पद्माकर इत्यादि ने पहले साहित्य-शास्त्र के लक्षण लिखे, बाद को उदाहरण के लिये कविता लिखी। फल-स्वरूप न तो वे साहित्य-शास्त्र के ही क्षेत्र में आगे बढ़ सके और न कविता के ही; किंतु बिहारी और घनानंद लक्षण-ग्रंथ लिखने के फेर में न पड़कर स्वतंत्र रूप से कविता करते रहे। कल्पना और अनुभूति को स्वच्छंद मार्ग देने के कारण ही इनकी कविता अधिक सुंदर और सरस हो सकी है।

घनानंद की कविता अपनी भाषा की सजीवता और सरलता के कारण सीधे हृदय पर चोट करती है। उसके समझने के लिये रुकना नहीं पड़ता। शब्दों की तोड़-मरोड़ घनानंद में कहीं भी न मिलेगी। भाषा की शुद्धता और सजीवता घनानंद की सबसे बड़ी विशेषता है। यों तो बिहारी भी मँजे कवि हैं, किंतु जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, वह मसृणता और वह सजीवता बिहारी में भी नहीं है जो घनानंद में है। बिहारी ने शब्दों की काट-छाँट की है; किंतु उनके अधिकांश शब्द रूढ़िगत ही हैं। किंतु घनानंद ने रूढ़िगत साहित्यिक भाषा को न लेकर सामयिक प्रचलित व्रजबोली का प्रयोग स्वाभाविक रीति से किया है। निपट नेह, महानिरदयी, टूक कियो, बाँचि न देख्यो, पाटी पढ़े, मग माँ पति खुलि मिले, उघरी बरसे, निकाई पै बिकै, आदि प्रयोग कितने स्वाभाविक तथा सुंदर हैं। इसी भाँति 'कान फोरि लै', 'गहि बाँह', 'तारन ताकिबो', 'इक तार न टारति' आदि मुहावरों के उपयुक्त प्रयोग से घनानंद की कविता अपनी सजीवता बनाए हुए है।

वाचोयुक्ति पर घनानंद का बड़ा स्वातंत्र्य था। यदि कृष्ण का आलस्य कहना अभीष्ट है तो व्यंजकता बढ़ाने के लिये कृष्ण की आदत का आलस्य करना कहेंगे—

अरसानि गही वह बानि कछू सरसानि सों आनि निहोरत है।

यदि कहना है दुख का वर्णन करने की सामर्थ्य जिह्वा में नहीं है तो कहेंगे ऐसी जिह्वा का कहीं मुख ही नहीं मिलता—

दुख के बखान करिबो को रसना कैं होति
ऐये कहूँ वाकौ मुख देखन न पाइये॥

शब्दों द्वारा चित्र खींचने में घनानंद बिहारी से किसी भाँति पिछड़े नहीं हैं। प्रेमी की विरह की अग्नि, प्रेयसी के देखते ही बुझ जाती है, इस पर चकित होकर प्रेमी पूछता है—

गोरी तेरे सरस दृग किधौं श्याम घन आप।
दावानल सों पान ये करत विरह संताप॥

प्रेमी के इस कथन ने उस सुंदरी की आँखों का पूरा पूरा वर्णन भी कर दिया। वे आँखें सरस हैं, श्याम घन की भाँति काली हैं, और दावानल पान करने से उनमें लाली भी छाई हुई है।

घनानंद की कविता में भाव की तल्लीनता के कारण उसके सौंदर्य को बढ़ानेवाले अलंकार स्वतः चले आए हैं। एक उदाहरण लीजिए—

झलकै अति सुंदर आनन गौर छके दृग राजत काननि छ्वै।
हँसि बोलनि में छबि फूलन की वर्षा उर ऊपर जातिहै ह्वै॥

प्रेमी सौंदर्य देखने में इतना तल्लीन है कि उसे और किसी वस्तु की नहीं सूझती। वह सुंदर आनन को देखता है। कानों को छूनेवाली आँखों को देखता है। जब प्रेमी हँसकर बोलता है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है जैसे हृदय पर शोभा के फूल बरसते हों। केवल यहाँ कवि को फूलों की याद आती है। पर वे फूल शोभा के हैं, जिनसे हँसी भरे बोलों को रूप सा मिल जाता है। प्रियतम बोल रहे हैं, जैसे एक फूल उनके मुख से झर रहा हो। लेकिन वे हँस हँसकर बोल रहे हैं, जैसे वे फूल खिले हुए हों। परंतु वे तो शोभा के फूल हैं और उनके मुँह से झरकर पृथ्वी पर नहीं बल्कि

प्रेमी के हृदय में बिछ रहे हैं। उनके हँसी भरे बोलों को सुनकर प्रेमी के हृदय को जो प्रसन्नता होती है उसी का वर्णन हँसी भरे बोलों को छबि के फूलों से उपमा देने से किस सुंदरता से हो गया है।

घनानंद पाठक को अपने हृदय के सुरम्य स्थलों को दिखाते हुए, भावधारा के साथ छंद के अंत तक ले चलते हैं जहाँ पहुँचकर बादल के पीछे से निकलनेवाली चाँदनी की भाँति अर्थ के प्राणशब्द के दर्शन कर पाठक आनंद की ज्योत्स्ना में डूब जाता है। और कहीं कहीं तो इस प्रकार की दुहरी धाराओं के मुख एकत्र ही पाकर पाठक चकित होकर घनानंद की भूरि भूरि प्रशंसा करने लगता है। छंद के अंत में जिज्ञासावृत्ति के परि-तोष से जो सुख पाठक को मिलता है, वह अपनी स्मृति आनंद की अनुभूति के रूप में बहुत गहरे उसके मन में पैठ जाती है और फिर रह रहकर वह स्मृति सजग हो जाती है। नीचे लिखे कवित्त-सवैयों से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

नेह निधान सुजान समीप तौ सींचत ही हियरा सियराई।
सोई किधौं अब और भई दई हेरत ही मति जाति हिराई॥
है विपरीति महा घन आनँद अंबर तें धर कों झर आई।
जारति अंग अनंग की आँचनि जोन्ह नहीं सु नई अँग लाई॥

आस ही अकास मधि अवधि गुनै बढ़ाय
चोपनि चढ़ाय दीनौ कीनो खेल सो यहै।
निपट कठोर एहो ऐंचत न आप ओर
लाड़ले सुजान सों दुहेली दसा को कहै॥
अचिरजमई मोहि भई घनआनँद यों
हाथ साथ लाग्यो पै समीप न कहूँ लहै।
विरह समीर की झकोरनि अधीर नेह-
नीर भीज्यो जीव तऊ गुड़ी लों उड़्यो रहै॥

जोन्ह, जीव और गुड़ी को उपर्युक्त सवैये और कवित्त से हटा दीजिए तो अर्थ कुहासे में छिप जाता है। अस्पष्टता के कुहासे से सौंदर्य की चाँदनी उस समय सहसा निकलती है, जब पाठक छंद को समाप्त करने

से पहले अंतिम पंक्ति तक पहुँचकर प्राणशब्द को पाने के लिये विकल हो उठता है। जोन्ह, जीव और गुड़ी ही यहाँ प्राणशब्द हैं, जिन पर सौंदर्य टिका है।

घनानंद की कविता सौंदर्य और आनंद की अनुभूति से शराबोर है। उसके आँसुओं और हँसियों में सम्मोहन की प्रचुर सामग्री है। यहाँ केवल दो-एक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे।

जगत् के प्राण, छोटे बड़े को समान रूप से देखनेवाले पवन से विरही प्रार्थना करता है—

एरे बीर पौन तेरो सबै ओर गौन वारी
तो सो और कौन मनै ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान, ओछे बड़े सों समान,
घनआनँद निधान सुखदान दुखियानि दै॥
जान उजियारे, गुन भारे, अति मोही प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह-बिथा की मूरि आँखिन मैं राखौं पूरि
धूरि तिन पायन की हा हा नैकु आनि दै॥

वह पवन से यह नहीं कहता कि तू उनकी अलकों की सुगंध उड़ाकर ला और मेरे हृदय को सुरभित कर दे। वह यह नहीं कहता कि, हे पवन, तू उनको छूकर मेरे अंगों का स्पर्श कर मुझे आनंदित कर दे।* वह उनके पाँवों पर लिपटी धूलि को अपने सर-आँखों लगाने के लिये चाहता है। उस दीन के लिये वह तुच्छ धूल ही अमूल्य निधि है।

चराचर के हित करनेवाले 'परजन्य' को देखकर विरही की आँखें भर आती हैं। वह उससे प्रार्थना करता है—

पर-काजहि देह को धारि फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा की समान करौ सब ही विधि सज्जनता सरसौ।

---

* तामीषत् प्रचलविलोचनां नताङ्गीं—
आलिंगन् पवन मम स्पृशाङ्गमङ्गम् ॥—मालतीमाधव।

घनआनँद जीवनदायक हौ कछु मेरियौ पीर हिएँ परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवानिहिं लै बरसौ ॥

अलका के विरही यक्ष ने भी तो एक दिन इसी भाँति अपनी प्रिया के देश को जाते हुए मेघ को देखकर उससे प्रार्थना की थी—

संतप्तानां त्वमसि शरणं तत् पयोद प्रियायाः
सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य ।

और इसी स्मृति को लिए हुए पाठक सहसा कह सकता है कि शायद घनानंद ने कालिदास का ही भाव सवैये में भर दिया है; परंतु घनानंद के भाव उसी प्रकार अपने हैं, जैसे उनके आँसू अपने ही थे।

घनानंद की कविता में उद्वेग या भड़क नहीं है। वह अंधड़ या तूफान की भाँति हृदय को धक्का नहीं देती, वरन् प्रशांत समीर की भाँति हृदय को आनंदित करती है। वह आँसुओं के बीच से होकर हृदय को कल्याण की ओर ले जानेवाली (सुजानसागरोन्मुखी) सरस्वती है। इस दृष्टि से वह मीरा के काव्य की भाँति उस विरहिणी का घर है जो बैठकर आँसुओं की माला पोया करती है। घनानंद ने वाणी की सार्थकता कृष्ण-गुण-गान में ही समझी, इसी लिये वे कहते हैं—

मंजु गुंज करै राग रचे सुर भरै प्रेम
पुंज छबि धरै हरै दरप मनोज कौ।
चाव मतवारौ भाव भाँवरीन लेतु रहै
देत नैन चैन ऐन चोपनि के चोज कौ ॥
और फूल भूलि, रीझि भीजि घनआनँद यों
बंदी भयो एक वाही गुनगन ओज कौ।
बानी रसरानी वा मधुव्रत कों लह्यौ जिन
कृपा मकरंद स्याम हृदय सरोज कौ ॥

घनानंद में सूरदास और मीरा की सी तन्मयता, तुलसी की सी उदात्तता, विद्यापति का सा पदलालित्य तथा बिहारी का-सा अर्थगौरव है। इसमें संदेह नहीं कि "प्रेममार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा दावा रखनेवाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।"

चयन

यह उपेक्षा क्यों ?

'विशाल भारत' के जून १९४१ के अंक में उपर्युक्त शीर्षक से 'एक स्यामी हिंदी-विद्यार्थी' का एक विशेष महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है। वह यहाँ उद्धृत है :—

यह बात पाठकगण से छिपी न होगी कि गत पचीस-तीस वर्षों में हिंदी का जितना विकास हुआ और हो रहा है, उतना शायद ही किसी और भाषा का, इतने अल्प समय के अंतर्गत, हुआ होगा। इन थोड़े ही वर्षों में, अनेक नए और पुराने विषयों पर, भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से, हिंदी की सैकड़ों पुस्तकें निकली हैं। आजकल भी, जब अंतर्राष्ट्रीय स्थिति इतनी बिगड़ी हुई है और जब संसार की आर्थिक अवस्था इतनी डाँवाँडोल है, प्रत्येक महीने हिंदुस्तान के भिन्न भिन्न कोने से हिंदी की बीसों पुस्तकें, गद्य और पद्य दोनों में, धड़ाधड़ निकलती जाती हैं। हिंदी की इस सर्वतो-मुखी उन्नति ने सबको चकित कर दिया है। उसकी भाव-प्रकाशन-क्षमता, उसके दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ते हुए साहित्य तथा अन्य अहिंदी-भाषा-भाषी प्रांतों में उसके अति शीघ्र प्रचार को देखकर सबने दाँतों तले अँगुली दबाई है। अब अनेक लोगों के मस्तिष्क से "अरे! हिंदी भी कोई भाषा है? वह तो एक छोटी सी प्रादेशिक बोली (dialect) है। हिंदी का क्या अध्ययन हो सकेगा? उसका तो कोई साहित्य ही नहीं है!" इत्यादि हिंदी के प्रति नाना घृणित विचार उतर गए हैं। यहाँ तक कि उसकी कीमत पहचानकर अखिल भारतीय कांग्रेस ने भी, जो भारतवर्ष में जनता का सबसे बड़ा संघटित समुदाय है, उसे हिंदुस्तान की 'राष्ट्रीय भाषा' मान लिया है और उसके प्रचार करने में प्रोत्साहन दे रही है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर कम से कम इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि

हिंदी का भविष्य काफी उज्ज्वल है। हम सब हिंदी-भाषा-प्रेमियों का कर्त्तव्य होगा कि हिंदी की इस उन्नति को जितना आगे बढ़ा सकें, उतना बढ़ाने का प्रयत्न करें।

परंतु हिंदी की इस उन्नति के साथ साथ एक बात—एक महत्त्वपूर्ण बात—हमारे विचार करने के योग्य है। इस बात से यदि अबसे हम सावधान न रहेंगे, तो भविष्य में हमारी बहुत हानि होने की संभावना है। इस पुनरावृत्त 'बात' से लेखक का मतलब है—आधुनिक हिंदी में आवश्यकता से अधिक बाहर के शब्दों का लाना। यद्यपि हिंदी-पाठकों के लिये यह कोई नई बात नहीं है, तो भी यदि इसे पुनः पाठकगण के सामने उपस्थित किया जाए, तो लेखक की समझ में कोई भद्दापन पैदा न होगा। उस 'बृहत्तर-भारत' (स्याम, आधुनिक थाईलैंड) का एक 'भारतीय' होने के नाते और गत पाँच वर्षों से हिंदी के एक विद्यार्थी तथा प्रेमी होने के कारण लेखक समझता है कि हिंदी के संबंध में व्यक्तिगत विचार प्रकट करने का यदि उसे अधिकार न हो, तो अपने हिंदी भाषा-भाषी बुजुर्गों के विचार सुनने का तो उसे अवश्य अधिकार है।

ऊपर कहा गया है कि गत पचीस-तीस वर्षों में हिंदी का बहुत ही शीघ्र विकास हुआ है। जब किसी भाषा का विकास होता है, तो स्वभावतः उसमें आए नए-नए भावों तथा विचारों की अभिव्यक्ति के लिये उसे नए-नए शब्दों की आवश्यकता होती है। इस तरह की आवश्यकता जो हिंदी को भी हुई और हो रही है, पाठकों से छिपी न होगी। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये हिंदी को अन्यान्य भाषाओं से सहायता लेनी पड़ती है। यह तो विदित बात है कि संसार की सभी भाषाओं का परस्पर संबंध तथा कुछ न कुछ लेन-देन होता रहता है। यदि किसी भाषा के पास अपर्याप्त शब्द हों और यदि वह भाषा स्वयं उन अपर्याप्त शब्दों की पूर्ति न कर सके, तो यह जरूरी है कि वह अन्य किसी न किसी बाहर की भाषा से सहायता ले। जो भाषा इस परस्पर लेन-देन के नियम की अवहेलना करती है, उसका विकास कदापि नहीं हो सकता। एक भाषा का दूसरी भाषाओं से आवश्यक शब्दों को अपनाना उपर्युक्त भाषा की लाचारी अथवा गरीबी

का चिह्न नहीं है, बल्कि उसकी पटुता और संपन्नता का सूचक है—उसके जीवित होने का प्रमाण है।

हम हिंदी-भाषा-भाषियों के लिये गौरव की बात है कि हमारी हिंदी इस नियम की अवज्ञा न कर अपने आवश्यक शब्दों की पूर्ति के लिये अन्यान्य भाषाओं से भरपूर सहायता ले रही है। फल-स्वरूप आज हम अपनी भाषा में बहुत से नए-नए शब्द पाते हैं। परंतु परस्पर लेन-देन के इस नियम के पालन करने में हमारी हिंदी ने कदाचित् आवश्यकता से अधिक परायणता दिखाई और दिखा रही है। फलतः आज उसके इस कर्त्तव्य में कुछ त्रुटि आ गई है। एक भाषा के लिये अन्य भाषाओं से आवश्यक शब्दों के ग्रहण करने की शर्त्त यह होनी चाहिए (अपितु होती है) कि बाहरी शब्द तभी लिए जायँ, जब उस भाषा में उन आवश्यक शब्दों की सृष्टि करने की सामर्थ्य न हो। जब हमें किसी चीज की जरूरत है, तो पहले हम अपने पास या अपने घर में उसे खोजते हैं। (यदि हमारा घर ही न हो—चूँकि कोई पाठक तर्क कर सकते हैं—तो इष्ट मित्र अथवा परिजन तो अवश्य होंगे।) जब बिल्कुल निश्चित हो जाता है कि अमुक चीज की प्राप्ति हमारे घर में हो नहीं सकती, तो उसके लिये हम बाहर जाते हैं। हमारी हिंदी ने अपनी अति-कर्त्तव्य-परायणता के आवेश में आकर इस बात को भुला दिया है। स्वयं अपनी सामर्थ्य से नए शब्द पैदा करने का प्रयत्न तो दूर, जो पुराने और प्रचलित शब्द अपने पास हैं, उन शब्दों की भी जड़ काटकर उनके स्थान में बाहर से नए शब्द लाने की कोशिश वह कर रही और काफी कर भी चुकी है। जब से तथाकथित 'हिंदुस्तानी' की सृष्टि हुई, तब से हिंदी की यह त्रुटि तो और भी प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है। उदाहरण के लिये, क्या कारण है कि हिंदी में स्वभाव से प्रचलित निम्नलिखित शब्दों के स्थान में नए-नए शब्द आजकल बलपूर्वक घुसा दिए जा रहे हैं:—

सियासी	(राजनीतिक के स्थान में)	जज्बात्	(भावों के स्थान में)
जम्हूरियत	(प्रजातंत्र ,,)	एहसास	(भान ,,)
जाती	(व्यक्तिगत ,,)	सदारत	(अध्यक्षता ,,)

इत्तिफ़ाक	(एकता के स्थान में)	क़ौमियत	(राष्ट्रीयता के स्थान में)
तक़रीर	(भाषण „)	महदूद	(सीमित „)
नुमाइंदा	(प्रतिनिधि „)	मुश्तरका	(साझे „)

इन शब्दों को लिखने का मतलब यह नहीं कि हमें नए शब्दों को अपनी भाषा में लाना ही नहीं चाहिए। लाना तो हमें सर्वप्रकार से चाहिए, चूँकि यह हमारी भाषा के उन्नत होने का चिह्न है, किंतु उनको अपने अंदर लाकर हमें अपने पुराने शब्दों को भूलना नहीं चाहिए—जब तक कि ये पुराने शब्द हमारे प्रयोजन की पूर्ति करते हैं। शब्दों से भाषा बनती है और भाषा हमारी संस्कृति तथा सभ्यता का आधार है। इसी आधार पर इन दो अनमोल रत्नों का अस्तित्व है। यदि हम इस आधार को कमजोर होने देंगे, तो हमारी संस्कृति तथा सभ्यता किस पर खड़ी हो सकेगी? भविष्य में उनकी क्या दशा होगी? आगे आनेवाली संतानें हमारे बारे में क्या सोचेंगी और कहेंगी? ये ऐसे कुछ प्रश्न हैं, जिनकी उपेक्षा हमें कदापि नहीं करनी चाहिए। इनकी उपेक्षा करने का मतलब है अपनी संस्कृति तथा सभ्यता की जड़ को अपने हाथों से काटना।

अब रह गई हिंदी में आवश्यक शब्दों की सृष्टि की बात। इसमें भी हमारी हिंदी काफी भूल कर चुकी और करती जा रही है। ऊपर कहा गया है कि जब किसी को किसी वस्तु की आवश्यकता होती है, तो पहले वह अपने घर में या अपने आसपास उस वस्तु को खोज लेता है। जब उसे निश्चित हो जाता है कि अमुक आवश्यक वस्तु की प्राप्ति उसके घर में नहीं हो सकती, तो वह उसके लिये बाहर जाता है। हमारी हिंदी ने अपनी शब्द-सृष्टि के कार्य में इस बात पर ध्यान नहीं दिया। बिना अपने घर में खोजे ही वह तुरंत इन आवश्यक वस्तुओं के लिये बाहर दौड़ती है। फलतः आवश्यक वस्तुएँ उसे मिल तो जाती हैं; किंतु ये वस्तुएँ उसके लिये अत्यधिक नई होने के कारण उसके जीवन के अनुकूल नहीं हो पातीं, और हो भी कैसे पातीं—जब कि यह नवीनता उस पर दिन-प्रतिदिन बलात् लादी जा रही है। फल-स्वरूप आज हमारी हिंदी में कृत्रिमता सी आ गई है। यह कृत्रिमता तब तक आती रहेगी, जब तक हम

अपने को इस प्रवृत्ति से नहीं छुड़ायँगे। जब इस कृत्रिमता का घड़ा भर जायगा, तब वह फूटकर हमारी देह को—हमारे सारे गृह को—कलंकित तथा लज्जित कर देगी।

यह तो मानी हुई बात है कि कई भारतीय भाषाओं में से हिंदी भी एक ऐसी भाषा है, जिसकी उत्पत्ति संस्कृत से हुई है, अर्थात् दूसरे शब्दों में यह कहना है कि हिंदी संस्कृत की एक पुत्री है। इस हिंदी रूपी पुत्री की कैसी भी अवस्था क्यों न हो, संस्कृत तो उसकी माता है ही तथा रहेगी ही। आवश्यकता पड़ने पर उसे चाहिए कि वह अपनी माता का सहारा ले; परंतु हिंदी ने ऐसा नहीं किया। उसने तेल को घी समझा और उसी का उपभोग वह कर रही है। फलतः आज जो लाभ घी के उपभोग करने से उसे मिलना चाहिए था, नहीं मिल रहा है, और जिस तेल का उपभोग उसने आवश्यकता से अधिक किया है, वह आज उसके सारे अंग-प्रत्यंग पर बोल रहा है। इस संबंध में हिंदी ने उन भाषाओं से कुछ भी पाठ नहीं सीखा, जिनकी उत्पत्ति संस्कृत से नहीं हुई है—जिन्होंने संस्कृत के मांस से अपना मांस नहीं बनाया, संस्कृत के खून से अपना खून नहीं पाया—परंतु जिन्होंने संस्कृत का कुछ स्वाद चखा है, जो संस्कृत से कुछ शिक्षित तथा प्रभावित हुई हैं। इन भाषाओं से लेखक का मतलब है वे भाषाएँ, जो आजकल भी उस 'बृहत्तर-भारत' में बोली जाती हैं, जहाँ सैकड़ों वर्ष पहले इसी भारतमाता के वीर पुत्रों ने जाकर अपने धर्म तथा संस्कृति की विजय-पताका स्थापित की थी। यद्यपि आजकल यह पताका, अन्य स्थानों के कुहरे-बादलों से आवृत होने के कारण, हम लोगों की आँखों के सामने से कुछ अलक्ष्य हो गई है, तो भी संयमित आकार में यह अपने डंडे पर अब भी शांतिपूर्वक विद्यमान है। 'बृहत्तर-भारत' की इन कई 'भारतीय' भाषाओं में से (बर्मी, स्यामी—Thai, मालेय, जावानीस्, कंबोडियन इत्यादि), उदाहरण के लिये, लेखक केवल एक स्यामी की ही चर्चा करना चाहता है। स्यामी मंगोलियन भाषाओं से निकली है। संस्कृत से उसका कोई मौलिक संबंध नहीं; परंतु गत वर्षों में उस पर संस्कृत का प्रभाव बहुत पड़ गया था। भारतवर्ष से स्याम का धार्मिक तथा सांस्कृतिक संबंध

बहुत ही घनिष्ठ है। स्यामी भाषा के लगभग पैंतीस या चालीस प्रतिशत शब्द संस्कृत से आए हैं। इस संबंध में पाठकगण के सामने लेखक एक अँगरेजी लेख से कुछ उद्धरण उपस्थित करना चाहता है। वे इस प्रकार हैं:—

"The descendants of Hindu settlers in Siam set up a very high civilisation founding great cities like Angkor Wat, the remains of which are still one of the great wonders of the world. And the modern Siamese, in reality, were the result of an admixture between the race which came down from China and the people who migrated from Hindustan."

"In the matter of racial characteristics, the Siamese can rightly claim themselves to be Indo-Chinese. *No country is more worthy of that name than Siam, because by blood, by culture and by outlook they are a mixture of the Chinese and the Indians.*"

"In actual life the Samese are found to have a Chinese outlook but their higher culture, expressed in Pali and Sanskrit, were essentially Indian and the religion they followed was Buddhism, a product of India. Their religious literature was written in those ancient languages. The alphabet, containing vowels and consonants, is very much like that of Sanskrit, although written in Siamese characters. The colloquial speech of the Siamese is like that of the Chinese but higher literatures are expressed in Sanskrit and Pali."*

अर्थात्—"स्याम में जाकर बसनेवाले हिंदुओं की संतान ने वहाँ अत्युच्च सभ्यता स्थापित की और अंगकोरवात जैसे महान् नगरों की स्थापना की, जिनके खँडहर तक आज विश्व के महान् आश्चर्य समझे जाते हैं। आधुनिक स्यामवासी यथार्थ में चीन से आए हुए लोगों और हिंदुस्तान से वहाँ जाकर बसे लोगों का सम्मिश्रण हैं।

---

* 'Siam and Her People.' "The Maha-oBdhi," October, 1939.

"अतः जातीय विशिष्टता की दृष्टि से स्यामवासी भली भाँति अपने-आपको हिंदी-चीनी कह सकते हैं। स्याम से बढ़कर इस नाम का अधिकारी और कोई मुल्क नहीं है, क्योंकि स्यामवासी रक्त, संस्कृति और दृष्टिकोण से पूर्णतया भारतीयों और चीनियों का ही सम्मिश्रण हैं।

"व्यावहारिक जीवन में यद्यपि स्यामवासियों का दृष्टिकोण चीनियों का-सा है; किंतु उनके जीवन का सांस्कृतिक उच्च स्तर—जिसका व्यक्तीकरण उनके पाली और संस्कृत के ग्रंथों में है—मूलतः भारतीय है। जिस बौद्ध-धर्म के वे अनुयायी हैं, वह भी भारत की ही देन है। उनके धर्मशास्त्र भी भारत की प्राचीन भाषाओं में ही लिखे गए थे। उनकी वर्णमाला संस्कृत से बहुत मिलती-जुलती है, यद्यपि वह लिखी स्यामी अक्षरों में ही जाती है। स्यामवासियों की बोलचाल की भाषा यद्यपि चीनियों की भाषा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है; पर उनका उच्च साहित्य सारा का सारा संस्कृत और पाली में है।"

आधुनिक स्याम में सब विषयों की बड़े वेग से जागर्ति हो रही है। भारतवासियों के लिये 'स्याम' अपरिचित सा शब्द मालूम पड़ता है। यहाँ के लोग उस देश के बारे में बहुत ही कम ज्ञान रखते हैं (यद्यपि स्याम में लगभग तीन लाख भारतीय हैं) हाल में जब फ्रेंच-इंडो-चाइना के साथ स्याम की राजनीतिक गड़बड़ी हुई है, तब स्याम ने अपने नए नाम 'थाईलैंड' से यहाँ के पत्र पढ़नेवालों के कानों में कुछ खलबली सी की है। अन्यान्य जाग्रतियों के साथ साथ स्यामी भाषा की भी जाग्रति हो रही है। अपने अंदर आए नए-नए भावों तथा विचारों की अभिव्यक्ति के लिये उसे, हिंदी की तरह, शब्दों की कमी बहुत खटक रही है। परंतु इस कमी की पूर्ति के लिये उसने, हिंदी के विपरीत, अन्य भाषा का आश्रय न लेकर संस्कृत ही की शरण ली और ले रही है। वह जानती है कि संस्कृत से चाहे उसका कोई मौलिक संबंध न हो, तो भी उसके लिये यह सबसे समीप तथा योग्य स्थान है, जहाँ वह आवश्यकता के समय बराबर आश्रय ले सकती है। इस बात का भी उसे पता है कि संस्कृत के पास सहायता का असीम भांडार है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि शरणार्थी उसके पास जाएँ और यथेष्ट शरण लें। उदाहरण के लिये लेखक पाठकों के सामने कुछ ऐसे स्यामी

शब्द उपस्थित करना चाहता है जो संस्कृत से आए हैं और जो आजकल स्याम में प्रचलित हैं। जैसे कि नीचे दिए जा रहे हैं, ये शब्द भिन्न भिन्न विषयों के हैं। इनकी रचना का औचित्य हो या न हो, लेखक बहस नहीं करना चाहता। यहाँ उसका उद्देश्य पाठकों को केवल यह दिखाना है कि स्यामी भाषा अपने नए शब्दों के निर्माण के लिये संस्कृत से सहायता ले रही है—यद्यपि स्यामी, हिंदी की अपेक्षा, संस्कृत से दूर है। उदाहरणार्थ :—

(निम्न-लिखित शब्दों में से जो पाली के हैं, उनके आगे (पा) अक्षर लगा दिया गया है। इनका पद-विन्यास संस्कृत-जैसा है; किंतु इनका उच्चारण संस्कृत से काफी भिन्न है।)

स्यामी शब्द	अँगरेजी अर्थ	स्यामी उच्चारण
चक्रयान	Bicycle	चक्रयान्
रथयंत्र	Motor-car	रोथ्योन्
आकाशयान	Aeroplane	आकासयान्
विद्युत्	Radio	विथ्यु
दूरलेख	Telegram	थोरलेख्
दूरशब्द	Telephone	थोरसब्द
भावयंत्र	Cinema	फाफयोन्
धनागार	Bank	थनाखान्
धनपत्र	Currency Note	थनवत्
आगार	Building	आखान्
प्रभागार	Lighthouse	प्रफाखान्
संतिपाल (पा)	Police man	संतिबाल्
रठपाल (पा)	Government	रथबाल्
देशपाल	Municipality	थेसबाल्
रठनियम	State-convention	रथनियोम्
नयोपाय	Policy	नयोबाय
विदेशोपाय	Foreign policy	बिथेसोबाय
संधिसंञा (पा)	Treaty	सोथिसंञा

स्यामी शब्द	अँगरेजी अर्थ	स्यामी उच्चारण
रठमंत्री	Minister	रथमोंत्री
नायक रठमंत्री	Premier	नायोक् रथमोंत्री
रठसभा	State assembly	रथसफा
नीतिपंञत्ति सभा (पा)	Legislative councilनो	तिबंञत् सफा
परिहार सभा	Executive council	बॅरिहार सफा
रठाधिपति	Sovereign	रथाथिबॅदी
रठ आरक्खा (पा)	Protectorate	रथ आरक्खा
अधिपतय	Sovéreignty	अथिपतय
इद्धिबल (पा)	Influence	इत्थिफोन्
उपसर्ग	Obstacle	उपसक्
साधारण संपत्ति	Public property	साथारण सोम्बत्
साधारण प्रयोजन	Public interest	साथारण प्रयोज्
प्रजाधिपत्य	Democracy	प्रछाथिपतय
एकाधिपत्य	Dictatorship	एकाथिपतय
महाजन रठ	Republic	महाछोन् रथ
मूल निधि	Fund	मूल निथि
सेनाधिकार	Military general staff	सेनाथिकान्
अंगरक्ख	Aide-de-camp	ओंखरक्ख
राज नावी थाई	Thai Royal navy	राछ नावी थाई
वाणिज्य कर्म	Commerce	फानिछ कम्
उत्साह कर्म	Industry	उत्साह कम्
हत्थ कर्म (पा)	Mauufacture	हत्थ कम्
हत्थकर	Mannfacturer	हत्थकोन्
कर्मकर	Labourer	कम् कोन्
शिल्प कर्म	Artistic works	सिल्प कम्
वर्ण कर्म	Literary works	वन कम्
क्षेत्र कर्म	Agriculture	कसेत् कम्

स्यामी शब्द	अँगरेजी अर्थ	स्यामी उच्चारण
महाविद्यालय	University	महाविथ्यालय
संति भाव (पा)	Peace	संति फाफ्
शून्याकाश	Vacuum	सून्याकास्
भ्रातर भाव	Brotherhood	फ्रादोन् फाफ्
विद्याशास्त्र	Science	विथ्यासास्
अनुमति	Sanction	अनुमत्
सभातुलाकार	Tribunal	सफातुलाकान्
सह भाव	Union	सह फाफ्
सह बंध	Federation	सह फन्
समाबंध	Confederation	समाफन्
सिद्धिपत्र	Patent	सित्थिबत्
विग्रह	Analysis	विखॅह
अनुग्रह	Favour	अनुखॅह
वढनधर्म (वधर्नधर्म)	Culture	वथःनःधम्
मनुष्यधर्म	Humanity	मनुसधम्
वनिज नावी	Marine merchant	फनिछ नावी
चक्रवर्ती	Emperor	चंक्रफद्
शुल्काकर	Customs tariffs	सुल्काकोन्
परिषद्	Company	बॅरिसद्
भारधुर	Enterprise	फारः थुरः
दु:खभय	Distress	थुखफय
क्रिमिविद्या (पा)	Entomology	क्रिमिविथ्या
गणितशास्त्र	Mathematics	खणितसास्
चित्तविद्या	Psychology	चित्तविथ्या
जातिवंशवर्णा	Ethnography	छात्वँशवणना
जातिवंशविद्या	Ethnology	छात् वँश विथ्या
जीवविद्या	Biology	छीवविथ्या

स्यामी शब्द	अँगरेजी अर्थ	स्यामी उच्चारण
ताराशास्त्र	Astronomy	दारासास्
दर्शनशास्त्र	Optics	थसनः सास्
धर्मजाति प्रज्ञा	Natural philosophy	धमछात प्रच्छा
प्रज्ञा	Philosophy	प्रच्छा
वृक्षशास्त्र	Botany	फृक्ससास्
बीजगणित	Algebra	फीछखणित्
मानुष्यविद्या	Anthropology	मानुसविध्या
रसायनवेद	Alchemy	रसायनवेद
रेखागणित	Geometry	रेखाखणित्
लेखगणित	Arithmetic	लेखखणित्
सत्त्वशास्त्र	Zoology	सत्त्वसास्
उतु नियमविद्या (पा)	Meteorology	उतु नियमविध्या

आदि ।

कुछ महत्त्वपूर्ण स्थानों के नाम

अयुध्या, विष्णुलोक, स्वर्गलोक, नगरस्वर्ग, धनपुरी, जलपुरी, वज्रपुरी, कांचनपुरी, सिंहपुरी, नगरजयश्री, नगरश्रीधर्मराज, लवपुरी, इन्द्रपुरी, आदि ।

बहुतों में से ये कुछ ही उदाहरण हैं । इनसे पाठकों को इस बात का कुछ आभास मिल गया होगा कि स्यामी अपनी शब्द-सृष्टि के कार्य में संस्कृत से कितनी सहायता लेती है । "ये शब्द केवल शब्द-कोष में ही प्रचलित हों", ऐसी बात भी नहीं है । स्यामी सरकार ने स्वयं इन शब्दों के निर्माण के लिये एक समिति (Committee) नियुक्त की है, जिसके कुछ सदस्य, प्रसन्नता की बात है कि, इसी पवित्र भारत-जननी के ही सुपुत्र हैं । जब जब नए शब्द इस समिति द्वारा निर्मित किए जाते हैं, तब तब वे सरकारी विज्ञप्ति में प्रकाशित कर दिए जाते हैं । तदनंतर सरकार के सभी कार्यों में इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है । और चूँकि सरकार स्वयं इस काम का नेतृत्व करती है, इसलिये प्रजा भी शीघ्र उसका अनुकरण करती है—उसे करना ही पड़ता है । सरकार के हर कार्य में इन शब्दों का

बोलबाला रहता है; अन्य शब्द प्रामाणिक नहीं समझे जाते। स्याम में संस्कृत की प्रतिष्ठा पुराने जमाने से है। जो लोग (वहाँ के) संस्कृत-शब्दों का प्रयोग करते हैं, वे सभ्य, शिक्षित तथा माननीय समझे जाते हैं। प्रायः वहाँ के सभी राजवंशजों तथा राजकर्मचारियों के नाम संस्कृत से बने थे और हैं—जैसे, प्रजाधिपक (भूतपूर्व राजा का नाम), आनंदमहीतल (आधुनिक युवक राजा का नाम), विपुलसंग्राम (आधुनिक प्रधान मंत्री का नाम), प्रतिष्ठमनूधर्म, सिंधुसंग्रामजय, मानवराजसेवी, अभयसंग्राम, सिंहनादयोधारक्ष, कोविद अभयवंश, शक्तिसंग्राम इत्यादि (आजकल के कुछ मंत्रियों के नाम)।

परंतु इन बातों से पाठक यह न समझें कि स्यामी लोग अपनी भाषा के 'सर्वस्व' के लिये संस्कृत पर ही अवलंबित हों। यदि ऐसी बात हो, तो किसी भी भाषा (स्यामी ही नहीं) के लिये यह शुभ लक्षण नहीं है। यह तथाकथित 'दिमागी गुलामी' का चिह्न है—उस भाषा और उस जाति के पतन का सूचक है। स्यामी संस्कृत से केवल उन शब्दों को लेती है जो, उसकी समझ में, उसके जीवन के लिये हितकर हैं, उसके प्रयोजन के लिये उपयोगी हैं और उसकी मर्यादा के लिये आपत्तिजनक नहीं हैं। उसके बहुत से ऐसे भी शब्द हैं, जो संस्कृत से कुछ भी संबंध नहीं रखते; पर जो उसके जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। संक्षेप में यही कहना है कि स्यामी संस्कृत से केवल आवश्यक तथा अनिवार्य सहायता ग्रहण करती है, इससे अधिक नहीं। तो भी उसकी आँखों में संस्कृत सदा ज्ञानी, पूज्या तथा अनुभवी 'दादी' बनी रहती है और रहेगी भी।

यह है आधुनिक स्यामी में संस्कृत का स्थान। क्या हिंदी में उसे इतना भी सम्मान प्राप्त है? क्या सचमुच संस्कृत असामयिक भाषा है? क्या उसका कुछ उपयोग नहीं किया जा सकता? यदि 'किया जा सकता है', तो हमने क्या और कितना किया? यदि 'नहीं', तो क्यों और कैसे?

—क्ष।

समीक्षा

मालव का संक्षिप्त राष्ट्रीय इतिहास—ले० पं० सूर्यनारायण व्यास, प्र० मोहन प्रिंटिंग प्रेस, माधवनगर, उज्जैन; पृष्ठ-संख्या ५३; मूल्य ॥) ।

इस पुस्तक में व्यासजी के ४ लेखों का संकलन है। प्रथम लेख के नाम पर ही पुस्तक का नाम रखा गया है। शेष तीन लेख 'वैभवशालिनी उज्जयिनी,' 'गौरवमय गवालियर' और 'विक्रमादित्य' हैं। प्रत्येक लेख विद्वत्ता-पूर्ण है। इनके पढ़ने से पाठकों की जिज्ञासा मालवा का इतिहास जानने के लिये बढ़ेगी। यदि, जैसी प्रकाशक ने आशा दिलाई है, व्यास जी एक मालवा का सर्वांगपूर्ण विस्तृत इतिहास लिखें तो वे इतिहास-प्रेमियों के धन्यवाद के पात्र होंगे।

पुस्तक की छपाई और तय्यारी संतोषजनक है, लेकिन कुछ तिथियाँ अशुद्ध छप गई हैं।

—अवधविहारी पांडेय, एम० ए०।

हाथ की लिखावट—प्रकाशक राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा; हाथ के बने देशी काग़ज पर छपी, डबल फुल्स्कैप ८ पेजी आकार के ४० पृष्ठ; मूल्य दिया नहीं।

'अहिंदी प्रांतों की जनता को राष्ट्रभाषा की विभिन्न लेखन-शैलियों से परिचित कराने के लिये' इस पुस्तक का प्रकाशन हुआ है। इसमें देश के कतिपय सुप्रसिद्ध व्यक्तियों, अधिकांशतः कांग्रेस के नेताओं, के हस्तलेख हैं। शिरोरेखा-विहीन, आड़े-तिरछे, सीधे और पुष्ट कई प्रकार के हस्तलेख हैं जिनसे परिचित होना अहिंदी-भाषा-भाषियों के लिये आवश्यक समझा गया है। पुस्तक लाभदायक है परंतु इसमें एक खटकनेवाली बात है। हिंदी के विद्वानों के हस्ताक्षरों का अभाव है। अगले संस्करण में यदि इस अभाव की पूर्ति कर दी जाय तो पुस्तक अधिक उपादेय होगी। कारण, हिंदी के विद्वानों के हस्तलेख से भी परिचित होना अहिंदी प्रांतवालों के लिये आवश्यक और उपयोगी है।

कहानी-संग्रह भाग १, २, ३—प्रकाशक राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा; मूल्य क्रमशः ।), ।=) और ।।) ।

इन तीनों संग्रहों में क्रमशः ६, ७ और १२ कहानियाँ हैं जिनमें हिंदी के विख्यात कहानी-लेखकों की उत्कृष्ट कहानियों के अतिरिक्त कुछ गुजराती, मराठी, बँगला आदि से भी अनूदित कहानियाँ हैं। अधिकांश कहानियाँ आधुनिक शैली की, भावपूर्ण और कलात्मक हैं। उनके चयन में व्यापक दृष्टि का परिचय मिलता है। ये संग्रह भारतीय कहानी-साहित्य के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं।

राष्ट्रभाषा की पहली, दूसरी और तीसरी पुस्तक—प्रकाशक राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति, वर्धा; मूल्य क्रमशः ।), ।-) और ।।=) ।

राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति ने इन पुस्तकों को अपनी परीक्षाओं के पाठ्य-क्रम के लिये तैयार कराकर प्रकाशित किया है। इन परीक्षाओं में अहिंदी भाषा-भाषी ही सम्मिलित होते हैं, इस कारण पाठों के निर्माण में उनकी सुविधा एवं शक्ति का उचित ध्यान रखा गया है। भाषा भी मिली-जुली हिंदी-उर्दू है, जिसमें उर्दू के शब्दों से अहिंदी भाषा-भाषियों को बलात् परिचित कराने का प्रयत्न किया गया है। पुस्तकों के अंत में, विशेषतः तीसरी पुस्तक के, दिए गए कठिन शब्दों की सूची से यही बात स्पष्ट होती है। फिर भी मिली-जुली भाषा की पुस्तकों में ये अच्छी हैं।

सरल रचना और पत्र-लेखन—लेखक श्री० रामेश्वरदयाल दुबे, एम० ए०, साहित्यरत्न; प्रकाशक राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा; मूल्य ।) ।

अपनी राष्ट्रभाषा-प्रवेश परीक्षा के पाठ्यक्रम के लिये इस पुस्तक को रा० प्र० समिति ने तैयार कराया है। आरंभ में निबंध, कहानी, जीवनी आदि लिखने के संबंध में आवश्यक ज्ञातव्य बातें दी हुई हैं। उसके बाद उनके ढाँचे और नमूने हैं। पत्र-लेखन विभाग में भी पहले पत्र के अंगों और उनके संबंध में मुख्य मुख्य बातों का वर्णन है, तत्पश्चात् पत्रों के नमूने। सुंदर लेख एवं पत्र लिखना सिखाने के लिये पुस्तक उपयोगी है।

गुलदस्ता, भाग १, २, ३—प्रकाशक राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा; मूल्य क्रमशः ।), ।–), ॥) ।

राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति ने अपनी परीक्षाओं के लिये इन कविता-संग्रहों का निर्माण कराया है। प्रथम भाग में, जो राष्ट्रभाषा-प्रवेश परीक्षा के लिये है, अपेक्षाकृत सरल पद्य हैं। आदि से अंत तक भाषा के विभिन्न नमूने हैं—शुद्ध हिंदी भी है, उर्दू भी और मिली-जुली भाषा भी। विद्यार्थियों में कविता के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने में यह संग्रह सहायक होगा। इसमें संदेह नहीं। अंत में दिया हुआ परिशिष्ट भी विद्यार्थियों के लिये उपयोगी है। दूसरे भाग में अपेक्षाकृत कठिन पद्य हैं। उर्दू पद्यों की संख्या कम है। अंत में कवियों को जीवनी और पद्यों का परिचय भी दिया हुआ है। तीसरे भाग में पद्यों का व्यवस्थित वर्गीकरण हुआ है। आरंभ में 'कवि और उनका काव्य' शीर्षक अध्याय में कवियों के संबंध में संक्षिप्त आलोचनात्मक विवेचन भी है जो उनकी रचनाओं का अधिक मार्मिक अध्ययन करने की रुचि विद्यार्थियों में उत्पन्न करने में सहायता देगा। परीक्षा की दृष्टि से सामान्य जानकारी के लिये भी वह उपयोगी है।

राष्ट्रभाषा की प्रारंभिक बोधिनी—प्रकाशक राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा; मूल्य ≈) ।

अहिंदी भाषा-भाषी, नागरी अक्षरों से अपरिचित जनता को देवनागरी लिपि और राष्ट्र-भाषा की शिक्षा देने के लिये समिति ने इसे तैयार कराया है। बच्चों के लिये विशेष उपयोगी होते हुए यह प्रौढ़ों के लिये भी उपयुक्त है। भाषा साधारण बोलचाल की और अहिंदी-भाषियों के लिये बोधगम्य है। यह अपने उद्देश्य की पूर्ति में पूर्णतः सहायक होगी इसमें संदेह नहीं।

राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति की इन सभी पुस्तकों में खटकनेवाली बात केवल इनकी परिवर्तित लिपि है जो हिंदी संसार के सामने अभी विचाराधीन ही है और स्वीकार होती हुई दिखाई नहीं देती।

—रामबहोरी शुक्ल।

दुनिया—मासिक; वर्ष १, अंक ७ (जुलाई, '४१); संपादक श्री 'भारतीय'; प्रकाशक शारदा प्रेस, नया कटरा, प्रयाग; डबल क्राउन अठपेजी आकार के ३२ पृष्ठ; मूल्य वार्षिक २), एक प्रति का ≡) ।

इधर जिन नवीन मासिक पत्र-पत्रिकाओं का जन्म हुआ है उनमें 'दुनिया' सर्वसाधारण का मनोरंजन और ज्ञानवर्द्धन करने का विशेष उद्देश्य लेकर आई है। इस अंक में दो कविताएँ, दो कहानियाँ, हास्यरस का एक तथा स्फुट विषयों के पाँच निबंध, एक ज्योतिष-विषयक धारावाही लेख, कुछ सुभाषित और कुछ विश्ववैचित्र्य संबंधी ज्ञातव्य बातें हैं। कविताएँ दोनों मुक्तक हैं, एक ही लेखक की हैं। 'मानव' के उदात्त चित्रण में कवि-कल्पना का रमणीय विस्तार हुआ है। 'याचना' में कवि की आकांक्षा के अंतर्गत लोकमंगल की भावना का जो सूक्ष्म अवस्थान हुआ है वह काव्य-सौंदर्योपम है। 'कलागत सत्य' कलाकार की कल्पनाप्रसूत सृष्टि के सत्य और साधारण सांसारिक तथ्य का सुंदर विवेचन है। 'हृदय की धड़कन' अमेरिकन लेखक एडगर ऐलेन पो की एक कहानी का स्वतंत्र अनुवाद है। पो अपनी युक्तियुक्त रचना-शैली के लिये १९वीं शती का एक लोकप्रिय कवि, कहानी-लेखक और पत्रकार हो गया है। अनुवाद यद्यपि स्वतंत्र है, तथापि प्रथम अनुच्छेद ही अपने रचना-वैशिष्ट्य से पाठक को आकृष्ट कर लेता है। दूसरी अनूदित आख्यायिका 'माँगसेन का पतन' हैराल्ड फील्डिंग हाल की है जिसमें एक ब्रह्मदेशीय राजपरिवार की सम्मान-रक्षा के प्रश्न की मीमांसा पात्रों के मनोभावों के सुंदर सफल चित्रण के साथ हुई है। शेष सामग्री भी सुंदर और पत्रिका के उद्देश्यों के अनुरूप है। 'दुनिया' सर्व-साधारण में समादृत होगी, ऐसा विश्वास है।

यत्र तत्र कुछ नाम आदि केवल अँगरेजी में दिए हुए हैं। ऐसे स्थल अँगरेजी से अपरिचितों के लिये कष्टप्रद हैं। प्रूफ पर भी और सतर्क दृष्टि अपेक्षित है।

—शं० बा०।

सूचना—स्थानाभाव के कारण समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकों की सूची अब अगली सूची के साथ अगले अंक में प्रकाशित होगी।—सं०।

विविध

'लक्षोदय या लालचंद'

हिंदी ग्रंथों की खोज के पंद्रहवें त्रैवार्षिक विवरण में छपे हुए 'लक्षोदय या लालचंद' कवि (ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ४४, पृ० ३७२) के संबंध में श्री अगरचंद नाहटा ने निम्नलिखित सूचनाएँ भेजी हैं :—

१—पद्मिनीचरित्र का रचनाकाल सं० १७०७ है।

२—कवि का नाम लक्षोदय भूल से पढ़ा गया होगा, शुद्ध नाम लब्धोदय है।

३—लीलावती का रचयिता लालचंद उससे भिन्न है। इसी प्रकार राजुल पचीसी आदि के निर्माता भी भिन्न भिन्न हैं।

इन सूचनाओं के लिये नाहटाजी धन्यवाद के भाजन हैं।

१—पद्मिनीचरित्र का समय-सूचक दोहा भी रचनाकाल सं० १७०७ ही बताता जान पड़ता है, १७०२ नहीं, जैसा गलती से विवरण में दिया गया है —

संवत सतरे से बड़ोतरे श्री उदयपुर सु बखाण।
हिंदूपति श्री जगतसिंह जिहो रे राज करै जगभान॥

इसमें बड़ोतरे 'बरोतरे' का विकृत रूप जान पड़ता है। 'बरोतरे' के दो अर्थ हो सकते हैं—बारह उत्तर या सात उत्तर क्योंकि वार सात होते हैं। इस प्रकार वह सं० १७१२ या १७०७ होगा। किंतु लब्धोदय के समकालीन उदयपुराधीश जगतसिंह का राज्यकाल सं० १७०९ में समाप्त हो जाता है। इसलिये सं० १७०७ ही रचनाकाल जान पड़ता है। इस संबंध में नाहटाजी अथवा जैन साहित्य के कोई अन्य विद्वान् कुछ अधिक प्रकाश डालें तो बड़ा अच्छा हो; क्योंकि संभव है 'बड़ोतरे' 'बरोतरे' का विकृत रूप न होकर कुछ और ही हो।

२—हस्तलिखित ग्रंथ कभी कभी बड़े विकृत अक्षरों में लिखे मिलते हैं, जिन्हें पढ़ना बड़ा कठिन हो जाता है। इससे गलत पढ़ा जाना बहुत संभव है।

३—इन विभिन्न लालचंदों का कुछ विस्तृत परिचय देने की नाहटाजी कृपा करें तो आगे खोजवालों के लिये सुबीता हो जाय।

—पीतांबरदत्त बड़थ्वाल।

श्री जयचंद्र विद्यालंकार कृत 'इतिहास-प्रवेश'

'कैलकटा रिव्यू' फरवरी १९४१, पृष्ठ १९८-२०१ में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने श्री जयचंद्र विद्यालंकारकृत 'इतिहास-प्रवेश' की अभिनंदनात्मक समीक्षा की है। हम उस समीक्षा के आदि और अंत के विशेष अंशों का अनुवाद यहाँ सहर्ष प्रस्तुत करते हैं:—

भारतीय इतिहास की इस पुस्तक का विषय-विभाजन बहुत सुंदर और लेखन उत्कृष्ट हुआ है, और प्रायः सभी दृष्टियों से मैं समझता हूँ कि इस विषय पर इस नमूने की जितनी कृतियाँ मैंने आज तक पढ़ी हैं उनमें यह सब से अधिक नई से नई सामग्री का उपयोग करनेवाली, सब से अधिक संग्राहक और सब से अधिक संतोषजनक है। जैसी वैज्ञानिक दृष्टि से इसकी कल्पना हुई है और जिस पूर्णता तथा ईमानदारी के साथ उस कल्पना को मूर्त्त रूप दिया गया है वह संसार के किसी भी कोने के किसी भी विद्वान् की विद्वत्ता तथा अध्यवसाय के लिये गौरव की वस्तु होती। इसके ७५० पृष्ठों में भारतीय जनता के इतिहास और संस्कृति का जैसा प्रशस्त निदर्शन हुआ है उसे पढ़कर विशेषज्ञ और साधारण पाठक दोनों को ही लाभ और आनंद मिलेगा।

× × × × ×

मैं समझता हूँ कि विद्वानों को स्वीकार करना होगा कि श्री विद्यालंकार ने अपने कार्य का बड़ी उत्कृष्टता से निर्वाह किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक हिंदी में लिखी है जो कि भारत की सच्ची राष्ट्रभाषा तथा प्रतिनिधिभूत आधुनिक भाषा है। हिंदी समूचे आर्यभाषाभाषी भारत और दक्षिण भारत के भी काफी बड़े भाग

की वास्तविक सार्वत्रिक बोलचाल तथा चलन की भाषा (Umgangssprache तथा Verkehrsprache) है, यद्यपि अभी तक वह सांस्कृतिक भाषा तथा शास्त्रीय भाषा (Kultursprache तथा Wissenschaftliche Sprache) नहीं हो पाई है। (१) इसकी वैज्ञानिक शब्दावली अभी बन रही है और स्वयं श्री विद्यालंकार को भी अनेक आवश्यक शब्द ढूँढ़ने या गढ़ने पड़े हैं। उपस्थित पुस्तक जैसी कृतियाँ वस्तुतः हिंदी को विज्ञान तथा संस्कृति की भाषा का पद प्राप्त कराने में सहायक हो रही हैं। जितने आधुनिक हिंदी-लेखकों की भाषा मैंने आज तक पढ़ी है उनमें श्री विद्यालंकार की हिंदी उसके श्रेष्ठ नमूनों में से है। वे सुंदर हिंदी गद्य लिखते हैं—चुस्त, सबल, सटीक और फिर भी अलंकृत। इस तरह की पुस्तक का न केवल भारत में अपितु बाहर की दुनिया में भी विस्तृत प्रचार और आदर होना चाहिए।

श्री जयचंद्र विद्यालंकार हिंदी के सम्मानित लेखक हैं। उनका 'इतिहास-प्रवेश' वस्तुतः ऐसे अभिनंदन के योग्य है। यथार्थ भारतीय इतिहास के निर्माण में यह एक उपयोगी देन है। इससे हिंदी का बहुत मानवर्द्धन हुआ है। श्री जयचंद्रजी को इस कृति के ऐसे अभिनंदन पर बधाई देते हुए हम उनसे उत्कृष्टतर कृतियों की आशा रखते हैं।

श्री रवींद्रनाथ ठाकुर स्वर्गत !

हमें यह भी लिखना था। इसी २२ श्रावण को उस विश्ववंदित भारतीय विभूति ने ऐहिक बंधन त्याग दिया। गत १ वैशाख को ही श्री ठाकुर की ८०वीं वर्षगाँठ का समुत्सव था। वे महाकवि, महामनीषी, महर्षि थे। इस भेदभाव-भरे युग में उन्होंने विश्वभाव का सफल दर्शन किया था। उसके पावन संदेश की व्यापक अभिव्यंजना उनकी जीवन-साधना थी। उनकी सत्यशिवसुंदर वाणी ने भारतीय साहित्य को विशेष प्रभावित किया है। हमारा आधुनिक हिंदी-साहित्य उस वाणी का चिरकृतज्ञ रहेगा। अपनी साधना से जिस 'मृत्युहीन प्राण' का श्री ठाकुर 'दान' कर गए हैं वह हमारी संस्कृति तथा साहित्य को उत्तरोत्तर संपुष्ट करता रहे, उनकी पावन स्मृति में हमारी यही आशंसा है। —कृ।

सभा की प्रगति

उपसमितियों और विभागाध्यक्षों का चुनाव

प्रबंध समिति के ७ ज्येष्ठ १९९८ के अधिवेशन में निम्नलिखित उप-समितियों और विभागाध्यक्षों का चुनाव हुआ—

(१) पुस्तकालय उपसमिति—संयोजक, अध्यक्ष तथा निरीक्षक पं० श्रीशचंद्र शर्मा।

(२) अर्थ तथा बिक्री उपसमिति–संयोजक तथा अध्यक्ष अर्थ-मंत्री।

(३) साहित्य उपसमिति—संयोजक और अध्यक्ष साहित्य-मंत्री।

यही उपसमिति प्रकाशन, पदक-पुरस्कार तथा लिपि और भाषा संबंधी प्रश्नों पर भी विचार करेगी।

(४) संकेत लिपि उपसमिति—संयोजक तथा अध्यक्ष पं० निष्का-मेश्वर मिश्र।

(५) खोज विभाग—अध्यक्ष तथा निरीक्षक पं० विद्याभूषण मिश्र।

(६) प्रसाद-व्याख्यान-माला—संयोजक तथा अध्यक्ष बा० कृष्णदेव-प्रसाद गौड़।

आयव्यय की व्यवस्था के लिये यह निश्चय हुआ कि इनके अतिरिक्त प्रकाशन विभाग के अध्यक्ष श्री साहित्य-मंत्री, कलाभवन के श्री संग्रहाध्यक्ष, भवन-निर्माण के श्री रामभरोसे सेठ, पत्रिका के श्री संपादक, हिंदी-प्रचार के श्री सभापति तथा पदक-पुरस्कार के अध्यक्ष पं० रामनारायण मिश्र रहें।

सभा की अर्धशताब्दी

अर्धशताब्दी की तैयारियाँ हो रही हैं। अर्धशताब्दी की रिपोर्ट लिखने में भी हाथ लगा दिया गया है। यह विचार किया गया है कि रिपोर्ट कुल चार जिल्दों में निकले। प्रथम में गत पचास वर्षों के सभा के

कार्यों और हिंदी की उन्नति का विवरण और तत्संबंधी आवश्यक सूचनाएँ और द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ में परिशिष्ट रूप में कलाभवन और आर्य-भाषा पुस्तकालय की सूची तथा खोज में प्राप्त हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण रहे।

सभा का निश्चय है कि अर्धशताब्दी के पहले भारत के राजा-महाराजाओं को सभा का संरक्षक बनाने का प्रयत्न किया जाय और सभा का ऋण भी शीघ्र से शीघ्र चुका दिया जाय। यह सूचना देते हुए बड़ा हर्ष हो रहा है कि सभा के परम हितैषी सभासद सीतामऊ के महाराज-कुमार डाक्टर रघुवीरसिंहजी ने सब प्रकार से इस महोत्सव की तैयारियों में सभा की सहायता करना स्वीकार किया है। प्रत्येक हिंदी-प्रेमी विशेष कर राजा-महाराजाओं और धनी-मानी सज्जनों से प्रार्थना है कि वे श्रीमान् महाराजकुमार की भाँति उत्साहपूर्वक सभा की सहायता करें। महाराजकुमार डाक्टर रघुवीरसिंह के पत्र का कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"........यह जानकर प्रसन्नता हुई कि सभा की अर्धशताब्दी की तैयारियाँ अभी से शुरू कर दी गई हैं। इस ऐतिहासिक अवसर में कौन न सम्मिलित होगा? और अब जब कि मेरा सभा के साथ बहुत ही गहरा और अकाट्य संबंध स्थापित हो चुका है, आप लोगों की सहायता करना मेरा कर्तव्य हो जाता है।"

हिंदी-प्रचार

एक रुपए के नए नोटों पर नागरी अक्षरों को स्थान नहीं दिया गया। इस संबंध में सभा ने भारत-सरकार से लिखा-पढ़ी की थी। भारत-सरकार के डिप्टी सेक्रेटरी ने शिमला से भेजे अर्थविभाग के पत्र (सं० डी / सी ८ एफ / ४१ ता० १५ मई १९४१) में लिखा था कि 'एक रुपए के नए नमूने के नोटों पर, जो शीघ्र ही निकाले जायँगे, देवनागरी अक्षरों का प्रयोग करने के लिये प्रबंध कर दिया गया है।' सरकार को धन्यवाद है कि उसने एक रुपए के नए नोटों पर नागरी अक्षरों को स्थान देने की कृपा की है।

काशी म्युनिसिपल बोर्ड के पशुचिकित्सालय के साइन बोर्ड पर अँगरेजी और उर्दू में नाम लिखे होने पर भी हिंदी के लिये उसपर स्थान नहीं था। सभा ने स्वास्थ्य विभाग के अधिकारी तथा म्युनिसिपल बोर्ड से लिखा-पढ़ी की। पहले तो बोर्ड की ओर से कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिला; पर संतोष की बात है कि अंत में लिखा-पढ़ी करने पर उक्त साइन बोर्ड में हिंदी को स्थान मिल गया।

बिहार में हिंदुस्तानी का बखेड़ा फिर खड़ा हो गया है और नए रूप में। खेद है कि बिहार प्रादेशिक सम्मेलन ने भी हिंदुस्तानी कमेटी के लिये छात्रों की एक पाठ्य पुस्तक संग्रह कर हिंदुस्तानी की हिमायत की है। प्रांत के हिंदी-प्रेमी उसका घोर विरोध कर रहे हैं। सभा ने भी इस संबंध में अपना वक्तव्य भेजा था।

सभा के सभापति रायबहादुर पं० कमलाकर दुबे ने मुजफ्फरपुर, भागलपुर आदि जिलों की यात्रा की थी। वहाँ उन्होंने सभाएँ कीं और भाषणों द्वारा लोगों को उत्साहित किया। उन्होंने वहाँ कई स्थायी सभासद भी बनाए। मुजफ्फरपुर के सुहृद्-संघ ने उनका बड़ा सुंदर स्वागत किया और हिंदी-प्रचार तथा हिंदुस्तानी के विरोध में बड़ा उत्साह दिखलाया।

गत ३०-३१ जुलाई को अबोहर साहित्य-सदन ने तुलसी-जयंती के अवसर पर हिंदी-सम्मेलन भी किया था। तुलसी-जयंती के सभापति सभा के परम हितैषी पं० राधेश्यामजी कथावाचस्पति तथा हिंदी-सम्मेलन के सभापति पं० रामनारायण मिश्र (सभा के उपसभापति) थे। इन सज्जनों ने वहाँ हिंदी-प्रचार के विषय में प्रभावशाली भाषण दिए। इस अवसर पर पं० चंद्रबली पांडे ने भी अबोहर में हिंदी का प्रचार किया।

अनुशीलन विभाग

सभा ने प्रबंधसमिति के गत २९ आषाढ़ १९९८ के अधिवेशन में निश्चय किया कि सभा में श्री राय कृष्णदास की अध्यक्षता में एक अनुशीलन-विभाग खोला जाय और उसमें विद्वानों को अध्ययन करने के लिये पूर्ण सुविधा दी जाय। इस विभाग में विमर्श के लिये पुस्तकालय के हस्तलिखित

विभाग की समस्त पुस्तकें तथा अँगरेजी और अन्य भाषाओं के आकर ग्रंथ भी रखे जायँगे।

भारत-कलाभवन तथा आर्यभाषा-पुस्तकालय

सभा कलाभवन के मूर्तिमंदिर की छत पर एक बड़ा कमरा राजघाट से प्राप्त वस्तुओं के संग्रह के लिये बनवा रही है जो शीघ्र ही बनकर तैयार हो जायगा।

गत वर्ष राजघाट की खोदाई में गहड़वार महाराज गोविंदचंद्रदेव का कार्तिक पूर्णिमा संवत् ११९७ का, बड़े आकार के दो पत्रों का, एक ताम्र-शासन प्राप्त हुआ था, जो परीक्षा के लिये सरकारी पुरातत्त्व विभाग में दिल्ली चला गया था। अब भारतीय पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष ने अपने विशेष प्रतिनिधि द्वारा उसे भारत-कलाभवन में भेज देने की कृपा की है।

पुस्तकालय की वार्षिक जाँच श्रीयुत रामस्वरूप एम० ए०, बी० टी० द्वारा की गई। उन्होंने कृपा कर छपने के पूर्व पुस्तकालय की सूची की भी जाँच करना स्वीकार किया है।

इस वर्ष गर्मी की छुट्टियों में काशी हिंदू विश्वविद्यालय की ओर से पुस्तकाध्यक्ष के कार्य की शिक्षा देने का प्रबंध किया गया था। सभा ने अपने पुस्तकाध्यक्ष पं० शंभुनारायण चौबे बी० ए०, एल्-एल० बी० को अपने व्यय से वहाँ शिक्षा के लिये भेजा था और अब वे शिक्षा समाप्त कर पुनः सभा में पुस्तकाध्यक्ष का कार्य कर रहे हैं।

प्रकाशन

संक्षिप्त शब्दसागर का वर्त्तमान संस्करण समाप्त हो गया है। उसके संशोधन का कार्य समाप्त होने में अभी विलंब है अतः उसका प्रतिमुद्रण हो रहा है। कागज का मूल्य बहुत बढ़ जाने के कारण उसके आकार में इस बार परिवर्त्तन कर दिया गया है। सूरसागर की आठवीं संख्या का छपना आरंभ हो गया है। श्री सतीशचंद्र काला लिखित मोहें जो दड़ो तथा श्री राय कृष्णदास और पं० पद्मनारायण आचार्य संपादित "नई

कहानियाँ" प्रकाशित हो गई हैं। तुलसीग्रंथावली का फिर से संपादन करने के लिये निम्नलिखित सज्जनों का एक संपादक-मंडल बना दिया गया है—

पं० केशवप्रसाद मिश्र
पं० लल्लीप्रसाद पांडेय
पं० शंभुनारायण चौबे
बाबू भगवानदास हालना
पं० पद्मनारायण आचार्य
पं० ठाकुरप्रसाद शर्मा

स्थायी कोश

१३०००) के स्टाक सर्टिफिकेट ट्रेजरर चैरिटेबल एंडाउमेंट्स, युक्तप्रांत के पास
२०००) " " " सभा में
६५५।=) जमा बनारस बंक में
६२४-)४ पोस्ट आफिस सेविंग बंक में
५२॥≡)२ इलाहाबाद बंक में
१६३३२।=)॥

हिंदी (मासिक पत्रिका)

सभा के तत्त्वावधान में जो 'हिंदी' नाम की मासिक पत्रिका निकलती है उसका वार्षिक मूल्य प्रचार की दृष्टि से केवल ॥) रखा गया है। फिर भी खेद है कि अभी तक उसके केवल १८५७ ग्राहक बने हैं। हिंदी-प्रेमियों से अनुरोध है कि वे अधिक से अधिक संख्या में इस पत्रिका के ग्राहक बनें और बनाएँ जिससे हिंदी का संदेश शीघ्र से शीघ्र देश के कोने-कोने और घर-घर में पहुँच सके।

१ ज्येष्ठ से ३१ श्रावण १९९८ तक सभा में २५) या अधिक दान देनेवाले सज्जनों की नामावली

प्राप्ति-तिथि	दाता का नाम	धन	प्रयोजन
२६ ज्येष्ठ ९८	श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला, कलकत्ता	५००)	२५०) नागरी-प्रचार १००) स्थायी कोष १००) पुस्तकालय ५०) कलाभवन
२६ ज्येष्ठ "	श्री कृष्णकुमार बिड़ला, कलकत्ता	१००)	स्थायी कोष
" " "	" "	१००)	पुस्तकालय
९ आषाढ़ "	श्री आनरेब्ल राजा युवराजदत्त सिंह साहब, एम० सी० एस० ऑव् ओयल ऐंड कैमरा इस्टेट जि० खीरी (अवध)	१००)	स्थायी कोष
१० आषाढ़ "	श्री प्यारेलाल गर्ग—गोरखपुर	१००)	डा० महेंदुलालगर्ग वि० ग्रं०
२३ आषाढ़ "	श्री रायबहादुर बाबू सूर्यप्रसाद, एडवोकेट, काशी	१००)	स्थायी कोष
२४ "	श्री बाबू जगन्नाथप्रसाद, एम० ए०, एल्-एल० बी०, देवरिया, गोरखपुर	१००)	"
२८ "	श्री हरिश्चंद्र, आई० सी० एस०, लखनऊ	१००)	"
३२ " ३ श्रावण "	स्वर्गीय श्री पं० जगन्नाथप्रसाद पँचभैया, काशी	१५०)	कलाभवन
३२ आषाढ़ "	श्री सेठ रामेश्वरलाल गनेरीवाला कलकत्ता	५०)	"

प्राप्ति-तिथि	दाता का नाम	धन	प्रयोजन
३२ आषाढ़ ९८	श्री आयुर्वेदाचार्य पं० जगन्नाथ शर्मा वाजपेयी, एम० ए०, काशी	१००)	स्थायी कोष
२ श्रावण "	श्री प्राणाचार्य कविराज प्रताप सिंह, काशी	१००)	"
२ "	श्री सेठ जुगुलकिशोर बिड़ला कलकत्ता	१००)	"
" "	"	४००)	अर्द्धशताब्दी प्रकाशन
५ "	श्री भगवतीप्रसाद सिंह, एम० ए०, जौनपुर	१००)	स्थायी कोष
५ "	श्री सुंदरीप्रसाद रईस, जौनपुर	१००)	"
८ "	श्रीमान् रायबहादुर राजा ब्रजनारायणसिंह, पड़रौना राज्य, गोरखपुर	१००)	स्थायीकोष
		४००)	अर्द्धशताब्दी प्रकाशन
९ "	श्री महाराजकुमार शंकरीप्रसादसिंह देव, पंचकोट, मानभूम	१००)	स्थायी कोष
१० "	म्युनिसिपल बोर्ड, बनारस	२००)	कलाभवन
२३ "	श्रीमंत्री, साहित्यसदन, अबोहर (पंजाब)	५१)	नागरीप्रचार

टि०—जिन सज्जनों के चंदे किस्त से आते हैं, उनके नाम पूरी रकम प्राप्त हो जाने पर प्रकाशित किए जायँगे।

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा की अर्द्धशताब्दी

उक्त सभा की अर्द्धशताब्दी संवत् २००० वि० में मनाई जायगी। अर्द्धशताब्दी-उत्सव के अवसर पर सभा की जो विस्तृत रिपोर्ट प्रकाशित की जायगी उसकी वर्तमान रूप-रेखा तैयार कर ली गई है। सभा के सभासदों और अन्य हिंदी-प्रेमियों से प्रार्थना है कि वे इस पर अपनी सम्मति सभा के पास भेजें, जिससे रिपोर्ट को सर्वांगपूर्ण बनाने में सभा को सहायता मिले और अर्द्धशताब्दी उत्सव भी सफलतापूर्वक संपन्न हो।

समर्थ हिंदी-प्रेमियों से प्रार्थना है कि वे अर्द्धशताब्दी संबंधी प्रकाशन के लिये सभा को कम से कम ५०० रु० की सहायता दें और धन के साथ अपना चित्र भी भेजने की कृपा करें। कम से कम ५०० रु० देनेवाले सज्जनों के चित्र अर्द्धशताब्दी रिपोर्ट में प्रकाशित किए जायँगे।

रिपोर्ट की रूपरेखा

१—अर्द्धशताब्दी की रिपोर्ट एक आकार की चार जिल्दों में होगी।

२—दूसरी, तीसरी और चौथी जिल्दों में क्रमशः हस्तलिखित पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, पुस्तकालय की सूची और कलाभवन की पूरी सूची रहेगी।

३—पहली जिल्द में आवश्यक परिशिष्टों सहित—

(क) सभा का ५० वर्षों का कार्य-विवरण रहेगा।

(ख) सभा के जन्म के पूर्व की स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए ५० वर्षों की हिंदी की प्रगति का वर्णन होगा और भिन्न भिन्न प्रांतों में, विशेष कर अहिंदी प्रांतों में, हिंदी-प्रचार और साहित्योन्नति का विशेष रूप से उल्लेख होगा। साहित्य की उन्नति में विशिष्ट कवियों और अन्य सुलेखकों के संक्षिप्त वर्णन के साथ यह भी दिखलाया जायगा कि हिंदी-साहित्य के काव्य (ग्रामगीत भी), नाटक, उपन्यास आदि भिन्न भिन्न अंगों तथा इतिहास, विज्ञान आदि अनेक विषयों की कैसी प्रगति रही तथा उन पर कौन सी मुख्य मुख्य पुस्तकें और पत्रिकाएँ निकलीं। हिंदी की प्रगति में विघ्न-बाधाओं और उनके निराकरण के जो प्रयत्न हुए उनका भी वर्णन होगा।

(ग) निम्नलिखित व्यक्तियों के चित्र भी रहेंगे—

१. कालक्रम से सभा के संरक्षकों, संस्थापकों, सभापतियों, उपसभापतियों, अवैतनिक और वैतनिक मंत्रियों तथा पत्रिका के संपादकों के साथ में उनका संक्षिप्त जीवन-परिचय, उनका साहित्यिक कार्य तथा उनके द्वारा सभा की विशेष सेवाओं का भी उल्लेख रहेगा।

२. सभाभवन का चित्र।

३. अर्द्धशताब्दी के आयोजन के लिये जो सज्जन ५०० रु० या अधिक सहायता देंगे उनके चित्र।

४. पदक और पुरस्कार-दाताओं तथा अन्य विशिष्ट दाताओं के चित्र।

(घ) पहली जिल्द के परिशिष्टों में निम्नलिखित बातें होंगी,

१. १०० रु० या अधिक दान देनेवाले सज्जनों की नाम-सूची।

२. सभा के समस्त प्राप्य और अप्राप्य प्रकाशनों की कालक्रम और मालाक्रम से सूची।

३. कालक्रम से सभा के विशेष कार्यों और घटनाओं की सूची।

४. प्रांतक्रम से हिंदी संस्थाओं की सूची।

५. कालक्रम से सभा के पहले वर्ष और पचासवें वर्ष के सभासदों की सूची।

६. निधियों की सूची।

७. ५० वर्षों का सभा का आयव्यय।

(ङ) इस रिपोर्ट में समालोचना न की जायगी।

४—कवियों और लेखकों का विवरण प्राप्त करने के लिये प्रांतवार लेखकों से पत्रव्यवहार किया जाय।

सभा का यह भी विचार है कि अर्द्धशताब्दी उत्सव के अवसर पर महाराज विक्रमादित्य की द्विसहस्राब्दी मनाई जाय और नागरीप्रचारिणी पत्रिका के उस अवसर पर प्रकाशित होनेवाले अंक में द्विसहस्राब्दी के महत्त्व तथा महाराज विक्रमादित्य के संबंध में शोधपूर्वक लिखे गए विद्वत्तापूर्ण लेख निकाले जायँ। विशाल भारतीय राष्ट्र के लिये यह अपूर्व महोत्सव होगा। इसलिये आशा है, इसमें देश के समस्त विद्वानों और श्रीमानों का सहयोग प्राप्त होगा।

प्रधान मंत्री

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ४६--अंक ३ [नवीन संस्करण] कार्त्तिक १९९८

वीरगाथा-काल का जैन भाषा-साहित्य

[लेखक—श्री अगरचंद नाहटा]

हिंदी-साहित्य के इतिहासकारों ने सं० १०५० से १४०० तक के साहित्य के काल को वीरगाथा-काल के नाम से संबोधित किया है; पर वास्तव में उस समय की कही जानेवाली एक भी रचना में उस समय की भाषा सुरक्षित नहीं है। अतः भाषा के क्रमिक विकास के अध्ययन की दृष्टि से वे ग्रंथ सर्वथा अनुपयोगी हैं। अतएव ऐसे साहित्य की खोज नितांत आवश्यक है जो उस समय की भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिये उपयोगी हो अर्थात् जिस साहित्य के द्वारा हम भाषा के क्रमिक विकास का भली भाँति पता लगा सकें। मेरे बिचार से इस कार्य के लिये उस समय के जैन साहित्य का अध्ययन ही नितांत आवश्यक एवं उपयोगी है; क्योंकि तत्कालीन जैन रचनाएँ प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं एवं उनकी प्राचीन प्रतियाँ भी उपलब्ध हैं। अतः उनमें भाषा भी मूल रूप में सुरक्षित पाई जाती है। इस लेख में अद्यावधि ज्ञात तत्कालीन जैन रचनाओं का संक्षिप्त

परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है, हिंदी-साहित्यसेवी विद्वद्गण उनका विशेष अध्ययन करके वीरगाथा-काल की भाषा के वास्तविक स्वरूप पर समुचित विचार करेंगे।

ग्यारहवीं शताब्दी*

१—धनपाल—धारा के राजा भोज के सभापंडित, सत्यपुरीय महावीर उत्साह, रचना संवत् लगभग १०८१, गा० १५—

आदि :—जिणव जेण दुट्ठट्ठ कम्म बलवंता मोडिय।
चउकसाय पसरंत जेण उम्मूल वितोडिय॥
तिहुयण जगडण मयण सरंलितणु जासु न भिज्जइ।
इयर नरहि सच्चउरि वीरु, सो किम जगडिज्जइ॥ १॥

× × × ×

अंत :—रक्खि सामि पसरंतु मोहु नेहुंडुय तोडहि।
सम्मदंसणि नाणु चरणु भडु कोहु विहाडहि॥
करि पसाउ सच्चउरि वीरु जइ तुह मणि भावइ।
तइ तुट्टइ धणपालु जाउ जहि गयउ न आवइ॥ १५॥

(प्र० जैन साहित्य संशोधक, खं० ३, अं० ३)

बारहवीं शताब्दी

१—जिनवल्लभसूरि—खरतरगच्छ अभयदेवसूरिपट्टधर, सं० ११६७, नवकार फल-माहात्म्य, गा० १३ षट्पद छंद—

आदि :—किं कप्पतरु रे अयाण चिंतहि मन भित्तरि।
किं चिंतामणि कामधेनु आराहहि बहु परि॥
चित्रावेलिहि काजु किसउ, देसंतरु लंघइ।
रमणि रासि कारणह किसउ सायर उल्लंघइ॥
चउदह पूरव सारु जगे लद्धु एहु नवकारु।
सयल काज महियलि सरहिं दुत्तरि तरि संसारु॥ १॥

(हमारे प्र० अभयरत्नसार आदि ग्रंथों में प्रकाशित)

---

* श्वे० जैन विद्वानों के समग्र भाषा-साहित्य के लिये जैन गुर्जर कविओ, भा० १-२-३ देखने चाहिएँ।

२—पल्ह—खरतर जिनदत्तसूरि-भक्त सं० ११७०, जिन-दत्तसूरिस्तुति, गा० १० षट्पद छंद—

आदि:—जिण दिट्ठइं आणंदु चडइ, ऊइ रहसु चउग्गुणु।
जिण दिट्ठइं झड हडइ पाउतणु निम्मल हुइ पुणु॥
जिण दिट्ठइ सुहु होइ, कट्ठु पुव्वुकिउ नासइ।
जिण दिट्ठइ हुइ सुइ धम्ममइ, ऊबुहहु काइ उट्टखहु॥
पहु नव फणि मंडिउ पास जिणु, अजयमोरि किन पिक्खहु॥ १॥

(सं० ११७०-७१ लि० प्रति के आधार से हमारे ऐ० जै० का० सं० में प्रकाशित)

३—वादिदेवसूरि—मुनिचंद्रसूरि-शि०, सं० ११८४, आचार्यपद मुनिचंद्र गुरुस्तुति, गा० २५—

आदि:—नाणु चरणु संमतु जसु रयणत्तउ सुपहाणु।
जयओ सुमुणिसुरि इत्थुजगि मोडिअ मम्मह खाणु॥
उवसम रयण समुद्द समु विहलिय जामहाऽऽसारु (साहारु ?)।
वंदओ मुणिसूरि भवियजण जिम छुंदउ संसार। २॥
(गुजराती अनुवाद सह प्र० जैनश्वे-कौ० हेरल्ड पु० १३ अं० ९)

तेरहवीं शताब्दी

१—शालिभद्रसूरि—राजगच्छीय वज्रसेनसूरि-शिष्य, सं० १२४१—

(क) भरतेश्वर बाहुबलिरास, गा० २०५, सं० १२४१ फाल्गुन पंचमी—

आदि:—रिसह जिणेसरपय पणमेवी, सरसति सामिणि मनि समरेवी।
नमवि निरंतर गुरु चरण।
भरह नरिंदह तणउ चरित्तो, जे जगि वसुहींडइ वदीतो।
वार वरसि बिहुं बंधवहं॥ १॥
हउ हिव ए भणिसु रासह छुंदिहिं, तं जणमणहर मण आणंदिहि।
भाविइं भवीयण सांभणउ।
जंबूदीवि उवारा उर नयरो, धणकण कंचण रयणिहिं पवरो।
अवर पवर किहि अमरपुरो॥ २॥

(प्रति—विजयधर्मसूरि भंडार, बड़ौदा सेंट्रल लायब्रेरी, प्र० कांतिविजय, भं० गा० ३४०)

(ख) बुद्धिदास, गा० ५३ (किसी प्रति में ६२ भी है)—

आदि :—पणमवि देवि अंबाइ, पंचाणण गामिणि वरदाइ ।

जिण सासणि सानिध करइ सामिणी, सुरसामिणी तु' सदा सोहागिणी ॥ १ ॥

पणमिय गणहर गोयमसामि दुरिय पणासइ तेहनइ नामि

वर्द्धमान सामीनउ सीस, प्रणम्यां पूरइ सयल जगीस ॥ २ ॥

(प्रति हमारे संग्रह में, सं० १४८३; और भी अनेक प्रतियाँ उपलब्ध हैं)

२—आसगु—शांतिसूरि-शि० श्रावक, जीवदया रासु, गा० ५३, सं० १२५७ आ० शु० ५—

आदि :— दुरि सरसति आसिगु भणइ, नवंउ एसु जीवदया सारु ।

केनु धरिवि निसुणउ जण दुत्तरु जेम तरहु संसारु ॥ १ ॥

(हमारे संग्रह की सं० १४९३ लिखित प्रति में)

३—नेमिचंद्र भंडारी—खरतर जिनेश्वरसूरि के पिता,

जिनवल्लभसूरि गुणवर्णन, गा० ३५, सं० १२५६ के लगभग—

आदि :—पणमवि सामि वीर जिणु, गणहर गोयम सामि ।

सुधरम सामिय तुलनि सरणु, जुग प्रधान सिवगामि ॥ १ ॥

तित्थुद्धरणु स मुणिरयण, जुगप्रधानु क्रमि पत्तु ।

जिणवल्लह सूरि जुगपवर जसु निम्मलउ चरित्तु ॥ २ ॥

(हमारे संपादित ऐ० जै० का० संग्रह के पृ० ३६९ से ७२ में प्रका०)

४—धर्म—महेंद्रसूरि-शिष्य—

(क) जंबूस्वामीचरित सं० १२६६, गा० ५२ (किसी प्रति में ४१ भी है)—

आदि :—जिण चउवीसइ पयनमेवि गुरुचलण नमेवी ।

जंबु सामिहिं तणउ चरिय भविउ' निसुणेवि ।

करि सानिध सरसतीदेवि जिम रयं कहाणउ ।

जंबू सामिहिं गुण गहण संखेवि वखाणउ ॥ १ ॥

(प्रति—बीकानेर बृहद् ज्ञानभंडार, १५वीं के पूर्वार्द्ध में लि०)

(ख) स्थूलिभद्ररास, गा० ४७—

आदि :—पणमवि सासणदेवी अनइं वाएसरी,

थूलिभद्र गुणगहण, सुणि सुणिव रहज्जु केसरि ॥ १ ॥

(प्रति हमारे संग्रह में)

(ग) सुभद्रासती चतुष्पदिका, गा० ४२—

आदि :—जं फलु होइ गया गिरणारे, जं फलु दीन्हइ सोना भारे ।

जं फलु लक्खि नवकारिहि गुणिहिं तं फल सुभद्राचरितिहि सुणिहिं ॥ १ ॥

(प्रति हमारे संग्रह में)

५—विजयसेनसूरि—नागेंद्रगच्छीय हरिभद्रसूरि-शि० मंत्रीश्वर वस्तुपाल के धर्माचार्य रेवंतगिरिरासो, गा० ७२, सं० १२८८ के लगभग—

आदि :—परमेसर तित्थेसरह, पय पंकय पणमेवि ।

भणिसु रासु रेवंतगिरे, अंबिक देवी सुमरेवि ।

गामागर पुर वण गहण सरिसरवरि सुपएसु ॥

देवभूमि दिसि पच्छिमह मणहरु सोरठ देसु ॥२॥

(बड़ौदा-गायकवाड़ ओ०सीरीज से प्र० प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह में)

६—राम (?)—आबूरास, गा० ५४ सं० १२८९ वसंत—

आदि :—पणमेविणु सामिणि वाएसरी अभिनयु कवितु रयं परमेसरि ।

नंदीवरधनु जासु निवासो, पभणउ नेमि जिणंदह रासो ।

× × × ×

अंत :—बार संवछरि नवमासीए वसंत मासु रंभाउलु दीहे ।

एह रासु विसतरिहिं जाए राखइ सयल संघ अंबाए ॥ ५४ ॥

(हमारे संपादित राजस्थानी त्रैमासिक वर्ष ३ अं० १ में प्रका०)

७-८—शाहरयण एवं भत्तउ—खरतर जिनपतिसूरिभक्त

(क) (ख) जिनपतिसूरि धवलगीत, गा० २०, सं० १२७८ के लगभग रचित—

आदि :—वीरजिणेसर नमइ सुरेसर तसपह पणमिय पय कमले ।

युगवर जिनपति सूरि गुण गाइ सो भत्ति भर हरसि हिमनिरमले ॥ १ ॥

(हमारे संपादित ऐ० जै० का० सं० में प्रकाशित, दोनों रचनाएँ प्रायः एक समान हैं ।)

चौदहवीं शताब्दी

१—जिनेश्वर सूरि—खरतर जिनपतिसूरि-शि० (सं० १२७८ और सं० १३३१ के मध्य में रचित), बावरी गा० ३०—

आदि:—भगति करवि बहु रिसह जिण, वीरह चलण नमेवि।
हउं चालिउ मणि भाव धरि, दुइणि जिणमणि समरेवि ॥ १ ॥

× × × ×

अंत:—गावि नयरि पुरि जिण, भ्रमणि, जे बावरि पभणंति।
वयणि जिणेसरसूरि गुरु ते सिव सुहु पावंति ॥ ३ ॥

(हमारे संग्रह की सं० १४९३ लिखित प्रति में)

२—अभयतिलक—ख० जिनेश्वरसूरिशिष्य, महावीररास, गा० २१, सं० १३०७ वै० सु० १०—

आदि:—पासनाह जिणदत्त गुरो अनु, पाय पउम पणमेवि।
पभणिसु वीरह रासु लउ उतु, संभलहु भविय मिलेवि ॥ १ ॥

× × × ×

अंत:—अभयतिलक गणि पासि, खेलहि मिलवि करावि उ।
इय नियमणि उल्हासि, रासुलउ भवियण दियहुँ ॥ २१ ॥

(हमारे संग्रह की सं० १४९३ में लिखित प्रति में, गुजराती छाया सह जैनयुग पु० २ पृ० १४७ में प्र०)

३—लक्ष्मीतिलक—शांतिनाथदेवरास, गा० ६०—

आदि:—शांतिजिणेसर चरणकमलु।

(प्रति हमारे संग्रह में सं० १४८३ लिखित)

४—सोममूर्त्ति—जिनेश्वरसूरि संयम श्री विवाह वर्णनरास, गा० ३३—

आदि:—चिंतामणि मण चिंतियत्थे, सुहियइ धरेविणु पास जिणु।
जुगपवर जिणेसर मुणिराउ, थुणिसुं हउं भति आपणउ गुरु ॥ १ ॥

(हमारे संपादित ऐ० जै० का० सं० पृ० ३७७ में प्रकाशित)

५—विनयचंद्रसूरि—रत्नसिंहसूरि-शि०—

(क) नेमिनाथचतुष्पदिका, गा० ४०, सं० १३२५ के लगभग—

आदि:—सोहगसुंदर घण लावन्नु, सुमरवि सामिउ सामलवन्नु।

राखिपति राजल चडि उत्तरिय, बार मास सुणि जिमा वज्जरिय ॥ १ ॥
नेमि कुमरु सुमरवि गिरनारि, सिद्धी राजल कन्नकुमारि ॥आ०॥

(ख) उपदेशमाला कथानक छप्पय गा० ८१ षट्पद छंद (रत्नसिंह-सूरिशि० कृत, विनयचंद्र नाम अनिश्चित)

आदि :—विजय नरिंद जिणिंद वीर हत्थिहिं वयलेविणु ।
धम्मदास गणि नामि गामि नयरिहिं विहाइ पणु ॥

(प्र० प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह)

(ग) बारव्रत रास, सं० १३३८, गा० ५३, प्र० जैनयुग पु० ५ पृ० ४४०—

(घ) नेमिनाथ चतुष्पदिका (सं० १३५३ लि० प्रति) प्र० जैन श्वे० का० हेरल्ड पु० ९ अंक ८-९ ।

(ङ) आनंदसंधि गा० १७५—

अंत :—सिरि रयणसिंह सूरि गुरुवएसि, सिरि विणयचंद तसु सीसलेसि ।
उज्झयणु पढमु एह सत्तमगि, उद्धरिउ संधिबंधेण रंगि ॥१७४॥

६—नाम अज्ञात—सप्तक्षेत्र रासु, गा० ११९, सं० १३२७ माह सुदि १० गु०—

आदि :—सवि अरिहंत नमेवि सिद्धसूरि उवझाय ।
पनर कर्मभूमि साहू तीह पणमिय पाय ॥

× × × ×

अंत :—संवत् तेर सतावीसइ माह मसवाडइ,
गुरुवारि आवीय दसमि पहिलइ पखवाडइ ।
तहि पुरु हुउ रासु सिवसुख निहाणू,
जिण चउवीसइ भवियणइ करिसिइ कल्याणू ॥ ११८ ॥

(प्र० प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह)

७—जगडु—खरतर जिनेश्वरसूरिभक्त सम्यक्त्व माई चौपइ सं० १३३१ पूर्व—

आदि :—भणे भणउं माई धुरि जोइ, धम्मइ मूलु जु समकित होइ ।
समकित विणु जे क्रिया करेइ, तातइ लोहि नीरु घालेइ ॥ १ ॥

(प्र० गुर्जर काव्यसंग्रह)

८—अज्ञात—स्तंभतीर्थ अजित शांतिस्तवन, गा० २५, सं० १३४१ के

अंत :—जो नयरि पल्हणपुरि जिणेसर हत्थिकमलि पयट्ठिउ ।
विक्कमा तेरह इगुणसीसइ क्खयदेव अहिट्ठिउ ॥

ति तीस भूरि गुरुवएसेहिं खंभ नयरि समाणिउ।

इकताल वच्छरि देव मंदिरि, देव सुविहि संघि निवेसिउ ॥ २ ॥

(हमारे संग्रह की सं० १५१६ में लिखित प्रति में)

६—पद्म—

(क) शालिभद्रकक्क, सं० १३५८ लि० प्रति बड़ौदा सेंट्रल लायब्रेरी—

आदि :—भलि भंजणु कम्मारिबल वीर नाहु पणमेवि।

पउमु भणइ कक्क खारिण सालिभद्दगुण केइ ॥ १ ॥

(ख) दूहा मातृका, सं० १३५९ लि० उपर्युक्त प्रति—

आदि :—भले भलेविणु जगतगुरु पणयउ जगइपहाणु।

जासु पसाइं मूढ जिय पावइ निम्मलु नाणु ॥ १ ॥

(प्र० प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह)

१०—प्रज्ञातिलक-शि०—कच्छुली रास, गा० सं० १३६३ कोरंटा—

आदि :—गणवइ जे जिम दुरिय विहंडणु, रोस निवारणु तिहुयणु मंडणु।

पणमवि सामीउ पास जिण।

सिरि भद्देसर सूरिहिं वंसो, बीजी साहइ वंनिसु रासो,

धमीय रोलु निवारोउ।

(सं० १४०८ लिखित प्रति, प्र० प्राचीन गुर्जरकाव्य संग्रह)

११—वस्तिगु—वीस विहरमानरास, सं० १३६८ माह सुदि ५ शुक्र—

आदि :—विहरमान तित्थयर पाय कमल नमेविय।

केवल धर दुन्नि कोडि सवि साधु नमेव्विय।

जिण चउवीसइ पाय नमेसु, गुरुयां सहिगुरु भत्ति करेसु।

समरिय सामिणि सारद देवि पढिसिउ जिण वीसइ संखेवि ॥ १ ॥

(प्र० जैनयुग पु० ५ पृ० ४३८)

१२—गुणाकर सूरि—श्रावकविधि रास, सं० १३७१ (६४ ?)—

आदि:—पाय पउम पणमेवि चउवीसवि तित्थंकरह।

श्रावकविधि संखेवि भणइ गुणाकर सूरि गुरो ॥ १ ॥

जिहि जिणमंदिर सार, अनर तपोधन पामियण।

श्रावक जन सुविचार, घणुं तृणु इंधण जलप्रघट्यो ॥ २ ॥

(प्र० आत्मानंद शताब्दी स्मारक ग्रंथ, प्रति हमारे संग्रह में,सं० ३०८८)

१३—अंबदेवसूरि—समरा रासो, सं० १३७१ के आस पास—

आदि :—पहिलउ पणमिउ देव आदिसरु सेतुजसिहरे।
अनु अरिहंत सव्वेवि, अराहउ बहु भत्तिभरे ॥ १ ॥
तउ सरसति सुमरेवि, सारयसहर निम्मलीय।
जसु पयकमल पसाय, मूरखु माणइ मन रलिय ॥ २ ॥

(प्र० प्राचीन जैन गुर्जर काव्यसंग्रह)

१४—धर्मकलश—जिनकुशलसूरिपट्टाभिषेक रास, सं० १३७७ स—

आदि :—सयल कुशल कल्लाणवल्ली घण संति जिणेसरु।
पणमेविणु जिनचंद्र सूरि, गोयमसमु गणहरु।
नाणमहोयहि गुण निहाण गुरु गुणगाएसु।
पाट ठवण जिनकुशलसूरि वर रासु भणेसु ॥ १ ॥

(प्र० हमारे संपादित ऐतिहासिक जैन काव्यसंग्रह में पृ० १५)

१५—सारमूर्त्ति—जिनपद्मसूरिपट्टाभिषेक रास, सं० १३९० के लगभग—

आदि :—सुरतरु रिसह जिणंद पाय अनुसर सुय देवी
सुगुरुराय जिणचंद सूरि गुरुचरण नमेवी ॥
अमिय सरिसु जिणपद्म सूरि पभवणइ रासू।
सवणंजलि तुम्हि पियउ भविय लहु सिद्धिहि तासू ॥ १ ॥

(प्र०-ऐ० जै० का० सं०)

१६—जिनप्रभ सूरि— खरतर जिनसिंहसूरि-शिष्य, पद्मावतीदेवी चौपइ—

आदि :—श्री जिन शासणु अवधाकरि, झायहु सिरि पउमावइ देवि।
भविय लोय आणंदपरि, दुल्हउ सावयजम्म लहेवि ॥

(प्र०—भैरपदमावती काव्य में)

उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त और भी अनेक फुटकर रचनाएँ उस समय की उपलब्ध हैं। यहाँ तो केवल सहज ज्ञात कतिपय कृतियों का उदाहरणार्थ निर्देश किया गया है।

प्राचीन हिंदी भाषा के गद्य का उदाहरण एक भी उपलब्ध नहीं है। १४वीं शताब्दी के लिखे कई जैन ग्रंथ उपलब्ध हैं, जिनमें गद्य की भी रचनाएँ पाई जाती हैं। अतः नीचे १४वीं शताब्दी की जैन-गद्य-रचनाओं के उदाहरण दिए जाते हैं—

१—प्रथमां चानवा गूजरी नायका भणइ—

अहे बाई एहु तुम्हारा देसु कवण लेखा माहि गणियइ। किसउ देसु गुजरातु, सांभलि माहरी बात। एउ जु लाधउ माणुसओ जमारओ आलि मात्रि काइ हारउ, ए जि सम्यक्त्व मूल बारह व्रत पालियहि। किसा किसा बारह व्रत। × × × ए दशा बारह व्रत पालयहिं। आशातना टालियहिं। पूजिय श्री आदिनाथ देवता। पापु नासइ शत्रुंजय सेवता।

अनी किसउ घणउं भणियइ माहरी माइ एहु देसु गुजराति छाडी करि अनइ अनेरइ देशि किसी परि मनु जाइ। जिणि देशि मादल तणा धोंकार १ तिविल तणा दोंकार २ वंश तणा पौंकार ३ नृत्य तणा समाचार ४ ताल तालकार ५ आवजी ६ परवावजी ७ पटावजी ८ खंधावजी ९ भूगलिया १० करडि ११ झल्लरि १२ पडह १३ समेतु १४ पंचसबदु वाइयइ। गूजरी गीतु गाइयइ। लास्यु तांडवु नाचियइ। मृदंगु वाइयइ। हे हैंदहै। बाई किशी परि वाइयइ।

२—जब मालवा देश की बावली बोलण लागी, तब अवर देश की परिभागी। दिक्खु रे मेरी वहिणी फुणि फुणि मेरा देसु, काइउ वक्खाणहि। मेरा देश की बात न जाणहि। जिणि देशि मंडवगढ केरा ठाउ, जयसिंघ देव राउ। मसूर का थान। अवर देश का काइउ मानु। काटा सूतु अरु तुट्टणा। केरा साडा अरु भूणा। ठाली अरु बाजणी पेटिली अरु नाचणी। दिक्खु रे मेरी वहिणी। बलि बलि काइउ बिललाइ। तोरा बोल्या सहु वाइयइ। मालव देश की परिनीकी सिरि की टीकी। सेत चीर का साड़ा। पूजियइ आदिनाथ युग राज। दिहेबाइ कवणि परि पूजियइ।

३—अथ पूर्वी नायिका का बोल्या सुणहुगे रे भइया। इथु जुगि जाणिवउ धीरे, दिखु रे मोरी बहिनी फुनि फुनि मोर देसु कितबु खर ति आहि। मोरे देस की बात न जानसि, जेहि देस ऐसे मानुस कैसे—इक्कु धीरे बीरे विवेकिए। परम दाप के मोडन मराट मल्ल, तुम्ह कतुके जान, कतुके परान,

ववा की आन ! अम्हां तुम्हां बड़ा अंतरु आहि । कइसु अंतरु, तुम्ह के मानुस तरि मोटे, ऊपरि मोटे विचि छोटे । अत अम्ह के मानुस-तरि नान्हे ऊपरि नान्हे विचि पूतु कर सु साटविउ आहि । अइस दीसतु हइ, जइसा पूनम का चांदु । अधकोदव के चावर खाइयहि । गीतु गाइयइ । सुठि नीके वानिए वसहिं । कइसे वानिए, आचक्खचा ।

४—मरहठी—तरि ह्याया जनमु आवागमणु कवणा गति न होइ रे वप्पा । तरि भविक जनत्तं पुच्छिसि भई अनिक देस देशांतर चातुर्दिशा मागुं मया देखुणी । अपूर्वु सर्व तीर्थांचा भेदु गीत राचु गीतल्लास कट समस्त गूमटा । तरिया इकि नहीं सागिन पुरी सत्तरि सहस्र गुजराताचा भीतरि गिरि सेतुज्जं चा ऊपरि । श्री ऋषभनाथाचा, रंगमंडपि अनिक गीत ताल एकाग्र चित्तु कारुणी । निजकरकमलचा द्रव्य उपार्जनी । परमेसर वीतरागाचा भवनिवेचनी । तः पुनरपि जनमुनिवारिणे अहं एवमेव सत्यं अतात्यंची आण ।

(प्र० 'राजस्थानी' वर्ष ३ अं० ३)

चारों प्रांतीय भाषाओं के ये प्राचीन उदाहरण बहुत सुंदर एवं महत्त्व के हैं । चारों भाषाओं के क्रमिक विकास एवं तारतम्य जानने के लिये ये अत्यंत उपयोगी हैं । इनसे हिंदी भाषा का विकास पूर्वी भाषा से हुआ जान पड़ता है ।

५—सं० १३३० में लिखित एक ताड़पत्रीय प्रति से—

अठार पापस्थान त्रिविधिहि मनि वचनि काइ करणि करावणि अनुमति परिहरउ अतीतु निंदउ वर्तमानु संवरहु अनागतु पंच्चखउ । पंच परमेष्ठि नमस्कारु जिनशासन सारु, चतुर्दश पूर्व समुद्धारु, संपादित सकलकल्याणसंभारु, विहित दुरितापहारु, क्षुद्रोपद्रव पर्वत वज्र प्रहारु, लीला दलित संसारु सुतुम्हि अनुसरहु जिमि कारणि चतुर्दश पूर्वधर चतुर्दश पूर्व संबिधिउ ध्यान परित्यजिउ पंच परमेष्ठि नमस्कारु स्मरहि तउ तुम्हि विशेषि स्मरेवउ अनइ परमेश्वरि तीर्थंकर देविइ सउ अर्थु भणियउ अच्छइ, अनइं संसारतणउ प्रतिमउ मकरिसउ, अनइकरि नमस्कार इहलोक परलोकि संपादियइ ।

६—सं० १३३९ में रचित संग्रामसिंह के बालशिक्षा ग्रंथ के शब्द एवं क्रिया प्रकरण से—

कीजई, करई, करिजे, करि, कीजइ कीधइं करिसि, कीधु, करत करिसिई, करतउ, करिया, करिबा (कृत्प्रत्यय से), मिम, तिम, जहियं तहियं, जीहां, तिहां, इहां, किसउ, तिसउ, ताहरु, तुम्हारं, केतलु, तेतलु, भेटइ, वीरवइ, सेवइ, विचारइ, विणसई।

७—सं० १३५८ में लिखित एक प्रति से—

माहरउ नमस्कारु अरिहंत हुउ, किसाजि अरिंहत रागद्वेष रूपि आ अरि वयरी जेहि हणिया अथवा चतुषष्टि इंद्र संबंधिनी पूजा महिमा अरिहइ × × × तीह मंगलीक सर्व माहिं प्रथमु मंगलु एहु ईण कारणि शुभकार्य आदि पहिलउं सुमेरवउ, जिवति कार्य एह तणइ प्रभावइ वृद्धिमंता हुयइ × सुतुम्हे विसेष हइ हिवडा तणइ प्रश्नादि अर्थयुक्तु ध्येयु, ध्यातव्यु, गुणेवउ, पठेवउ।

८—सं १३६९ में लिखित एक ताड़पत्रीय प्रति से—

हिं० दु कृत गरिहा करउ। जु अणादि संसार माहि हींडतइ एतह ईणि जीवि मिथ्यात्व प्रवर्त्ताविउ। कुतिथुं संस्थापिउ, कुमार्ग प्ररूपिउ × × देवस्थानि द्रविवेवि पूजा महिमा कीधी, तीर्थयात्रा रथजात्रा कीधी पुस्तक लिखाधां × अनेराइं धर्मानुष्ठान तणइ घिरजु ऊजमु कीधु सु अम्हारउ सफलु हुओ इति भावनापूर्वक अनुम्मोदउ।

उपर्युक्त सभी अवतरण मुनि जिनविजय जी संपादित प्राचीन गुजराती गद्यसंदर्भ से लिए गए हैं। सुललित गद्यग्रंथों की रचना सं० १४११ में खरतरगच्छीय तरुणप्रभसूरिजी के 'षडावश्यक काणावाबोध' से प्रारंभ होती है। उसके बाद जैन विद्वानों ने सैकड़ों ग्रंथों के अनुवाद एवं टीकाएँ की हैं। अतः जैन भाषा-ग्रंथों से सब समय के उदाहरण मिल सकते हैं।

सुर्जनचरित महाकाव्य

[लेखक—श्री दशरथ शर्मा]

पृथ्वीराज रासो की ऐतिहासिकता और प्राचीनता का विचार करते हुए मैं 'इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली'[1] और 'राजस्थानी'[2] पत्रिका में इस संस्कृत महाकाव्य (सुर्जनचरित) का उल्लेख कर चुका हूँ। यह महत्त्वपूर्ण ग्रंथ केवल पृथ्वीराज रासो का आदिम स्वरूप निर्णय करने के लिये ही नहीं, बल्कि चौहानों के प्राचीन इतिहास और मुगलकाल की कुछ घटनाओं के लिये भी अत्यंत उपयोगी है। पुस्तक अभी हस्तलिखित रूप में ही वर्तमान है। गुरुवर श्री गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा की कृपा से मुझे इस पुस्तक को देखने का अवसर मिला है, और उन्हीं की प्रतिलिपि के आधार पर मैं इस पुस्तक का सारांश और विषय-विश्लेषण पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर रहा हूँ। महाकाव्य के नायक इतिहास-प्रसिद्ध श्री हम्मीर के वंशज राव सुर्जन हाडा हैं। ये अकबर के समय रणथंभोर के शासक थे। इन्होंने जिस वीरता से इस दुर्ग को हस्तगत कर मुगलों का सामना किया था, वह 'अकबर-नामा' और 'मुंतखब-उत-तवारीख' में भली भाँति वर्णित है। सुर्जन-चरित ने इस विषय पर कुछ अधिक प्रकाश डाला है। महाकाव्य के रचयिता चंद्रशेखर बंगाली थे। उन्होंने राव सुर्जन के अनुरोध से ही ग्रंथ को आरंभ किया था[3]। परंतु इसकी समाप्ति से पूर्व ही सुर्जन का

१—ग्रंथ १६, अंक ४

२—भाग ३, अंक ३

३—गौडीयः किल चन्द्रशेखरकविः, यः प्रेमपात्रं सताम्
अम्बष्ठान्वयमण्डलात्कृतधियो जातो जितामित्रतः ।
निर्बन्धान्नृपसुर्जनस्य नितरां धर्म्मैकतानात्मनो
ग्रन्थोयं निरमायि तेन वसता विश्वेशितुः पत्तने ॥ सर्ग २०, श्लोक ६४ ।

स्वर्गवास हो गया और यह ग्रंथ उनके सुपुत्र भोज के समय समाप्त हुआ। सुर्जन की वदान्यता और विद्वत्प्रियता के लिये पाठकगण टाड राजस्थान को पृष्ठ देखें।

विषय-विश्लेषण और सारांश

सर्ग १ :—

श्लोक १—५ — श्याम, आशापुरा, शाकंभरी, सरस्वती और साधुसमाज को प्रणाम।

,, ६ — कवि द्वारा अहंकारापनयन

,, ७ — सुर्जन की आज्ञा से काव्य का निर्माण

,, ८ — सुर्जन के रहते दुर्जनों से कोई भय नहीं।

,, ९—२० — प्रथम चौहान राजा दीक्षित वासुदेव था। वह वृंदावती पर राज्य करता और अत्यंत प्रतापी था।

,, २१—४४ — वासुदेव के परवर्ती राजाओं की वंशावली इस प्रकार दी गई है :—

वासुदेव
।
नरदेव
।
श्रीचंद्र
।
अजयपाल (इसने अजमेर बसाया)
।
जयराज
।
सामंतसिंह
।
गुव्वक
।
चंदन
।
वप्र
।
विश्वपति

सर्ग २ :—

श्लोक १—११ — अभी अनेक राजा वर्तमान थे जिन पर विश्वपति ने विजय नहीं पाई थी। अतः सांसारिक

सामान्य आनंदों से उसे कुछ सुख नहीं मिलता था। उसके मन में सदा विजय की इच्छा ही वर्तमान रहती।

श्लोक १२—२१ — विश्वपति का बालमित्र एवं गुरुपुत्र सुनय अत्यंत बुद्धिमान्, नीतिज्ञ और सर्वशास्त्रज्ञ था।

,, २२—४२ — राजा और सुनय का वार्तालाप। सुनय का विराग के विरुद्ध उपदेश।

,, ४३—४५ — राजा का उत्तर।

,, ४६—६१ — सुनय द्वारा उद्योग का उपदेश। शाकंभरी की आराधना से सिद्धिकथन।

,, ६२—६३ — भगवती की आराधना के लिये विश्वपति का प्रस्थान।

सर्ग ३ :—

श्लोक १—१० — विश्वपति सुनय सहित शाकंभरी के मंदिर के निकट पहुँचता है।

,, ११—१४ — शाकंभरी के नागरिकों द्वारा विश्वपति का स्वागत।

,, १५—२३ — शाकंभरी का उद्यान।

,, २४—५० — उद्यान और भवानी-भवन का सुनय द्वारा वर्णन।

,, ५१—६७ — राजा द्वारा भगवती की आराधना।

,, ६८—६९ — भगवती का प्रकट होना।

सर्ग ४ :—

श्लोक १—१२ — राजा द्वारा भगवतीस्तवन।

,, १३—२७ — वरदान—घोड़े पर चढ़कर जहाँ तक राजा पीछे नहीं देखे वहाँ तक लवण-समुद्र की उत्पत्ति होगी।

,, २८—३० — मनोरथ पूर्ण होने पर राजा अपनी नगरी गया।

श्लोक ३१—४२ — सुशासन एवं सर्वत्र विजय।
,, ४३ — विश्वपति का पुत्र हरिराज।
,, ४४—४५ — हरिराज को गद्दी और विश्वपति का स्वर्गगमन।
,, ४६—५२ — हरिराज द्वारा दिग्विजय।
,, ५३ — मंडोर के निकट उसने योधपुर का किला बनाया।

सर्ग ५ :—

श्लोक १—११ — हरिराज का पुत्र सिंहराज।
,, १२—१७ — अवंतिनाथ की पुत्री से सिंहराज का विवाह। विवाहोत्तर आनंद।
,, १८—२४ — पुत्रप्राप्ति के लिये व्रतादि। उनकी निष्फलता।
,, २५—३८ — चिंताग्रस्त राजा। भतीजे भीमसिंह को राजगद्दी।
,, ३९—४० — नए राजा को उपदेश।
,, ४१ — भीमसिंह द्वारा दिग्विजय। मगध, गौड़, कलिंग, कर्णाट, कुंतल, लाट, द्वारावती, खस, कांबोज, तुषार, शक, कामरूपादि पर राजा की विजय।

सर्ग ६ :—

श्लोक १—२ — भीमसिंह का पुत्र विग्रहदेव।
,, ३—१४ — विग्रहदेव ने गुर्जरों को हराया और उनका राज्य छीना।
,, १५ — विग्रहदेव का पुत्र गुंददेव।
,, १६—३१ — गुंददेव का पुत्र वल्लभ था। उसने भोज और चेदि पाल को हराया, और भोजराज को जीते जी पकड़ लिया, परंतु फिर कृपापूर्वक उसे छोड़कर सत्कृत किया।
,, ३२ — वल्लभ का पुत्र रामनाथ।
,, ३५ — रामनाथ का पुत्र चंड।

श्लोक ३६—४१ — पुत्र को राज्य सौंपकर उसने शैव-व्रत-परायण होकर तप किया।

" ४२ — वर प्राप्त कर उसने यवनों को हराया।

" ४३ — चंड का पुत्र दुर्लभ।

" ४४ — दुर्लभ का पुत्र दुलस।

" ४५ — दुलस-पुत्र विशाल।

" ४७ — उसने कर्ण को पराजित किया।

" ४८ — अवंति नगरी को जीता।

" ४९—६२ — अवंति-वर्णन।

" ६३ — राजा द्वारा उज्जयिनी में शिवपूजन।

" ६४—८० — शिवस्तुति।

" ८१ — विशाल का पुत्र पृथ्वीराज।

" ८६ — पृथ्वीराज का पुत्र अनलदेव।

सर्ग ७ :—

श्लोक १—२७ — शरदादि वर्णन।

" २८ — कार्तिक मास में पुष्करयात्रा।

" ३२—४९ — पुरोहित पुष्कर के माहात्म्य का वर्णन करता है।

चाहान कुल की उत्पत्ति का पुरोहित-द्वारा वर्णन

" ५०—५५ — ब्रह्मा ने यहीं यज्ञ किया था।

" ५६ — उस यज्ञाग्नि से उद्‌भ्र धूम की उत्पत्ति।

" ५७ — इस विघ्न के पुरोवतार को दूर करने के लिये ब्रह्मा ने सूर्य की तरफ देखा।

" ५८—६१ — सूर्य के बिंब से धनुष, असि, तूणीर आदि को धारण किए चतुर्बाहु अर्थात् चाहुवाण की उत्पत्ति।

" ६२ — चाहुवाण ने बारह वर्ष तक राज्य किया था।

सर्ग ८ :—

श्लोक १—२५ — अनलदेव ने पुष्कर को खूब विभूषित किया। वहाँ अनेक मंदिर बनवाए।

श्लोक २६—२७ — अनलदेव का पुत्र जगदेव।
" २८ — जगदेव का पुत्र वीसलदेव।
" २९—५६ — वीसलदेव का पुत्र अजयपाल।

सर्ग ९ :—

श्लोक १—१७ — वसंत-वर्णन, स्त्रियों की क्रीडादि।
" १८ — राजा ने वनांत में प्रफुल्ल कमलाकर को देखा
" १९—२२ — उसके तट पर वेदिका पर एक सुंदरी बैठी थी।
" २३—२९ — राजा उसे देखकर कामाहत होता है।
" ३० — सुंदरी सर के बीच में घुस जाती है।
" ३४ — राजा को एक सिद्ध पुरुष का दर्शन।
" ३५—४६ — राजा को सिद्ध से मालूम होता है कि वह सुंदरी वासुकि-वंशजा नागकुमारी विजया है। वह भी राजा से प्रेम करती है; परंतु पिता के अधीन है।
" ४८ — राजा उसी सर में गोता लगाकर नागलोक पहुँचता है।
" ४९—५४ — नागलोक का वर्णन।
" ५५—६० — फणींद्र का वर्णन। राजा फणींद्र को प्रणाम करता है।
" ६१—६९ — राजा का नागलोक में सत्कार।
" ७० — सुदामा-नाग राजा से अपनी पुत्री का विवाह करता है।
" ७१ — राजा नगर को लौटा।
" ७२ — गंगदेव को राज्य देकर अजयपाल का वन-प्रस्थान।

सर्ग १० :—

श्लोक १—३ — गङ्गदेव का पुत्र सोमेश्वर।

श्लोक ४—५ — राजा ने कुंतलेश्वर की पुत्री कपूरदेवी से विवाह किया।

" ६—९ — कपूरदेवी के दो पुत्र—पृथ्वीराज और माणिक्य।

" १० — पृथ्वीराज विभुता का इच्छुक था।

" ११—१२ — बाहर कहीं विहारभूमि में कान्यकुब्ज से कोई प्रतिहारी पृथ्वीराज से मिलने आई।

" १३—४६ — प्रतिहारी का संदेश—

नवलक्षाधिपति कान्यकुब्जेश्वर की पुत्री कांतिमती अत्यंत सुंदरी है। उसने चारणों से आपका यश सुना और आपमें अनुरक्त हो गई।

एक रात स्वप्न में उसने आपका दर्शन किया और तब से वह सर्वथा कामवशीभूत है। परंतु उन्हीं दिनों कांतिमती ने सुना कि पिता उसे किसी दूसरे से ब्याहना चाहते हैं। यह सुनते ही कांतिमती ने अश्रुपूर्ण होकर कहा कि मैं उन महाराज को चाहती हूँ, परंतु यह केवल मोहमात्र है।

कन्या विवाह का संदेश भेजे तो यह उचित भी तो नहीं। परंतु सखी ने उसे आश्वासन दिया और मुझे आपके पास संदेश पहुँचाने की आज्ञा दी।

" ४७—५२ — पृथ्वीराज ने प्रतिहारी को यह कहकर वापस भेजा कि अवश्य कोई न कोई उपाय करूँगा।

" ५३ — अपने बंदी को प्रधान बनाकर राजा कान्यकुब्ज में घुसा। फिर अपना वेश छोड़कर नगर के रास्ते और कान्यकुब्जेश्वर का आशय

जानने के लिये उसने वैतालिक का अनुसरण किया। अपने स्थान पर वह राजा परंतु जयचंद्र की सभा में बंदी का पार्श्वचर बनकर रहता। वह रात्रि के समय घोड़े पर चढ़कर अकेला ही गंगातट पर चक्कर लगाया करता। एक चाँदनी रात को वह घोड़े को पानी पिलाने के लिये नदी के रेतीले किनारे पर पहुँचा। घोड़े के फेन के गंध से अनेक मछलियाँ ऊपर उठ आईं। राजा अपने गले से मोती निकालकर फेंकने लगा और वे उन्हें खीलें समझकर उनकी ओर झपटने लगीं। अपने महल के झरोखे से कान्यकुब्जेश्वर की कन्या ने राजा का यह कृत्य देखा। उस दासी ने, जो पृथ्वीराज के पास गई थी, राजकुमारी को बतलाया कि यही पृथ्वीराज है। यदि संदेह हो तो उसकी परीक्षा कर सकती हैं। राजाओं की यह आदत ही होती है कि वे सदा अपने को नौकरों से घिरा हुआ समझते हैं। हार के समाप्त होते ही राजा यह विचार करता हुआ कि उसके साथ कोई नौकर पीछे की तरफ है, और मोतियों के लिये हाथ पसारेगा। राजकुमारी ने इतना सुनते ही मुक्ताजाल समर्पण कर एक दूती को भेजा। वह राजा के पीछे उसकी छाया के समान खड़ी हो गई। हार समाप्त होते ही राजा ने पीछे हाथ बढ़ाया और दासी ने उस पर मुक्ताजाल रख दिया। जब वे बिना गुँथे मोती समाप्त हो चुके, तब उसने अपने कण्ठ

से हार उतारकर दिया। स्त्रियों के उस कण्ठ-भूषण को देखकर राजा विस्मित हुआ। उसने पीछे की तरफ नजर डाली और उस स्त्री को देखकर पूछा कि तुमने किस कारण उन मँहगे मोतियों को वितीर्ण कर दिया।

दासी ने उत्तर दिया—"मैं राजकुमारी की परिचारिका हूँ और केवल यह निश्चय करने के लिये आई थी कि आप राजा पृथ्वीराज हैं या नहीं।" राजा ने हँसते हुए उत्तर दिया—"अपनी स्वामिनी से कह दो, कुछ प्रहर धैर्य रखे। कल रात को उसके हृदय को निश्चय हो जायगा।" इतना कहकर राजा अपने शिविर में आ गया। दूसरे दिन पृथ्वीराज महल में जा पहुँचा और वहाँ कुछ समय आनंद से व्यतीत किया। फिर उसने कहा—मैं सामंतों को बिना खबर दिए आया हूँ। इसलिये एक बार मेरा वहाँ जाना जरूरी है। वहाँ से वापस आकर तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगा। परंतु जब उसने प्रिया को भावी विरह से दुखी देखा तो द्वार-स्थित एक घोड़े पर कब्जा किया और उस पर राजकुमारी सहित सवार होकर अपने शिविर में जा पहुँचा।

श्लोक—११३—११५—उस समय एक मुख्य सामंत आकर कहने लगा—आप वधू-सहित प्रस्थान करें। आप जब तक चार योजन तय करेंगे, तब तक अरि-सैन्य को मैं रोकूँगा। दूसरे ने छः गव्यूति की प्रतिज्ञा की। इस प्रकार इंद्रप्रस्थ पहुँचने में जितने योजन थे उन्हें सामंतों ने बाँट लिया।

वे वास्तव में दनुजों के अवतार थे जिन्होंने मनुष्य रूप धारण किया था। वे अपनी इच्छा से युद्ध में लड़कर अपने पूर्व रूप को प्राप्त करना चाहते थे।

श्लोक ११८—१२८—शत्रुसेना आ पहुँची। अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर प्रथम दानव ने शरीर त्याग किया। दूसरों ने भी इसी प्रकार प्रतिज्ञा पूर्ण की। जब राजा इंद्रप्रस्थ पहुँचा तब थोड़े ही पराक्रमी सामंत बाकी रहे थे। वहाँ पहुँचकर पृथ्वीराज ने शत्रुसैन्य के मथन का निश्चय किया। पृथ्वीराज से हारकर कान्यकुब्जेश्वर यमुना के जल में डूब मरा। इस प्रकार विजय एवं वधू को प्राप्त कर राजा ने कई दिन आनंद से व्यतीत किए।

" १२९—१३२—फिर दिग्विजय कर पृथ्वीराज ने म्लेच्छपति शहाबुद्दीन को बाँध लिया। इक्कीस बार पृथ्वीराज ने शहाबुद्दीन को कारागार भेजा और दया कर छोड़ दिया। परंतु उस कृतघ्न ने यह उपकार नहीं माना और छल-बल से राजा को कैद कर अपने देश ले गया और नेत्रहीन कर दिया।

" १३३—१४४—पृथ्वी पर चक्कर लगाता हुआ उसका मित्र चंद नामक बंदी वहीं पहुँच गया। उसने राजा को समझाया-बुझाया और जीवन के अत्यंत कष्टकर होने पर भी उसे प्रतिशोध की इच्छा से धारण करने की प्रार्थना की।

" १४५—१४९—परंतु राजा ने कहा—'मेरे जीवन से अब क्या लाभ है? न मेरे पास सेना है और न आँखें ही।'

श्लोक १५०—१५५—बंदी ने कहा—'तुम शब्दवेधी तो हो ही। मैं ऐसा उपाय करूँगा कि धनुष तुम्हारे हाथ में हो और शत्रु उसका लक्ष्य बने।' फिर बंदी यवनराज की सभा में गया और विद्या-बल से उसे वश में कर लिया। एक दिन मौका देखकर उसने कहा—तुमने जिस राजा को कैद कर अंधा कर दिया है, वह बाण द्वारा लोहे के कड़ाहों को बेध सकता है।

" —१५६—१६८—कालवश यवनराज बातों में आ गया। सभा में एक सुवर्णस्तंभ पर लोहे के कड़ाह रखे गए। पृथ्वीराज के हाथ में धनुष दिया गया और बाण चलाने की तैयारी हुई। तब चंद ने यवनराज से कहा-"अब आप तीन बार आज्ञा दें तब वह लक्ष्य-वेध करेगा।" शहाबुद्दीन के मुँह से आज्ञा निकलते ही बाण उसके तालु-मूल से उसके प्राण हरता हुआ निकल गया। सब लोग घबरा गए। इतने में बंदी ने राजा को घोड़े पर बैठाया और कुरुजांगल देश ले गया। वहाँ पृथ्वीराज पृथ्वी को यशःपूर्ण कर परलोक सिधारा।

सर्ग ११ :—

श्लोक १— २ — पृथ्वीराज का पुत्र प्रह्लाद।

" ३ — प्रह्लाद का पुत्र गोविंदराज।

" ४ — गोविंदराज का पुत्र वीरनारायण

" ५ — वीरनारायण का पुत्र वाग्भट। इसने यवनों से रणथंभोर वापस लिया।

" ६ — वाग्भट का पुत्र जैत्रसिंह।

श्लोक ७—६२ — जैत्रसिंह का पुत्र हम्मीर। वह अत्यंत वीर था। उसने तुर्कों को हराया और दिल्ली नगर जीत लिया। फिर मंत्रियों और पुरोहितों सहित वह चंबल नदी पर स्थित पट्टनपुर नामक नगर में गया। वहाँ उसने तुलादान और विविध अन्य दान किए। फिर उसने कोटि-मख यज्ञ आरंभ किया।

„ ६३— यह देखकर कि अब रणथंभोर में राजा नहीं है, उसके वैरी अलाउद्दीन ने उसकी नगरी की तरफ प्रस्थान किया। आगे आगे उसका भाई उल्लू खाँ (उलूग खाँ) पचास हजार फौज लेकर रवाना हुआ और उसने जगरापुर में शिविर बनाया। उल्लू खाँ के हारने पर अलाउद्दीन स्वयं आया। हम्मीर भी धीरे धीरे यज्ञ समाप्त कर अपने नगर को लौटा।

सर्ग १२ :—

श्लोक १—२१ — अलाउद्दीन के दूत ने हम्मीर की सभा में आकर कहा—"अलाउद्दीन को सभी कर देते हैं। वह सात वर्ष से राज्य कर रहा है; परंतु तुमने उसे अब तक कुछ नहीं दिया। महिमासाह आदि को सेनाधिपति बनाकर तुमने और भी अपराध किया है। और अधिक क्या कहा जाय, तुमने तो जगरापुर का भंग किया है, जहाँ यवनेश्वर के भाई का शिविर था। अब भी तुम गले में शृंखला बाँधकर महिमासाह आदि को सुल्तान के भेंट कर दो और जितना कर चढ़ा है, चुका दो तो तुम्हारा बचाव हो सकता है। कुछ हाथी और सौ नर्तकियाँ भी भेंट करो। यदि

ऐसा न किया तो तुम शीघ्र उसी रास्ते से जाओगे जिससे गयासुद्दीन गया है।"

श्लोक २२—३८ — हम्मीर ने कहा—"हम शरण देना जानते हैं, कर देना नहीं। महिमासाह आदि मेरी शरण आए हैं। मेरी अनुपस्थिति में तुमने शहर घेर लिया तो कौन बड़ा काम किया है। शून्य-स्थान में तो गीदड़ भी घुस जाते हैं। यदि तुम्हारे मालिक में शक्ति हो तो वह उसे प्रकट करे।"

" ३९—५५ — दूत ने भी कुछ कठोर वचन कहे। इसलिये वह वहाँ से निकाल बाहर किया गया। हम्मीर ने दुर्ग पर से शत्रुसेना को देखा और अपनी रानियों को जौहर (वीरपत्नी-व्रतचर्या) के लिये तैयार होने को कहा। फिर वह महिमासाह आदि के साथ शत्रु के सम्मुख रवाना हुआ और रानियों ने अपना शरीर अग्निसात् किया।

" ५६—७७ — अत्यंत घोर युद्ध हुआ। अपनी सेना को नष्ट होते देखकर हम्मीर अलाउद्दीन की तरफ बढ़ा। उसने अनेक शत्रुओं को काट डाला। परंतु अंत में भिंदिपाल से घायल होकर वह वीर-शय्या पर सदा के लिये सो गया।

सर्ग १३ :—

श्लोक १—५१ — शहाबुद्दीन को बाण से विद्ध करनेवाले राजा पृथ्वीराज का छोटा भाई माणिक्य राज था। उसका पुत्र चंडराज, चंडराज का पुत्र भीमराज, भीमराज का पुत्र विजयराज, विजयराज का पुत्र रयण, रयण का पुत्र

कोल्हण, उसका पंग, पंग का देव, देव का समरसिंह, समरसिंह का नरपाल, नरपाल का हम्मीर, हम्मीर का बरसिंह, बरसिंह का भारमल्ल और भारमल्ल का पुत्र नर्मद था। नर्मद की पत्नी का नाम धारा और पुत्र का अर्जुन था। अर्जुन ने दशरथ की पुत्री जयंती से विवाह किया और पुत्र की इच्छा से भगवान् की आराधना की। भगवान् ने स्वप्न में उसे यथेष्ट वरदान दिया। यथासमय पुत्रोत्पत्ति हुई। पुत्र का नाम सुर्जन रखा गया।

श्लोक—५२—६६— बाल्य काल में ही सुर्जन ने सब विद्याओं का अर्जन किया। शनैः शनैः वह युवावस्था को प्राप्त हुआ।

” ६७—८०— उदयसिंह राजा के संश्रित होकर सुर्जन ने सर्वोज्ज्वला लक्ष्मी प्राप्त की। वह अत्यंत विष्णुभक्त था। वह केवल कुलागत वृंदावती का ही नहीं प्रत्युत अनेक दूसरी नगरियों का भी स्वामी था। उसने मालवेश को हराकर अनेक अस्त्रों से सुसज्जित कोटा नाम का दुर्ग लिया (७६)।

सर्ग १४ :—

श्लोक—१ —९४— राजा जगमाल ने अपनी पुत्री कनकावती का विवाह करने के लिये सुर्जन के पास पुरोहित भेजा। राजा ने माता की आज्ञा से संबंध स्वीकार किया और वह जगमाल के नगर में पहुँचा। स्त्रियों ने वधू का यथोचित शृंगार किया। रात्रि हुई, चंद्रमा का उदय हुआ और परिवार सहित सुर्जन राजा जगमाल के

घर गया। विवाह विधिपूर्वक संपन्न हुआ। कई दिन आनंद-प्रमोद में वहीं बीते। फिर राजा ने अपने नगर को जाने की छुट्टी माँगी।

सर्ग १५ :—

श्लोक— १— ६— चंद्रास्त-वर्णन।

" ७— १३— सूर्योदय-वर्णन।

" १४— ३५— कनकावती का बिदा होना और उसकी माता का उपदेश।

" ३६— ८०— कनकावती सहित आनंद-प्रमोद। ग्रीष्म ऋतु का वर्णन। जल-क्रीड़ा।

सर्ग १६ :—

श्लोक १— ५४— सुर्जन के अनेक पुत्र हुए। उनमें पटरानी कनकावती का पुत्र भोज मुख्य था। इसी समय दिल्ली में बादशाह अकबर राज्य करता था। उसने अनेक पर्वतीय दुर्गों को आसानी से जीत लिया, भ्रूभंगमात्र से राजाओं को कर देने के लिये विवश किया। और समग्र पृथ्वी को वशीभूत कर सुर्जन की राजधानी पर आक्रमण करने का विचार किया। उसके अनेक अनुभवी सेनापतियों ने रणथंभोर पर आक्रमण किया। परंतु सुर्जन ने उन सबको रण में तेरह बार परास्त किया। तब हुमायूँ का पुत्र अकबर स्वयं वहाँ पहुँचा। सुर्जन भी पट्टनपुर से सेना सहित रवाना होकर अकबर का सामना करने के लिये रण थम्भोर आया।

सर्ग १७ :—

श्लोक १ — २६— घोर युद्ध हुआ। दोनों ओर से तोपें चलने लगीं, गोले बरसाए गए, बाण चले।

श्लोक २७ — ५६— शत्रु-सेना द्वारा अपने सैन्य को विकल देखकर सुर्जन घोड़े पर चढ़ा। उसकी मार को न सहते हुए मुसलमान भागने लगे। उनकी यह दशा देखकर सम्राट् ने अपने सैनिकों को साहस दिलाया। वे लौट पड़े और सुर्जन का घोड़ा मारा गया। उसके धनुष की प्रत्यंचा भी कट गई। तब सुर्जन ने केवल तलवार से युद्ध किया। शत्रुओं ने अब उसका कवच भी शस्त्रों द्वारा तोड़ दिया परंतु सुर्जन तब भी लड़ता रहा। उसकी इस वीरता को देखकर बादशाह 'शाबाश' 'शाबाश' चिल्लाने लगा। गुणों की असाधारणता तो वही है जो शत्रु के चित्त को भी प्रमुदित करे। सायंकाल के समय अकबर अपने शिविर में लौटा और सुर्जन अपने दुर्ग पहुँचा।

सर्ग १८ :—

श्लोक १—२२ — प्रातःकाल जब फिर युद्ध के नगाड़े बजाए गए तब अकबर का मंत्री द्वार पर आकर सुर्जन से मिला। सुर्जन उसे अभ्यर्थनापूर्वक अपनी सभा में ले गया। तब मंत्री ने उससे कहा—"मैं बादशाह की आज्ञा से तुम्हारे पास आया हूँ। बादशाह तुम्हारे शौर्य से प्रसन्न हैं। तुम रणथंभोर बादशाह को दो और उसके बदले में गङ्गा, यमुना या नर्मदा के तट पर या अन्य किसी स्थान पर अच्छा राज्य ग्रहण करो। अपने से अधिक बलवान् से हठपूर्वक झगड़ा करना ठीक नहीं। यदि विशेष

झगड़ा किया तो तुम्हारी वही दशा होगी जो जयसिंह के पुत्र की हुई थी। सुर्जन ने तीर्थगमन की इच्छा से अकबर की बात स्वीकार की।

श्लोक २३—८० — कुछ दिन वह नर्मदा-किनारे रहा। फिर मथुरा पहुँचा। वहाँ से अश्मंत तीर्थ और वृंदावन गया। इसके बाद गोवर्धन के दर्शन किए। राजा ने वर्षाकाल इन्हीं स्थानों में बिताया और फिर काशी के लिये प्रस्थान किया।

सर्ग १६ :—

श्लोक १— ७ — मकर संक्रांति के समय सुर्जन ने प्रयाग पहुँचकर स्नान-दानादि किया।

„ २९ — उसके बाद वह वाराणसी आया। वहाँ गोपाल नामक व्यास ने इस तीर्थ का माहात्म्य वर्णन किया।

„ ३०—४९ — सुर्जन ने वहाँ खूब दान किया, अनेक तालाब खुदवाए, भगवान् विश्वेश्वर को मणिमय किरीट समर्पित किया और कई दिन वहाँ पुण्यमय जीवन व्यतीत किया। फिर वहीं मणिकर्णिका घाट पर सुर्जन ने देह-त्याग किया। कनकावती आदि उसकी पत्नियाँ सती हुईं।

सर्ग २० :—

श्लोक १— ७ — सुर्जन की मृत्यु पर सर्वत्र शोक।

„ ८—६३ — पुरोहित ने सुर्जन के पुत्र भोज को अभिषिक्त किया। भोज ने गुजरात-विजय में अकबर को सहायता दी थी। अभिषेक के बाद उसने

सुंदर वस्त्र-आभूषण आदि पहने। लोगों ने नजरें कीं, आनंद मनाया। राजा ने दान आदि किया, शत्रुओं को दंड दिया और दिग्विजय किया। दिल्लीश ने उसे पुरस्कृत किया। यह वृंदावती-नायक पुत्रों सहित चरणाद्रि में स्थित है।

श्लोक ६४ — गौड़ीय अंबष्ठान्वयज चंद्रशेखर कवि ने काशी में रहते हुए इस ग्रंथ की रचना नृप सुर्जन के निर्बंध से की।

रामचरितमानस के प्राचीन क्षेपक

[लेखक—श्री शंभुनारायण चौबे, बी० ए०, एल्-एल० बी०]

रामचरितमानस में क्षेपक कब से जोड़े जाने लगे, इसका कोई सफल अनुमान नहीं किया जा सका है; पर इतना अवश्य है कि क्षेपक-रचना की मूल मनोवृत्ति गोसाईंजी के प्रति श्रद्धांजलि थी। जिस प्रकार हम आज अपने नैत्यिक पाठ की स्तोत्र-कुसुमांजलि तैयार करने के लिये भिन्न भिन्न स्थानों के सुंदर, सुललित श्लोक एकत्र करते हैं, उसी प्रकार भक्तों ने रामकथा से संबंध रखनेवाले सभी वर्णनीय विषयों को रामचरितमानस में स्थान देना चाहा। इसीसे क्षेपकों की रचना प्रारंभ हुई होगी।

रामचरितमानस के संपूर्ण क्षेपक एक साथ नहीं बने। ये समय समय पर भिन्न भिन्न भक्तों द्वारा रचे गए हैं। संपूर्ण रामचरित-मानस की सबसे प्राचीन पोथी, जो देखने में आई है वह, सं० १७०४ वि० की काशिराज की प्रति है। इसे पं० रघू तिवारी ने काशी में (लोलार्क-कुंड के समीप) लिखा था। इसमें पर्याप्त मात्रा में क्षेपकों का समावेश है—विशेषतः आरण्य कांड में। रघू तिवारी केवल प्रतिलिपिकार थे, क्षेपक इनके रचे हुए नहीं हैं। जिस प्रति से आपने लिखा था, वह सं० १६५० वि० के बाद की लिखी हुई होगी और बहुत संभव है, उस पोथी के लेखक ने ही क्षेपकों की रचना की हो। पर इन्हींने सब क्षेपक नहीं रचे, क्योंकि 'सुरसरि महि आवन की कथा,' 'सुलोचना सती प्रकरण,' 'लव-कुश कांड' इत्यादि काशिराज की प्रति में नहीं हैं।

दूसरी और तीसरी प्राचीन पोथियाँ, जो देखने को मिलती हैं, क्रमशः सं० १७२१ वि० तथा सं० १७६२ वि० की लिखी हैं। पर इन दोनों पोथियों में अयोध्याकांड के 'तापस प्रकरण' को छोड़, जिसके संबंध में इस लेख में आगे विचार किया गया है, एक भी क्षेपक नहीं है और इनके पाठ आपस में मिलते हैं। ये दोनों पोथियाँ भागवतदासजी के संग्रह

में थीं और अपनी गोलावाली प्रति[१] छपवाते समय उन्होंने इनका उपयोग किया था। सं० १७२१ वि० की प्रतिलिपि जिस पोथी से की गई थी वह भी सं० १६५० वि० के बाद गोसाईंजी के जीवनकाल के लिखे ग्रंथ की प्रतिलिपि रही होगी।

प्राचीन हस्तलिखित रामचरितमानस के स्फुट कांडों में श्रावण-कुंज का बालकांड और राजापुर का अयोध्याकांड विशेष उल्लेखनीय हैं। इन पोथियों में भी क्षेपक नहीं हैं। इन पोथियों के पाठ प्रामाणिक माने जाते हैं। इनके पाठों में जो कुछ विभिन्नता है, वह पोथी के मूल स्वरूप के कारण नहीं, वरन् लेखक की लेखन-शैली या उसके दोष के कारण है।

राजापुर के अयोध्याकांडमें 'तापस प्रकरण'—२।१०९।७ से २।११०।६ "तेहि अवसर एक तापस आवा" से "मुदित सुअसन पाइ जिमि भूखा" तक) एक खटकनेवाली चीज है। सभी प्राचीन प्रतियों में यह मिलता है। यही कारण है कि बिलकुल अप्रासंगिक और उखड़ा हुआ होने पर भी लोगों ने इसे ग्रहण किया है। राजापुर की प्रति को कुछ भक्तगण गोसाईं जी के हाथ की लिखी पोथी का अवशेष मानते हैं। उसमें तापस प्रकरण के होने से भी अधिकांश पोथियों में इसे स्थान मिला है।

यह तापस कौन था, इसके बारे में बड़ा मतभेद है।

(१) कोई इसे 'तापसी रूप से रावन बध का सदेह संकल्प' कहते हैं।

(२) कुछ लोग 'अग्नि' कहते हैं। 'तेजपुंज' और 'छुधित' दोनों अग्नि के धर्म हैं। ये अग्नि देवता अलक्षित वेष से सदा साथ रहे और समय समय पर तत्परता दिखलाते रहे—'प्रभुपद धरि हिय अनल समानी', 'पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ।' वन-गमन के समय अयोध्या से शृंगवेरपुर तक सुमंत साथ रहे। उनके लौटने पर, शृंगवेरपुर

१. सं० १९४२ वि० में भागवतदास छत्री ने सरस्वती प्रेस, काशी से एक प्रति छपवाई थी। इसे गोलावाली प्रति कहते हैं; क्योंकि उक्त प्रेस गोला दीना-नाथ, काशी के समीप था। देखिए ना० प्र० प० सं० १९९५, पृ० २८६।

से यमुना पार होने तक निषादराज साथ रहे। अब इनके भी लौटने पर अग्निदेव आए और सदा साथ रहे। इनकी बिदाई नहीं कही गई है। पंथ चलने में तीन व्यक्तियों का चलना निषिद्ध बतलाया गया है।

(३) कुछ लोग इन्हें 'चित्रकूट में निवास करनेवाला अगस्त्य ऋषि का शिष्य' मानते हैं।

(४) कुछ लोगों का कहना है कि स्वयं कामदनाथ चित्रकूट वन ही भगवान् से मिलने आया है—'चित्रकूट अस श्रवन सुनि जमुन तीर भगवान। बालि बिराजा बेष धरि गयो लेन भगवान ॥'

(५) कुछ लोग इस तापस को स्वयं गोसाईं तुलसीदास मानते हैं। यमुना के दक्षिण कूल में राजापुर बसा है। जब भगवान् रामचंद्रजी वहाँ पहुँचे और 'सुनत तीर बासी नर नारी। धाए निज निज काज बिसारी' तो अपने निवासस्थान के इन लोगों के दौड़कर मिलते समय गोस्वामीजी ध्यानावस्थित हो गए और स्वयं भी मन से, अपनी जन्मभूमि में, यमुना-तट पर पहुँच गए। ऐसी अवस्था में जिस प्रकरण को छोड़कर गोसाईंजी प्रभु से (ध्यान में) मिलने गए थे, उसका याथातथ्य वर्णन हनुमान्‌जी ने लिख दिया "ताको गोसाईंजी ने नहीं मिटाया ताते ग्रंथ में रहि गया है।"[१]

इस तापस प्रकरण के अप्रासंगिक होने में तो कोई संदेह ही नहीं तथा उपर्युक्त पाँचवें अनुमान के अनुसार यह गोस्वामीजी के हाथ का लेख भी नहीं। अतः इस अंश को निःसंकोच निकाल सकते हैं।

चाहे राजापुर की प्रति में गृहीत होने के कारण अथवा उस बीच की प्रति में गृहीत होने के कारण जिस पर से स्वयं राजापुर की प्रति उतारी गई है—क्योंकि जहाँ तक समझ में आता है राजापुर की प्रति गोस्वामीजी के हाथ की लिखी नहीं है[२]—यह 'तापस प्रकरण' सभी प्रामाणिक प्रतियों में

१—देखिए तुलसीकृत रामायण—अयोध्याकांड सटीक, टीकाकार हरिहरप्रसाद, प्रकाशक अविनाशीलाल, आर्य यंत्रालय, काशी, सं० १८३५, पृ० १०३।

२—इस संबंध में डाक्टर माताप्रसाद गुप्त का लेख देखिए, जिसमें इस विषय का विवेचन है—'हिंदुस्तानी,' अक्तूबर, १९३८; पृ० ३६७।

अपना लिया गया है। भाषा भी गोसाईंजी की भाषा से मिलती-जुलती है। और, इतने दिनों से प्रायः सभी प्रामाणिक कही जानेवाली प्रतियों में भी गृहीत होने के कारण अब तो यह प्रकरण प्राचीनता के बल पर चल रहा है।

पर यह बात नहीं कि कोई ऐसी पोथी ही नहीं जिसमें यह प्रकरण न हो। हस्तलिखित कोई प्राचीन पोथी तो अभी नहीं मिली पर चीन छपी पोथियाँ, जो हस्तलिखित की प्रामाणिकता रखती हैं, अवश्य देखने में आती हैं जिनमें यह प्रकरण नहीं है। जिन प्राचीन छपी पोथियों में यह प्रकरण नहीं है वे अवश्य ही प्रामाणिक हस्तलिखित पोथियों पर अवलंबित हैं।

'तापस प्रकरण' के ग्रहण करने से भी राजापुर की प्रति का गोस्वामीजी के हाथ का लिखा न होना सिद्ध होता है।

राजापुर की प्रति गोसाईंजी के हाथ की लिखी नहीं है, इसका एक प्रमाण यह भी है कि इसमें निम्नलिखित चौपाइयाँ कम हैं, जिनके अभाव में कथा-प्रसंग का तारतम्य नहीं बनता। सभी अन्य प्राचीन प्रामाणिक पोथियों में ये अर्धालियाँ हैं, राजापुर की प्रति में ही नहीं हैं,—

(१) सकल सुकृत मूरति नरनाहू। राम सुजस सुनि अतिहि उछाहू ॥२।१।२

(२) प्रमुदित मोहिं कहेउ गुरु आजू। रामहि राय देहु जुवराजू ॥२।४।२

(३) कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू। फिरि न नवै जिमि उकठि कुकाठू ॥२।१९।४

(४) सहज सनेह बरनि नहिं जाई। पूँछी कुसल निकट बैठाई ॥२।८७।४

(५) राम सनेह सुधा जनु पागे। लोग बियोग बिषम बिष दागे ॥२।१८३।१

(६) कह गुरु बादि छोभ छल छाँड़ू। इहाँ कपट कर होइहि भाँड़ू ॥२।२१७।२

(७) ....। अरध तजहिं बुध सरबस जाता।
तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिय लषन सहित रघुराई ॥
सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता।

(८) ....। जनु महि करत जनक पहुनाई ॥
तब सब लोग नहाइ नहाई।...............२।२७८।५

(९) ....। रिषि धरि धीर जनक पहिं आए।
राम बचन गुरु नृपहिं सुनाए।..................२।२९०।५

निम्नलिखित पोथियों में 'तापस प्रकरण' नहीं है—

(१) सं० १९०५ वि० की छपी पोथी जिसे आगरे के पं० बद्रीलाल ने रामघाट, काशी के काश्मीरी यंत्रालय में छपवाया था (अयोध्याकांड पृ० ६१)

(२) सं० १९२० वि० की छपी पोथी जिसे श्री श्यामसुंदरदास सेन ने बड़ी बाजार, कलकत्ता के सुधावर्षण यंत्रालय में छपवाया था (अ० १९)।

(३) सं० १९२६ वि० (१८६९ ई०) की छपी पोथी जिसे पं० रामजसन मिश्र ने लाजरस मेडिकल हाल प्रेस, काशी में छपवाया था (अ०१५६)

(४) सं० १९३० वि० (अक्तूबर १८७३ ई०) की छपी पोथी जिसे मुंशी नवलकिशोर ने लखनऊ यंत्रालय में छपवाया था। (अ० २०१)

(५) सं० १९४० वि० की छपी पोथी जिसे शिवचरन ने भदैनी काशी के दिवाकर छापेखाने में छपवाया था। (अ० ५०)

(६) सं० १९४१ वि० (अप्रैल १८८४ ई०) की छपी पोथी जिसे मुंशी नवलकिशोर ने अपने कानपुर यंत्रालय में छपवाया था। (अ० ६७)

(७) सं० १९४५ वि० की छपी पोथी जिसे बापू हरसेठ देवलकर ने बंबई में अपने छापेखाने में छपवाया था। (अ० ५७)

(८) सं० १९४८ वि० (१८९१ ई०) का छपा ग्राउस का अँगरेजी अनुवाद जिसे उन्होंने सेमुअल के यूनियन प्रेस, कानपुर में छपवाया था। (अ० ६३)

(९) सं० १९५० वि० (१८९३ ई०) की छपी पोथी जिसे पं० गंगाराम मिश्र संगर ब्राह्मण कपूरथला ने मुंशी नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ में छपवाया (अ० २०२)।

(१०) सं० १९७० वि० (१९१३ ई०) की छपी पोथी जिसे श्रीमंत यादव शंकर जामदार ने मराठी अनुवाद सहित पूना के वैद्यक पत्रिका छापेखाने में छपवाया। (अ० ३८३)

(११) सं० १९८७ वि० की छपी पोथी जिसे श्री रामदास गौड़ ने हिंदी पुस्तक एजेंसी कलकत्ता से छपवाया था। (अ० २१२)

(१२) सं० १९९२ वि० (१९३५ ई०) की छपी पोथी (द्वितीय संस्करण) जिसे बाबा हरीदास ने लाला गौरीशंकर साह द्वारा शुक्ला प्रिंटिंग वर्क्स लखनऊ में छपवाया था। (अ० २८८)

(१३) एक छपी पोथी जिसे पं० हरिप्रकाश भागीरथ ने निर्णयसागर प्रेस, बंबई से छपवाया था। (अ० ६१)

इन भिन्न भिन्न स्थानों से प्रकाशित पोथियों को देखकर यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों की एक शाखा तो अवश्य ही ऐसी रही है जिसमें तापस प्रकरण को स्थान नहीं था। इस अंश के प्रक्षिप्त मानने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क भी उल्लेखनीय हैं,—

(क) यह प्रकरण सर्वथा अप्रासंगिक और असंगत है।

(ख) किसी पौराणिक कथा से इसकी पुष्टि नहीं होती।

(ग) संपूर्ण रामचरितमानस की ग्रंथ-संख्या मिलाते समय इसको ग्रहण करने से प्रामाणिक प्रतियों की ग्रंथ-संख्या में अंतर पड़ता है।

ग्राउस साहब का मत है कि या तो इसे स्वयं गोस्वामीजी ने बाद को जोड़ा हो या पहले लिखा हो और बाद को काट दिया हो, अथवा गोस्वामी जी के बाद किसी भक्त ने क्षेपक रूप से इसकी रचना की हो। इस अंत वाली उपपत्ति के पक्ष में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) तापस प्रकरण पूरे एक दोहे का है। इसमें एक दोहा और आठ अर्धालियाँ हैं। यह २।१०९।६ के बाद और २।११०।७ के पहले घुसा है। सभी प्रामाणिक प्रतियों के अनुसार ग्रंथ-संख्या मिलान करने पर विदित होगा कि अयोध्याकांड में 'तापस प्रकरण' को लेकर ३२६ दोहे हैं। पर जितनी भी प्रामाणिक प्रतियाँ हैं—सं० १७०४ की, सं० १७२१ की, सं० १७६२ की, छक्कनलाल की तथा भागवतदास की—सभी में अंतिम दोहे की संख्या ३२५ ही मिलती है और इन सब प्रतियों में दोहा-संख्या १९९ के आगे दोहे की संख्या नहीं लगाई गई है। यह कार्यवाही 'तापस प्रकरण' के आगे की गई है, पहले नहीं। यह देखते हुए कि 'तापस प्रकरण' का

एक दोहा पहले बढ़ा है, लोगों ने दोहा-संख्या १९९ के आगे दोहा-संख्या नहीं लगाई, जिसमें अंत में दोहासंख्या ३२५ ही उतरे।

(२) अयोध्या कांड में आठ अर्धालियों के बाद एक दोहा और हर पचीसवें दोहे के स्थान पर एक छंद और एक सोरठा है। ऐसा क्रम संपूर्ण अयोध्याकांड में दीख पड़ता है। पर 'तापस प्रकरण' के आ जाने से इस क्रम में व्यतिक्रम हो जाता है। 'तापस प्रकरण' के पहले तो उपर्युक्त नियम ठीक चला पर उसके आगे आनेवाला छंद, जो सं० १२५ पर पड़ना चाहिए था, सं० १२६ पर आता है।

(३) अयोध्याकांड का विषय-विभाजन[1] किया जाय तो प्रकट होगा कि अंत के १४६ दोहों में 'भरतचरित', मध्य के १४ दोहों में 'दशरथमरण' तथा प्रथम १४५ दोहों में 'श्रीरामचरित' कहा गया है। यह देखकर कि अयोध्याकांड में 'भरतचरित' १४६ दोहों में है और 'श्रीरामचरित' केवल १४५ दोहों में, भावुक भक्तों ने एक दोहा जोड़कर पूरा कर दिया, जिससे वह 'भरतचरित' से कम न रह जाय। एक दोहा जोड़ तो दिया, पर उन्होंने गोसाईंजी का आशय यह न समझा कि अयोध्याकांड में 'भरतचरित' की विशेषता है[2]। अयोध्याकांडवाली फलश्रुति में भी भरत ही की विशेषता है।

१—देखिए रामचरितमानस (विजयानंद त्रिपाठी) पृ० ३७५

२—भरत की महिमा ऐसी ही है—

भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं राम न सकहिं बखानी॥ रा०२।२८७।२

निखिल विश्व को 'बदर' तथा 'आमलक'वत् देखनेवाले कुलपूज्य गुरु वशिष्ठजी की मति भी भरतमहिमा का अवगाहन न कर सकी थी—

भरत महा महिमा जलरासी। मुनिमति तीर ठाढ़ि अबला सी॥

गा चह पार जतन बहु हेरा। पावति नाव न बोहित बेरा॥रा०२।२५५।२

इसके अतिरिक्त भरतचरित का प्रसंग आरण्यकांड के ६ दोहे तक चला गया है; अतएव अयोध्याकांड की प्राचीन प्रामाणिक पोथियों में इति नहीं लगाई गई है।

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को।
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को।

भरत-चरित करि नेम तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद प्रेम अवसि होइ भव-रस-बिरति॥

(४) इस तापस का गोस्वामी तुलसीदास होना सबसे अधिक संभावित है, क्योंकि अन्य कोई—अग्नि, चित्रकूट, अगस्त्य-शिष्य—मानने में उसकी पुष्टि किसी पौराणिक कथा से नहीं होती। पर तापस को गोसाईंजी मानने में खटकनेवाली बात यह है कि (तापस-वेष में) गोसाईंजी सबसे—राम से, सीता से, लक्ष्मण से—तो स्वयं मिले और निषादराज से, जो इन लोगों के साथ थे, इस प्रकार मिले कि पहले निषाद ने दंडवत् किया, तब राम-सनेही जानकर गोसाईंजी उनसे मिले—'कीन्ह निषाद दंडवत तेही। मिलेउ मुदित लखि राम-सनेही।' इस अर्धाली से यह लक्षित होता है कि यदि निषाद रामसनेही न होता तो केवल रामचंद्रजी के साथ होने से गोस्वामीजी का ब्राह्मण-तनु नीच निषाद को स्पर्श करने में सकुचता। प्रचलित सामाजिक भावना भी यही हो सकती है। पर ऐसा करना तुलसी-स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल है—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदौं सब के पद-कमल सदा जोरि जुग पानि॥
देव दनुज नर नाग खग प्रेत पितर गंधर्ब।
बंदौं किन्नर रजनिचर कृपा करहु अब सर्ब॥

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल नभ थल बासी।
सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥ रा० १।७

तुलसी जाके बदन तें धोखेहु निकसत राम।
ताके पग की पगतरी मेरे तनु को चाम॥ बै० ३७

आपु आपुने ते अधिक जेहि प्रिय सीता राम।
ताके पग की पानही तुलसी के तनु चाम॥ दो०

अब तनिक सोचने की बात है कि जिसका स्वाभिमान यह कहकर बिलकुल गल गया था, वह निषाद से मिलने के समय पहले उससे दंडवत् कराने के लिये कब जीवित रहा होगा। इसके अतिरिक्त 'तेजपुंज' 'मिलेउ मुदित' प्रभृति अहंमन्यता-सूचक शब्द गोसाईंजी अपने लिये न लिखते।

(५) इस प्रकरण के काव्यांग पर विचार करने से प्रकट होगा कि "राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारस पावा।"—में प्रक्रम-भंग दोष है। 'रंक' और 'पारस' क्रमशः राम और तापस दोनों पक्ष में लग सकता है। इस अर्धाली का सहज स्वाभाविक अर्थ करने पर 'रंक' राम पक्ष में शब्द-संगति के अनुकूल पड़ता है, पर भगवान् को कभी दरिद्र की उपमा नहीं दी जा सकती। यदि कहें कि भगवान् भक्त के प्रेमवश उससे मिलने के लिये ऐसे लालायित हो रहे थे जैसे दरिद्र दाम के लिये होता है तो इसमें बड़ा भारी दोष है। भक्त 'पारस' कदापि नहीं हो सकता; यह गुण तो परमात्मा का ही है, जो 'गुन अवगुन नहिं चितवत कंचन करत खरो।' गुसाईंजी ने अन्यत्र भी सर्वत्र भक्त को वा भगवान् के इच्छुक को ही दरिद्र और रंक की उपमा दी है और यही उचित है—

सुख बिदेह कर बरनि न जाई। जनम दरिद्र मनहुँ निधि पाई॥१।३०७।४॥

दिए दान विप्रन्ह बिपुल पूजि गनेस पुरारि।
प्रमुदित परम दरिद्र जनु पाइ पदारथ चारि॥ १।३४५

प्रेम प्रमोद न कछु कहि जाई। रंक धनद पदबी जनु पाई॥२।५१।५
बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रंकन्हि सुरमनि ढेरी॥२।११३।५
भईं मुदित सब ग्रामबधूटी। रंकन्हि राय रासि जनु लूटी॥२।११६।८
कंद मूल फल भरि भरि दोना। चले रंक जनु लूटन सोना॥२।१३४।२
हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहु पारस पाएउ रंका॥२।२३७।३
गहि पद लगे सुमित्रा अंका। जनु संपति भेंटी अति रंका॥२।२४४।३

कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं जिमि प्रिय दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहिं राम ॥७।१३०

भगवान् दरिद्र क्यों होने लगे ? यह तो 'काम, कामी' का ही धर्म है; चाहे वह 'काम' भगवान् के लिये हो चाहे किसी सांसारिक भोग के लिये।

आगे एक परिशिष्ट में काशिराज की प्रति से रामचरितमानस के प्राचीन क्षेपकों को क्रमानुसार एकत्र उपस्थित किया जाता है। उन अंशों के क्षेपक मानने का मुख्य कारण यह है कि बाद की प्रतियों—सं० १७२१ तथा सं० १७६२ की प्रतियों—में उनका अभाव है। भागवतदासजी ने भी उन्हें ग्रहण नहीं किया है और जिन भक्त-परंपराओं में रामचरितमानस की प्रामाणिक वाचना चली आती है, उनमें भी उनका अभाव है। उन अंशों में से केवल 'तापस प्रकरण' ही ऐसा है जो कतिपय प्रामाणिक प्रतियों में गृहीत है।

परिशिष्ट

बालकांड के क्षेपक

१।३६१।४ के आगे–सुनु गाइ कहैं गिरीस कन्या धन्य अधिकारी सही।
नित प्रीति नूतन सुनत हरिगुन भक्ति अनुपम तैं लही ॥
रघुवीर पद अनुराग जल लोभागि बेगि बुझावई।
येह जानि तुलसीदास मन क्रम बचन हरि गुन गावई ॥
कठिन काल मल-ग्रसित मन साधन कछू न होइ।
यह बिचारि बिस्वास करि हरि सुमिरै बुधि सोइ ॥
मन हरिपद अनुरागु, करहि त्यागु नाना कपट।
महा मोह निसि जागु, सोवत बीते काल बहु ॥

अयोध्याकांड के क्षेपक

२।१०६।६ के आगे–तेहि अवसर एकु तापसु आवा। तेज पुंज लघुबयस सुहावा ॥
कवि अलखित गति बेषु बिरागी। मन क्रम बचन राम अनुरागी ॥

सजल नयन तन पुलकि निज, इष्ट देउ पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनितल दसा न जाइ बषानि॥
राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारसु पावा॥
मनहु प्रेमु परमारथु दोऊ। मिलत धरें तनु कह सबु कोऊ॥
बहुरि लषन पायन्ह सोइ लागा। लीन्ह उठाइ उमगि अनुरागा
पुनि सिय चरन धूरि धरि सीसा। जननि जानि सिसु दीन्हि असीसा
कीन्ह निषाद दंडवत तेही। मिलेउ मुदित लषि राम सनेही॥
पिअत नयन पुट रूपु पियूषा। मुदित सु असनु पाइ जिमि भूषा

आरण्यकांड के क्षेपक

३।०।८ के आगे–बिनु पराध प्रभु हतइ न काहू। अवसर परे ग्रसइ ससि राहू
जब प्रभु लीन्ह सीक धनु बाना। क्रोध जानि भा अनल समाना
३।१।८ के आगे–जिमि जिमि भाजत सक्रसुत व्याकुल अति दुख दीन॥
तिमि तिमि धावत राम सर पाछे परम प्रवीन॥
बचहिं उरग बरु ग्रसे खगेसा। रघुपति सर छुटि बचब अँदेसा
३।१।६ के आगे–दूरहि ते कहि प्रभु प्रभुताई। भजे जात बहु बिधि समुझाई
३।४। के आगे–जनम जनम प्रभु तव पद कंजा। बाढ़ौ प्रेम चकोर जिमि चंदा
देखि राम मुनि बिनय प्रनामा। बिबिध भाँति पाएउ बिश्रामा।
३।४।१ के आगे–जे सिय सकल लोक सुखदाता। अखिल लोक ब्रह्मांड कि माता
तेउ पाइ मुनिबर मुनि भामिनि। सुखी भई कुमुदिनि जिमि जामिनि
३।४।३ के आगे–जाहि निरखि दुख दूरि पराहीं। गरुड जानि जिमि पन्नग जाहीं
ऐसे बसन बिचित्र सुठि दिए सीब कहुँ आनि।
सनमानी प्रिय बचन कहि प्रीति न जाइ बखानि॥
३।४।१२ के आगे–उत्तम मध्यम नीच लघु सकल कहउ समुझाइ।
आगे सुनहिं ते भव तरहिं सुनहु सीय चित लाइ॥
३।६ के आगे–मुनिहु कि अस्तुति कीन्ह प्रभु दीन्ह सुभग बरदान।
सुमन वृष्टि नभ संकुल जय जय कृपानिधान॥
३।६।५ के आगे–आश्रम बिपुल देखि मग माहीं। देवसदन तेहि पटतर नाहीं।
बहु तड़ाग सुंदर अवराई। भाँति भाँति सब मुनिन्ह लगाई॥

तेहि दिन तहँ प्रभु कीन्ह निवासा। सकल मुनिन्ह मिलि कीन्ह सुपासा।
आनि सुआसन मुदित मन पूजि पहुनई कीन्ह।
कंद मूल फल अमिअ सम आनि राम कहुँ दीन्ह॥
अनुज सीय सह भोजन कीन्हा। जो जेहि भाव सुभग बर दीन्हा।
होत प्रभात मुनिन्ह सिरु नावा। आसिरबाद सबहि सन पावा॥
सुमिरि उमा सिव सिद्धि गनेसा। पुनि प्रभु चले सुनहु उरगेसा।
बन अनेक सुंदर गिरि नाना। नाघत चले जाहिं भगवाना॥

३।६।५।१ के आगे—.........................। गर्जत घोर कठोर रिसाता।
रूप भयंकर मानहु काला। बेगवंत धाएउ जिमि ब्याला।
गगन देव मुनि किन्नर नाना। तेहि छन हृदय हारि कछु माना।
तुरतहि सो सीतहि लै चलेऊ। राम हृदय कछु बिस्मै भयेऊ।
समुझा हृदय कैकई करनी। कहा अनुज सन बहु बिधि बरनी।
बहुरि लषन रघुबरहि प्रबोधा। पाँच बान छाँड़े करि क्रोधा।
भये क्रुद्ध लषन संधानि धनु सर मारि तेहि ब्याकुल कियो।
पुनि उठा निसिचर राखि सीतहिं सूल लेइ छाड़त भयो।
जनु कालदंड कराल धावा बिकल सब खग मृग भए।
धनु तानि श्री रघुबंश मनि पुनि मारि तन झर्झर किए।
बहुरि एक सर मारा परा धरनि धुनि माथ।
उठेउ प्रबल पुनि गरजेउ चलेउ जहाँ रघुनाथ॥
ऐसेइ कहत निसाचर धावा। अब नहिं बचहु तुम्हहिं मैं खावा।
आव प्रबल एहि बिधि जनु भूधर। होइहि काह कहहिं ब्याकुल सुर
तासु तेज सत मरुत समाना। टूटहिं तरु उड़ाहिं पाषाना।
जीव जंतु जहँ लगि रहे जेते। ब्याकुल भाजि चले तहँ तेते।
उरग समान जोरि सर साता।.......................................

३।६।७ के आगे—तासु अस्थि गाड़ेउ प्रभु धरनी। देवन्ह मुदित दुंदुभी हनी।
सीता आइ चरन लपटानी। अनुज सहित तब चले भवानी॥
इहाँ सक्र जहँ मुनि सरभंगा। आएउ सकल देव निज संगा।
गए कहन प्रभु देन सिखावन। दिसि बल भेद बसत जहँ रावन

सुरपति संसय तम सघन रघुपति तेज दिनेस।
रावन जीवन निसि समन बीते छुटहिं कलेस॥
सुनासीर प्रभु तेहि छन देखा। तेजनिधान सुभ्र अति वेषा।
तुरग चारि बल मरुत समाना। रथ रबि सम नहिं जाइ बखाना।
छिति न परस अंतरहित रहई। स्वेत छत्र चामर सिर ढरई।
अनुजहिं प्रिअहिं कहा समुझाई। सुरपति महिमा गुन प्रभुताई।
जेहि कारन बासव तहँ आए। सो कछु बचन कहइ नहिं पाए।
बीचहिं सुनि आइब प्रभु केरा। कहि सारथिहि तुरत रथ फेरा।
दूरिहि ते करि प्रभुहि प्रनामा। हरषि सुरेस गएउ निज धामा।

३।३क।८ के आगे–सोउ प्रिय अति पातकी जिन्ह कबहुँ प्रभु सुमिरन कर्यो।
ते आजु मैं निज नयन देखिहौं पुरित पुलकित हिय भर्यो।
जे पद सरोज अनेक मुनि कर ध्यान कबहुँक आवहीं।
ते राम श्रीरघुवंश मनि प्रभु प्रेम तें सुख पावहीं।
पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन।
यह बिचारि मुनि पुनि पुनि करत राम गुन गान॥

३।३क।१६ के आगे–राम सुसाहेब संत प्रिय सेवक दुख दारिद दवन।
मुनि सन प्रभु कह आइ उठु उठु द्विज मम प्रान सम॥

३।४क।२० के आगे–माया बस जग जीव रहहि बिबस संतत मगन।
तिमि लागहु मोहिं प्रीय करुनाकर सुंदर सुखद॥

३।४क।२१ के आगे–रामभगति तजि चह कल्याना। सो नर अधम सृगाल समाना

३।५क।१ के आगे–मुनि प्रनाम करि कह कर जोरी। सुनहु नाथ कछु बिनती मोरी

३।५क।५ के आगे–आश्रम देखि महा सुचि सुंदर। सरित सरोवर हरषित भूधर
बनचर जलचर जीव जहीं ते। बैर न करहिं प्रीति सबहीं ते।
तरुवर बिबिध बिहंगमय बोलत बिबिध प्रकार।
बसहिं सिद्ध मुनि तप करहिं महिमा गुन आगार।

३।६क। के आगे–पाइ सुथल जल हरषित मीना। पारस पाइ सुखी जिमि दीना।
प्रभुहिं निरखि सुख भा एहि भाँती। चातक जिमि पाए जल स्वाती

३।६क।२ के आगे–द्विजद्रोही न बचहिं मुनिराई। जिमि पंकज बन हिमि रितु पाई

३।६का।५के आगे–भृकुटी निरखत नाथ तव रहत सदा पद कमल तर
जिन डारे निज उदर महँ बिबिध बिधाता सिद्ध हर
अति कराल सब पर जग जाना। औरो कहौ सुनिअ भगवाना

३।६का।१३के आगे–जेहि जीव पर तव माया रहत तुम्हहिं संतत बिवस।
तिन्हहु कि महिम न जान सेवक तुम्ह कहँ प्रान प्रिय।

३।६का।१५के आगे–गोदावरी नदी तहँ बहई। चारिहु जुग प्रसिद्ध सो अहई

३।६का।१८के आगे–दिव्य लता द्रुम प्रभु मन भाए। निरखि राम तेउ भए सुहाए
लषन राम सिय चरन निहारी। कानन अघ गा भा सुखकारी

३।१०।१के आगे–नाथ सुने गत मम संदेहा। भएउ ज्ञान उपजेउ नव नेहा
अनुज बचन सुनि प्रभु मन भाए। हरषि राम निज हृदय लगाए

३।१०।६के आगे–अधम निसाचरि कुटिल अति चली करन उपहास।
सुन खगेस भावी प्रबल भा चह निसिचर नास।

३।१०।१४के आगे–केहरि सम नहिं करिबर लवा कि बाज समान।
प्रभु सेवक इमि जानहु मानहु बचन प्रमान।

३।१०।१६के आगे–बिथुरे केस रदन बिकराला। भृकुटी कुटिल करन लगि गाला

३।१०।२०के आगे–अनुज राम मन की गति जानी। उठे रिसाइ तब सुनहु भवानी

३।११।१के आगे–स्याम घटा देखत घन केरी। तहँ बासव धनु मनहु उयेरी

३।११।३के आगे–चौदह सहस सुभट सँग लीन्हे। जिन्ह सपनेहु रन पीठि न दीन्हे

३।११।६के आगे–निज भिज बल सब मिलि कहहिं एकहिं एक सुनाइ।
बाजन लाग जुझाऊ हरष न हृदय समाइ ॥

३।११।१०के आगे–कोउ कह सुनहु सत्य हम कहहीं। कानन फिरहिं बीर कोउ अहहीं
एकैं कहा मष्ट भै रहहू। खर के आगे अस जनि कहहू।
बहु बिधि कहत बचन रनधीरा। आए सकल जहाँ रघुबीरा।

३।१२के आगे–घेरि रहे निसिचर समुदाई। दंडक खग मृग चले पराई।

३।१२।७के आगे–भए काल बस मूढ़ सब जानहिं नहिं रघुबीर।
मसक फूँक कि मेरु डर सुनहु गरुड़ मतिधीर ॥

३।१२।८के आगे–आजु भयउ बड़ भाग हमारा। तोहरे प्रभु अस कीन्ह बिचारा

३।१३।३के आगे—एक एक को न सभार। करै तात भ्रात पुकार।
कोउ कहै खर का कीन्ह। जो जुद्ध इन्ह सन लीन्ह।
जाको बान अतिहि कराल। ग्रसै आइ मानहु काल।

३।१३।५के आगे—उमा एक निज प्रभुहिं बस पुनि उनके बड़ भाग।
तरन चहहिं प्रभु सर लगे बिना जोग जप जाग॥

३।१५।८के आगे—अति सुकुमारि पियारि पटतर जोगु न आहि कोउ।
मैं मन दीख बिचारि जहाँ रहै तेहि सम न कोउ॥
अजहुँ जाइ देखब तुम्ह जबहीं। होइहहु बिकल तासु बस तबहीं
जीवन मुक्त लोक बस ताके। दसमुख सुनु सुंदरि असि ताके

३।१५।१०के आगे—बिनु पराध असि हाल हमारी। अपराधी किमि बचिहि सुरारी

३।१५।१२के आगे—भयेउ सोच मन नहिं बिश्रामा। बीतहिं पल मानउ सत जामा

३।१६।७के आगे—रथ अनूप जोरे खर चारी। बेगवंत इमि जिम उरगारी।
छं०—उरगारि सम अति बेगु बरनत जाइ नहिं उपमा कहीं।
सिर छत्र सोभित स्यामघन जनु चँवर सेत बिराजहीं
एहि भाँति नाघत सरित सैल अनेक बापी सोहहीं
बन बाग उपवन बाटिका सुचि नगर मुनि मन मोहहीं।

बहु तड़ाग सुचि बिहग मृग बोलत बिबिध प्रकार
एहि बिधि आएउ सिंधु तट सत जोजन बिस्तार॥

सुंदर जीव बिबिध बिधि जाती। करहिं कोलाहल दिन अरु राती
कूदहिं ते गर्जहिं घन नाईं। महाबली बल बरनि न जाई।
कनक बालु सुंदर सुखदाई। बैठहिं सकल जंतु तहँ जाई॥
तेहिपर दिव्य लता द्रुम लागे। जेहि देखत मुनि मन अनुरागे।
गुहा बिबिध बिधि रहहिं बनाई। बरनत सारद मति सकुचाई
चाहिय जहाँ रिषिन्ह का बासा। तहाँ निसाचर करहिं निवासा
दसमुख देखि सकल सकुचाने। जे जड़ जीव सजीव पराने॥

३।१६के आगे—रा अस नाम सुनत दसकंधर। रहत प्रान नहिं मम उर अंतर।

३।२०।के आगे—सीता लषन सहित रघुराई। जेहि बन बसहिं मुनिन्ह सुखदाई।

३।२०।६के आगे–अस कहि चले तहाँ प्रभु जहाँ कपट मृग नीच।
देव हरष बिसमउ बित्रस चातक बरषा बीच॥
३।२१।४के आगे–सौंपि गए मोहि रघुपति थाती। जौ तजि जाउँ तोष नहिं छाती
यह जिय जानि सुनहु मम माता। पूछत कहहु कवनि मैं बाता॥
३।२१।५के आगे–चहुँ दिसि रेख खँचाइ अहीसा। बारंबार नाइ पद सीसा।
३।२१।६के आगे–चितवहिं लषन सीय फिरि कैसे। तजत बच्छ निज मातुहिं जैसे
एक डर डरपत राम के दूसरि सीय अकेलि।
लषन तेज तन हत भयो जिमि डाढ़ी दव बेलि॥
३।२१।१०के आगे–करि अनेक बिधि छल चतुराई। माँगेउ भीख दसानन जाई
अतिथि जानि सिय कंद मूल फल। देन लगी तेहि कीन्ह बहुरि छल
कह दसमुख सुनु सुंदरि बानी। बाँधी भीख न लेउँ सयानी।
बिधि गति बाम काल कठिनाई। रेख नाँघि सिय बाहर आई।
बिस्वभरनि अघ-दल-दलनि करनि सकल सुर काज।
समुझि परी नहिं समय तेहि बंचक जती समाज।
३।२१।१५के आगे–बायस कर चह खगपति समता। सिंधु समान होहिं किमि सरिता
खरि कि होइ सुरधेनु समाना। जाहि भवन निज सुनु अज्ञाना
३।२२।३के आगे–कैकेइ के मन जो कछु रहेऊ। सो बिधि आजु मोहि दुख दयेऊ
पंचवटी के खग मृग जाती। दुखी भए जलचर बहु भाँती।
३।२२।५के आगे–बहु बिधि करत बिलाप नभ लिए जात दससीस।
डरत न खल बर पाइ मल जो दीन्हेउ अज ईस॥
३।२२।७के आगे–अहह प्रथम तन मम बल नाहीं। तदपि जाइ देखौं बल ताही
३।२२।१४के आगे–मम भुजबल नहिं जानत आवत तपन सहाइ।
समर चढ़इ तो येहि हतौं जियत न निज थल जाइ॥
३।२२।१६के आगे–दसमुख उठि कृत सर संधाना। गीध आइ काटेउ धनु बाना
३।२२।२०के आगे–जेहि रावन निज बस किए मुनिगन सिद्ध सुरेस।
तेहि रावन सन समर कर धीर बीर गिद्धेस॥
सुस्त भए पुनि उठि सो धावा। मरै गीध सनमुख नहिं आवा।
कीन्हेसि बहु जब जुद्ध खगेसा। थकित भयेउ तब जरठ गिधेसा॥

३।२२।२२के आगे—मन महँ गीध परम सुख माना । रामकाज मम लागेउ प्राना
३।२३क।के आगे—उहाँ बिधाता मन अनुमाना । सुरपति बोलि मंत्र अस ठाना ।
तात जनकतनया पहिं जाहू । सुधि न पाव जिमि निसिचरनाहू
अस कहि बिधि सुंदर हबि आनी । सौंपि बहुरि बोले मृदु बानी
एहि भच्छन कृत छुधा न प्यासा । बरष सहस यह संसय नासा
सो प्रसाद लेइ आयसु पाई । चलेउ हृदय सुमिरत रघुराई ।
कछु बासव माया निज मोई । रच्छक रहे गए तहँ सोई ।
तदपि डरत सीता पहिं आएउ । करि प्रनाम निज नाम सुनाएउ
निश्चय जानि सुरेस सुजाना । पिता जनक दसरथ सम माना
करि परितोष दूरि करि सोका । हबिष खवाइ गएउ निज लोका
३।२४।३के आगे—अहह तात भल कीन्हेहु नाहीं । सीय बिना मम जीवन नाहीं
एहि ते कवनि बिपति बड़ि भाई । छाड़ेउ सीय काननहिं आई ॥
३।२४।६के आगे—कानन रहेउ तड़ाग इव चक चकई सिय राम ।
रावन निसि बिछुरन भएउ सुख बीते चहुँ जाम ॥
पर-दुख-हरन सो कस दुख ताही । भा बिषाद तिन्हहूँ मन माहीं
३।२४।१५के आगे—फनि मनिहीन मीन जिमि त्यागत शीतल बारि ।
तिमि ब्याकुल भए लषन तहँ रघुबर दसा निहारि ॥
३।२४।१७के आगे—सर बर अमित नदी गिरि खोहा । बहु बिधि लषन राम तहँ जोहा
सोच हृदय कछु कहि नहिं आवा । टूट धनुष सर आगे पावा ।
कहुँ कहुँ सोनित देखिअ कैसे । सावन जल भर डाबर जैसे ।
कहत राम लछिमनहिं बुझाई । काहू जुद्ध कीन्ह एहि ठाईं ।
३।२६।६के आगे—सब प्रकार तव भाग बड़ मम चरनन्हि अनुराग ।
तव महिमा जेहि उर बसिहि तासु परम जग भाग ॥
बचन सुनत सबरी हरषाई । पुनि बोले प्रभु गिरा सुहाई ॥
३।२६।१०।के आगे—................। मुनिबर बिपुल रहे जहँ छाई ।
रिषि मतंग महिमा गुन भारी । जीव चराचर रहत सुखारी ।
बैर न कर काहू सन कोऊ । जा सन बैर प्रीति कर सोऊ ।

सिखर सुहावन कानन फूले। खग मृग जीव जंतु अनुकूले।
करहु सफल श्रम सब कर जाई।............

किष्किंधाकांड के क्षेपक

४।६।२६ के आगे—सोइ रघुबीर हृदय महँ आनहु। मोहहि छोड़ि कहा मम मानहु॥
४।७।१ के आगे—बालि देखि सुग्रीवहि ठाढ़ा। हृदय क्रोध बहु बिधि पुनि बाढ़ा
४।१०।२ के आगे—पुनि पुनि तासु सीस उर धरई। बदन बिलोकि हृदय मों हनई
मै पति तुम्हहिं बहुत समुझावा। कालबस्य कछु मनहि न आवा
अंगद कहँ कछु कहइ न पाएहु। बीचहि सुरपुर प्रान पठाएहु॥
४।२६।८ के आगे—जो रघुपति चरनन चित लावै। तेहि सम आन न धन्य कहावै
४।२७।२ के आगे—जिमि जिमि मैं रवि निकट उड़ाऊँ। तिमि तिमि मैं बिकल होइ जाऊँ
४।२७।६ के आगे—यह कहि मुनि आश्रम निज गयऊ। तेहि छिन हृदय ज्ञान कछु भयऊ
सदा राम कर सुमिरन करऊँ। एहि बिधि मगु जोवत मैं रहऊँ।
४।२८।१ के आगे—जो कछु करइ राम कर काजू। तेहि सम धन्य आन नहिं आजू

सुंदरकांड के क्षेपक

५।०।६ के आगे—सिंधु बचन उर आनि तुरत उठेउ मैनाक तब।
कपि कहुँ कीन्ह प्रनाम पुलकित तनु कर जोरि कर॥

लंकाकांड के क्षेपक

६।१०७।६ के आगे—संग लिए त्रिजटा निसिचरी। चली राम पहिं सुमिरत हरी॥

चयन

रावण की लंका की ठीक स्थिति

'पूना ओरिएंटलिस्ट' ग्रंथ ६, अंक १-२ में उसके संपादक ने जस्टिस परमशिव ऐय्यर की पुस्तक 'रामायण ऐंड लंका' पर एक उपादेय टिप्पणी लिखी है। कुछ संक्षिप्त रूप में उसका अनुवाद यह है :—

वाल्मीकीय रामायण में वर्णित रावण की लंका की भौगोलिक स्थिति के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद रहा है। साधारण जन के मन में लंका के संबंध में यह बैठा हुआ और गहराई से जमा हुआ है कि वह सीलोन है। दूसरे स्थल—जैसे जनस्थान, पंपासर, ऋष्यमूक और प्रस्रवण पर्वत, किष्किधा, महेंद्रद्वार, लंका के चारों ओर का समुद्र—मद्रास प्रांत में दिखाए जाते हैं, यद्यपि उनकी ठीक स्थितियों के संबंध में समीक्षक विद्वानों को बहुत संदेह रहा है। इंदौर के सरदार किबे ने मध्यप्रांत में अमरकंटक पर्वत पर लंका की स्थिति के विषय में नई स्थापना प्रस्तुत की है। परंतु स्वर्गीय रायबहादुर हीरालाल और प्रो० दा० रा० भांडारकर ने 'झा कमेमोरेशन वाल्यूम' में लंका और दंडकारण्य की स्थिति के विषय में अपने लेखों के द्वारा इस स्थापना का विरोध किया है और दोनों ने सरदार किबे की लंका के संबंध में संदेह प्रकट किया है; क्योंकि चारों ओर की भौगोलिक स्थितियाँ रामायण के पाठ से नहीं मिलतीं।

बंगलोर के जस्टिस परमशिव ऐय्यर महाशय ने १९४० में 'रामायण ऐंड लंका' (रामायण और लंका) पर एक पुस्तक प्रकाशित की है, जिसमें उन्होंने उपर्युक्त स्थानों को—जैसे जनस्थान, पंपासर, सुग्रीव की गुफा के साथ ऋष्यमूक, प्रस्रवण पर्वत जहाँ लंका की चढ़ाई के पूर्व श्रीराम ने वर्षाऋतु के चार मास बिताए थे, महेंद्रद्वार, लंका और त्रिकूट पर्वत तथा त्रिकूट पर्वत के पास सुवेल पर्वत—भूपृष्ठ के मानचित्रों और वाल्मीकीय

रामायण के पाठ से ऐसा ठीक निश्चित किया है कि उनकी स्थापना का निराकरण कठिन है। जबलपुर-वासियों के सौभाग्य से ये सभी स्थान जबलपुर के आसपास हैं। निस्संदेह यह उनके लिये बड़े गर्व का कारण है।

अपितु, उपर्युक्त स्थानों को मार्च १९४१ के तीसरे सप्ताह में पूना ओरिएंटल बुक एजेंसी के प्रबंधक-अधिकारी और 'पूना ओरिएंटलिस्ट' के सह-संपादक डा० एन० जी० सरदेसाई, एल० एम० एस० ने स्वयं देखा और परखा है और उनके तथा हमारे लिये भी यह बड़े आश्चर्य की बात है कि उक्त स्थान वाल्मीकीय रामायण में वर्णित स्थानों से बहुत कुछ मिलते हैं।*

× × × ×

जो भी हो, जस्टिस परमशिव ऐय्यर महाशय की पुस्तक निस्संदेह विचारोत्तेजक है और डा० एन० जी० सरदेसाई द्वारा कम से कम तीन स्थानों की ठीक पहचान मान्यता से प्रमाणित करती है कि ये रामायणकाल के ही हैं। अब यह सभी शोधक विद्वानों का और विशेषत: जबलपुर के विद्वानों का दायित्व है कि इन स्थानों के संबंध में आगे शोध करें और जस्टिस ऐय्यर के आविष्कार की यथार्थता के संबंध में जनता के समाधान के लिये अधिकाधिक प्रमाण प्राप्त करें।

—कृ।

---

* इसके आगे लेखक ने उक्त स्थानों का संक्षिप्त परिचय दिया है जिसे हम स्थानाभाव के कारण रख नहीं सके हैं। पाठक उसे मूल में ही देखें।

—सं०।

समीक्षा

मन के भेद—लेखक प्रो० राजाराम शास्त्री, काशी विद्यापीठ; प्रकाशक अभिनव भारती ग्रंथ-माला, १७१ ए०, हरिसन रोड, कलकत्ता; मूल्य १।) ।

'मन के भेद' नामक पुस्तक, जिसका नाम वस्तुतः 'वैयक्तिक मनोविज्ञान' अथवा 'एडलर का मनोविज्ञान' होना चाहिए था, लिखकर काशी-विद्यापीठ के मनोविज्ञान के अध्यापक प्रो० राजाराम शास्त्री ने अँगरेजी भाषा से अपरिचित हिंदी भाषा जाननेवालों का बहुत उपकार किया है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, एडलर महोदय के मनोवैज्ञानिक विचारों पर, जिनका प्रभाव आजकल शिक्षा-विज्ञान पर बहुत पड़ रहा है, हिंदी भाषा में, इस पुस्तक के अतिरिक्त अभी तक कोई और पुस्तक नहीं प्रकाशित हुई है। इसलिये लेखक और प्रकाशक दोनों ही हिंदी-भाषी ज्ञानपिपासुओं की ओर से धन्यवाद के पात्र हैं। प्रो० राजाराम शास्त्री ने 'वैयक्तिक मनोविज्ञान' के नाम से प्रसिद्ध महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक विचारों को, जिनको एडलर साहब ने (जो योरप के तीन सर्वथा नूतन और मौलिक मनोवैज्ञानिक संप्रदाय के प्रधानतम आचार्यों—फ्रायड-एडलर-युंग—में से एक थे) अपने जीवन भर के व्यावहारिक अनुभव और प्रगाढ़ चिंतन द्वारा खोज निकाला था, सरल और आकर्षक रीति से पाठकों के समक्ष रखने का प्रयत्न किया है। साथ में ही सर्वप्रथम पाठ में उन्होंने 'चित्त-विश्लेषण' का—जिस नाम से फ्रायड-एडलर-युंग का नया संप्रदाय सामान्यतः पुकारा जाता है और जो नाम विशेषतः मौलिक आचार्य स्वर्गीय डा० सिगमंड फ्रायड के विचारों का है—इतिहास देकर पुस्तक की उपयोगिता को बढ़ा दिया है। बिना डा० फ्रायड के विचारों को समझे एडलर और युंग के विचारों का समझना कठिन है। एडलर और युंग दोनों ही फ्रायड महोदय के शिष्य तथा प्रधान सहयोगी रह चुके हैं और दोनों ही के विशेष विचारों का प्रधान आधार फ्रायड के वे सिद्धांत हैं जिनको उन्होंने सर्वप्रथम अपने विस्तृत अनुभवों और गहरे

विचारों द्वारा जाना था। वास्तव में प्रस्तुत पुस्तक 'मन के भेद' नामक ग्रंथ का केवल एक मध्यम प्रकरण ही कही जा सकती है। 'मन के भेद' नामक पुस्तक में तीनों आचार्यों के सिद्धांतों का विस्तृत वर्णन होना आवश्यक था। प्रो० शास्त्री ने केवल एडलर महोदय के विचारों पर पुस्तक लिखकर और उसका नाम 'मन के भेद' रखकर एडलर महोदय को उचित से अधिक महत्त्व दे दिया है। 'चित्त विश्लेषण का इतिहास' बहुत अच्छी भाँति लिखा जाने पर भी इस पुस्तक का एक पाठ मात्र है।

लेखक ने वैयक्तिक मनोविज्ञान को इन विषयों में विभक्त करके उसका विवेचन किया है :—मनोविज्ञान का जीवन में प्रयोग, आत्मग्लानि का व्यावहारिक निरूपण, आत्मश्लाघा, जीवन-प्रणाली, प्राचीन स्मृतियाँ, मनोवृत्तियाँ और चेष्टाएँ, स्वप्न और उनकी व्याख्या, बच्चों की शिक्षण-समस्या, समाजभावना, व्यावहारिक ज्ञान और आत्मग्लानि और विवाह-प्रेम की समस्या। इन सब विषयों पर प्रो० शास्त्री ने एडलर महोदय के विचारों का उदाहरणों द्वारा स्पष्ट निरूपण किया है। लेखक ने स्वयं एडलर महोदय के विचारों को अच्छी तरह और ठीक ठीक समझा है और उन्हें पाठकों को समझाने का प्रयत्न किया है। इतने छोटे आकार की पुस्तक में इससे अधिक और क्या दिया जा सकता था? आशा है कि इस पुस्तक को पढ़कर पाठकों के हृदय में मन के भेदों को अधिकतर जानने की रुचि और उत्कण्ठा पैदा होगी, जिसको तृप्त करने के लिये वे या तो अँगरेजी की पुस्तकें पढ़ेंगे या इस विषय के जाननेवाले आचार्यों के समीप जाने को प्रेरित होंगे।

पुस्तक के अंत में विषयानुक्रमणिका दी गई है, जिससे उसकी उपयोगिता की वृद्धि हो गई है। कहीं कहीं भाषा और छपाई में दोष भी हैं जो, आशा है, दूसरे संस्करण में ठीक कर दिए जायँगे।

—भी० ला० आत्रेय (एम० ए०, डी० लिट्०)।

राजपूताने का इतिहास—प्रथम भाग, लेखक श्री जगदीशसिंह गहलोत, एम० आर० ए० एस०, एंटिक्वेरियन एंड हिस्टोरियन; प्रस्तावना-लेखक रायबहादुर के० एन० दीक्षित, एम० ए०, एफ० आर० ए० एस० बी०, डाइरेक्टर जेनरल आव आर्कियालॉजी इन इंडिया; प्रकाशक हिंदी-साहित्य-मंदिर, घंटाघर, जोधपुर; प्रथम संस्करण सं० १९९४, पृष्ठ-संख्या ४४+७२१+५; चित्र २७८; नकशे ८; मूल्य ५) ।

हमारे समूचे देश का व्यापक, सर्वांगपूर्ण तथा क्रम-बद्ध इतिहास लिखने के लिये अभी तक कोई संतोषप्रद योजना कार्यान्वित नहीं हो सकी। इसके कई कारण हैं। देश का विस्तार, इसकी अति प्राचीन सभ्यता, पुराने भारतीयों का लौकिक यश-गान को उपेक्षा की दृष्टि से देखना, सार्वभौम सत्ता का प्रायः अभाव, समय, संघर्ष और उदासीनता के कारण ऐतिहासिक सामग्री का लोप या विनाश आदि उनमें से कुछ मुख्य हैं। संपूर्ण भारत का प्रामाणिक इतिहास लिखने के लिये यह भी आवश्यक है कि उसके भिन्न भिन्न भागों का क्रमबद्ध प्रामाणिक इतिहास लिखा जाय। ऐसे स्थानीय इतिहास लिखना देशीय इतिहास लिखने से इस अर्थ में सरल है कि लेखक एक निश्चित तथा सीमित क्षेत्र में अधिक अधिकार-पूर्ण पुस्तक लिख सकता है। लेकिन यदि ऐसी प्रामाणिक पुस्तकें प्रायः सभी प्रांतों, प्रांतीय विभागों और रियासतों की लिखी जा सकें तो उनके आधार पर संपूर्ण भारत का इतिहास लिखना कुछ अधिक आसान होगा। इसके अतिरिक्त स्थानीय इतिहास स्थानीय जनता में अपने प्राचीन गौरव का गर्व संचार करते हुए उनकी हीनावस्था या अधोगति के कारणों का विश्लेषण करके उनको उन्नति की ओर अग्रसर करने में सहायक होते हैं। अस्तु, स्थानीय इतिहासों का महत्त्व देशीय तथा स्थानीय दोनों ही दृष्टियों से बहुत अधिक है।

हमारे देश के विभिन्न भागों में राजपूताना एक विशेष ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। हर्ष की मृत्यु के बाद से १९वीं सदी के आरंभ तक राजपूताना एक विस्तृत रणक्षेत्र रहा है। इसने साम्राज्यों का उत्थान-पतन, वीरों का रण-कौशल, वीर रमणियों का उज्ज्वल जीवन और अमर मरण, आततायियों का दमन, संघर्ष, ईर्ष्या और आंतरिक कलह, कला, साहित्य और

धर्म का उत्कर्ष तथा मदिरा, अफीम आदि का सेवन, सभी समय समय पर देखा है। इसके इतिहास में हमें गौरव और गर्व की सामग्री के साथ साथ इस देश की परतंत्रता के कुछ कारण भी सहज ही प्राप्त होंगे। इसके उचित उपयोग से हम अपनी हीनावस्था को दूर करने में सफल हो सकते हैं।

किंतु यह आश्चर्य की बात है कि अभी तक हमारे देश के विभिन्न विद्वान् इतिहास-लेखकों ने समूचे राजपूताने का कोई प्रामाणिक इतिहास प्रकाशित नहीं किया था। श्रीयुत जगदीशसिंह जी गहलोत ने इस कमी को पूरा करने का उद्योग करके राजपूताना-निवासियों तथा इतिहास-प्रेमी जनता का बड़ा उपकार किया है।

लेखक ने पुस्तक की रचना इस प्रकार की है कि वह गजेटियर का कार्य करती हुई साधारण इतिहास का भी कार्य भले प्रकार करती है। पुस्तक के प्रथम भाग में पहले 'राजपूताना' का संक्षिप्त प्राचीन इतिहास, उसके राजवंशों और विजेताओं का उल्लेख, 'राजपूत' शब्द के अर्थ का विश्लेषण, राजपूताने का भौगोलिक वर्णन तथा वहाँ के निवासियों का सामाजिक, धार्मिक, व्यावसायिक, कलात्मक एवं राजनीतिक जीवन का चित्रण किया गया है। इस भाग की साधारण शैली गजेटियर की सी है, लेकिन इसको यथासंभव ऐतिहासिक, सजीव और रोचक बनाने का प्रयत्न किया गया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये लेखक ने राजपूताने से संबंध रखनेवाले प्रमुख व्यक्तियों तथा वहाँ के विभिन्न भागों के सामाजिक चित्र दिए हैं और प्रचलित जन-श्रुतियों तथा कहावतों का उल्लेख किया है।

इसके बाद मेवाड़, डूँगरपुर, बाँसवाड़ा, प्रतापगढ़, शाहपुरा, करौली तथा जैसलमेर राज्यों का वर्णन किया गया है। प्रत्येक राज्य के इतिहास में पहले उसका वर्तमान भौगोलिक, सामाजिक तथा व्यावसायिक वर्णन दिया गया है और वर्तमान शासन-प्रणाली का सूक्ष्म उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् प्रारंभ से लेकर वर्तमान समय तक के शासकों का क्रमानुसार वर्णन किया गया है। उनके जीवन की साधारण घटनाओं के अतिरिक्त उनके शासन-संबंधी सुधारों, प्रजाहितकार्यों तथा धर्म-साहित्य-कला-का भी यथास्थान उल्लेख किया गया है। विवादग्रस्त विषयों

पर प्रामाणिक ऐतिहासिक साधनों के आधार पर प्रकाश डालने का अच्छा प्रयत्न किया गया है।

अंत में राज्य के विभागों, उसके सरदारों आदि का भी संक्षिप्त वर्णन दिया गया है, जो बहुत ही उपादेय है। अँगरेजी सरकार से प्रत्येक राज्य के अहदनामे देकर वर्तमान संबंध को स्पष्ट करने का सुंदर प्रयत्न किया गया है।

पुस्तक में निम्न-लिखित बातों का विशेष ध्यान रखा गया मालूम होता है :—

(१) पुस्तक गजेटियर, इतिहास और डाइरेक्टरी तीनों का ही समुचित रूप से कार्य कर सके।

(२) पाठ्य-सामग्री सजीव तथा रोचक बनाई जाय और साथ ही साथ प्राप्य ऐतिहासिक ज्ञान के आधार पर संकलित हो।

(३) प्रत्येक राज्य की विशेषता स्पष्ट हो जाय और उसके शासक, शासन-प्रबंध तथा जनता की स्थिति ठीक ठीक समझाई जाय। सहानुभूति और निष्पक्षता का अच्छा मिश्रण है।

(४) दर्शनीय स्थानों का ऐसा वर्णन किया जाय जिससे पाठक के हृदय में उन्हें देखने की इच्छा उत्पन्न हो। इसी उद्देश्य से प्रचुर चित्रों का भी समावेश किया गया है।

(५) प्रत्येक राज्य की जनता के खान-पान, पहनावा, धर्म, रीति-रस्म, शिक्षा-दीक्षा आदि पर समुचित प्रकाश डाला जाय।

पुस्तक की छपाई सुंदर और साफ है। 'गेट-अप' भी संतोषजनक है। किंतु इसमें दिए गए नकशे संतोषजनक नहीं हैं। आशा है, वे दूसरे संस्करण में अधिक स्पष्ट, पूर्ण और संकेत-सहित दिए जायँगे।

भाषा, छपाई, सामग्री तथा वर्णन-शैली को दृष्टि में रखते हुए यह पुस्तक एक सुंदर ऐतिहासिक ग्रंथ है जिससे इतिहास-प्रेमियों का बहुत उपकार होगा। इसके लेखक हमारी बधाई के पात्र हैं।

—अवधविहारी पांडेय, एम० ए०।

संक्षेप जीवन और वाणी गुरु तेग बहादुर जी—प्रकाशक, सर्व-हिंद सिक्ख मिशन, अमृतसर (पंजाब), सन् १९३५ ई०, मूल्य ?

यह एक छोटी सी पुस्तिका है। इसके प्रारंभ में गुरु तेगबहादुर जी की संक्षेप में जीवनी दी हुई है; परंतु वाणियाँ इसकी गुरु नानकजी की ही हैं। भक्त गुरु नानक ने राम की भक्ति और स्मरण पर विशेष जोर दिया है। कहीं कहीं एक-दो स्थान पर गोविंद और निरंजन का नाम भी आया है। गुरु नानकजी ने "नानक मुक्ति ताहि तुम मानहु जिहि घट राम समावै" का उपदेशामृत देकर 'राम' को 'अकाल पुरुष' के रूप में देखा है। उन्होंने कहा है:—

"जामें भजन राम का नाहीं।
तिह नर जन्म अकारथ खोया यह राखहु मन माहीं॥"

इस पुस्तिका की भाषा सरल, बोधगम्य और सरस है। इसमें कुल दो या तीन ही 'गाफिल' जैसे अरबी या फारसी के शब्द आए हैं, नहीं तो पदों की भाषा संस्कृत और प्राकृत के ऐसे छोटे छोटे चलते शब्दों से बनी है जो बिना किसी प्रयास के अपने आप पाठकों की समझ में आ जाते हैं। उदाहरण के लिये उसके दो पद नीचे उद्धृत किए जाते हैं:—

"आशा मनसा सगल त्यागे, जग ते रहे निराशा।
काम क्रोध जिहिं परसै नाहिन, तिंह घट ब्रह्म-निवासा॥
भय काहू को देत नहिं, नहिं भय मानत आन।
कहु 'नानक' सुन रे मना, ज्ञानी ताहि बखान॥"

नीचहुँ ऊँच करै मेरा गोविंद—प्रकाशक सर्वहिंद-सिक्ख-मिशन, अमृतसर (पंजाब), सन् १९३५ ई०, मूल्य ?

शिरोमणि-गुरुद्वारा-प्रबंधक कमेटी की ओर से गद्य में निकाली गई यह एक छोटी सी पुस्तक है जो गुरु गोविंदसिंहजी की विशेषताओं पर थोड़े में अधिक प्रकाश डालती है। 'भाई लालो बाढ़ी' और 'मरदाना मीरासी' जैसी इसमें कुछ ऐतिहासिक कथाएँ दी हुई हैं जिनसे यह विदित होता है कि किस प्रकार तत्कालीन समाज के ठुकराए और पददलित हरिजनों (अंत्यजों) को प्रेम से गले लगाकर और उन्हें वास्तविक हरिजन (भगवान्

का भक्त) बनाकर गुरुओं ने अपनी महान् आत्माओं का परिचय दिया था। पुस्तक के अंत में लिखे हुए गुरु गोविंदसिंहजी के कवित्तों में से एक यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"जैसे एक आगले कनूका कोट आग उठै,
न्यारे न्यारे ह्वै के फिर आग में मिलाहिंगे।
जैसे एक धूर ते अनेक धूर पूरित है,
धूर के कनूका फिर धूर में समाहिंगे॥
जैसे एक नद ते तरंग कोटि उपजत है,
पान के तरंग सबै पान ही कहाहिंगे।
तैसे विश्वरूप ते अभूत भूत प्रगट है,
ताही ते उपज सबै ताही में समाहिंगे॥"

आशा की वार—प्रकाशक, सर्व-हिंद-सिक्ख मिशन, अमृतसर (पंजाब), सन् १९३५ ई०; मूल्य ?

पंजाबी भाषा में गुरु नानक की वाणियों का यह एक छोटा सा गुटका है। पंजाबी समझनेवाले भक्तों के लिये यह सचमुच एक अच्छी चीज है। हिंदी के ज्ञाता भी, यदि ध्यानपूर्वक पढ़ें तो, इसे समझ सकते हैं। इसमें भगवद्भजन के पद दिए गए हैं। उनमें से दो-एक नीचे दिए जाते हैं—

"कुदरति दिस्सै, कुदरति सुणिये, कुदरति भउ सुख सारु।
कुदरति नेकीया, कुदरति वदीआ, कुदरति मान अभिमान॥
'नानक' हुक्मै अंदरि देखै वरतै ताके ताक॥"

इन धर्म-संबंधी कई पुस्तकों को देवनागरी लिपि में ज्यों की त्यों प्रकाशित कराकर सर्व-हिंद-सिक्ख मिशन, अमृतसर (पंजाब) ने देवनागरी लिपि और हिंदी भाषा के प्रति अपने बड़े प्रेम का परिचय दिया है।

हमें विश्वास है कि इन पुस्तकों का हिंदी पाठकों में यथेष्ट आदर और प्रचार होगा।

—सच्चिदानंद तिवारी, एम० ए०।

प्रयाग-प्रदीप—लेखक श्री शालिग्राम श्रीवास्तव; प्रकाशक हिंदुस्तानी ऐकेडमी, इलाहाबाद; मूल्य साधारण जिल्द ३॥), कपड़े की जिल्द ४)।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक पुराने साहित्यसेवी हैं। इतिहास से आपको विशेष प्रेम है। समय समय पर पत्र-पत्रिकाओं में आपके खोज-पूर्ण लेख बराबर निकला करते हैं। इस पुस्तक में आपने प्रयाग नगर एवं उसके निकटवर्ती विशिष्ट स्थानों के संबंध में प्रायः सभी ज्ञातव्य बातों का संकलन अनेक पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों, पुराणों, जनश्रुतियों एवं १०-१५ वर्ष के परिश्रम से किया है। आरंभ से लेकर अब तक का इतिहास, विस्तृत भूगोल, निवासियों की रहन-सहन, भाषा आदि; कृषि, वाणिज्य-व्यापार, कला-कौशल, नगर की वर्तमान विभिन्न संस्थाएँ, पुरातत्त्व संबंधी कार्यों एवं प्राचीन स्थानों का विशद वर्णन है। पुस्तक बड़ी उपयोगी है और प्रयाग के संबंध में कुछ जानने के लिये इस पर निस्संकोच निर्भर रहा जा सकता है।

—रामबहोरी शुक्ल।

हिंदी-उपन्यास—लेखक श्री शिवनारायण श्रीवास्तव, एम० ए०, एल-एल० बी०, प्रिंसिपल, गोवर्धन साहित्य महाविद्यालय, देवघर; प्रकाशक, सरस्वती-मन्दिर, काशी; मूल्य २)।

'हिंदी का उपन्यास-साहित्य अपेक्षाकृत नवीन है। फिर भी इस अल्पकाल में ही हिंदी-उपन्यासों की संख्या में जितनी वृद्धि हुई है, वह उनकी लोकप्रियता का परिचय देती है। प्रेमचंद से लेकर अब तक इस क्षेत्र में कितने ही नवीन प्रयोग हुए हैं और होते जा रहे हैं। अपने साहित्य की यह प्रगति अभिनंदनीय है। परंतु हमें संकोच होता है यह देखकर कि इस प्रगति का लेखा लेनेवाले आलोचना-ग्रंथों का प्रायः अभाव सा ही है। हमारे 'उपन्यास-सम्राट्' की 'कला' पर तो थोड़ा-बहुत लिखा भी गया, परंतु अन्य उपन्यासकार समालोचकों की सहानुभूति से वंचित ही रहे। श्रीवास्तव जी ने इस ओर प्रकाश डाला है। वे हमारी बधाई के पात्र हैं।

'हिंदी-उपन्यास' का प्रथम प्रकरण उपन्यास की सीमा निर्धारित करता है। अन्य प्रकार की साहित्यिक कृतियों से उपन्यास का भेद, उपन्यास के तत्त्व, उसके प्रकार आदि का शास्त्रीय ढंग से संक्षेप विवेचन इस प्रकरण का लक्ष्य है। थोड़े में बहुत कहने के प्रयास ने इस प्रकरण को कहीं कहीं क्लिष्ट कर दिया है, परंतु जो कुछ कहा गया है वह स्पष्ट और प्रमाण-पुष्ट है। दूसरे प्रकरण में प्रमाणों के साथ यह दिखाया गया है कि कथा-कहानियों की परंपरा हमारे यहाँ अत्यंत प्राचीन है। यह कोई बाहर की वस्तु नहीं है। इस प्रकरण में लेखक ने यह स्वीकार किया है कि उपन्यासों का आधुनिक ढाँचा पाश्चात्यों की देन है, यद्यपि उपन्यास की भारतीय परंपरा 'कादंबरी' से भी प्राचीन है। तृतीय प्रकरण में हिंदी-उपन्यास के आरंभ काल के लेखकों का उल्लेख है। इसमें सैयद इंशा अल्ला खाँ से लेकर देवकीनंदन खत्री, किशोरी-लाल गोस्वामी एवं गोपालराम गहमरी सभी आ जाते हैं। इनमें, जैसा कि लेखक ने स्वीकार किया है, अधिकांश को उपन्यासकार कहा ही नहीं जा सकता, परंतु विकास दिखाने के लिये उनका उल्लेख आवश्यक था। लेखक ने देवकीनंदन खत्री का महत्त्व बड़ी सहृदयता से स्वीकार किया है। चतुर्थ प्रकरण में श्रीप्रेमचंद से लेकर आज तक के प्रमुख उपन्यास-कारों का संक्षिप्त विवेचन है। इन लेखकों का कोई ऐतिहासिक क्रम नहीं है। अच्छा होता यदि लेखक या तो जन्मकाल अथवा रचनाकाल के विचार से इनका क्रम रखता। इस प्रकरण से यह स्पष्ट है कि लेखक ने केवल सुनी-सुनाई अथवा पढ़ी-पढ़ाई बातों पर ही विश्वास नहीं कर लिया है, वरन् कृतियों को पूरा पूरा पढ़कर अपनी स्वतंत्र सम्मति निर्धारित की है। प्रत्येक लेखक की संक्षिप्त परंतु स्पष्ट आलोचना की गई है, थोड़े में ही उनकी विशेषताओं एवं त्रुटियों का दिग्दर्शन करा दिया गया है। यह अवश्य है कि ये आलोचनाएँ पूर्ण नहीं हैं। किंतु लेखक का यह अभीष्ट भी नहीं था। उसने केवल उपन्यास का विकास दिखाते हुए मुख्य मुख्य विशेषताओं का उल्लेख मात्र किया है। इस तरह सीमाबद्ध होकर लेखक ने जिस विशदता, परख और अंतर्दृष्टि का परिचय दिया है वह बहुत श्लाघ्य है।

पुस्तक की लेखन-शैली बड़ी सरस और सुबोध है। भाषा संस्कृत-गर्भित हिंदी है, यद्यपि अवसरानुकूल उर्दू वाक्यों और मुहावरों का प्रयोग भी बेधड़क किया गया है। भाषा और शैली में प्रवाह है। एकाध स्थान पर अँगरेजी ढंग की वाक्य-रचना है, जो कि अँगरेजी का अनुवाद जान पड़ती है। उदाहरणार्थ पृष्ठ ६३ पर "हमारी अनुभूतियों में सभी प्रकार और सभी मात्राओं के कलामूल्य हैं"। श्रीवास्तव जी स्यात् जोंक अथवा उसके क्रिया-कलाप से परिचित नहीं हैं; अन्यथा वे जोंकों का कुरेदना न लिखते। जोंक कुरेदती नहीं, चूसती है। इनके अतिरिक्त भाषा संबंधी दो-एक भूलें हैं।

इस सुंदर और सुसज्जित पुस्तक में सबसे बड़ा दोष छपाई का है। प्रूफ-संशोधन बड़ी असावधानी से किया गया है जिसके कारण छापे की अनेक भूलें रह गई हैं। कहीं कहीं तो ये भूलें इतनी भद्दी हैं कि मानी-मतलब सब खब्त हो जाता है, वाक्य के वाक्य छूट गए हैं।

मानव—लेखक श्री श्यामबिहारी शुक्ल 'तरल'; प्रकाशक, साहित्य-निकेतन, कानपुर; डबल क्राउन १६ पेजी आकार के ६६ पृष्ठ; मूल्य ।।)।

'तरल' जी एक उदीयमान सहृदय भावुक कवि हैं। अकिंचन मानव के संबंध में मननशील रहते रहते उसकी क्षुद्रता की समय-समय पर जैसी भावना उनके हृदय में उठी है, उसे उन्होंने सहज-सीधी भाषा में पद्यबद्ध किया है। इसमें खड़ी बोली और सवैया छंद का व्यवहार हुआ है। भाषा सरल है, उसमें प्रवाह है। वर्ण्य-विषय से एकतान होकर भाव सीधे हृदय को स्पर्श करते हैं। मानव कितना क्षुद्र, उसका अहंकार कितना थोथा, महत्त्वाकांक्षा कितनी निस्सार एवं उसकी क्षमता कितनी नगण्य है इसका बड़ा सुंदर वर्णन कहीं कहीं देखने को मिलता है और पुस्तक समाप्त होने पर हम थोड़ी देर के लिये अस्तव्यस्त-से हो उठते हैं। 'तरल' जी की इस कृति को अपनाकर हिंदी-जगत् उन्हें प्रोत्साहित करेगा, ऐसी आशा है।

—रामबहोरी शुक्ल

स्वस्तिका—लेखक श्री० निरंकार देव सेवक ; प्रकाशक हिंदी-प्रचारिणी सभा, बरेली कालेज, बरेली; मूल्य ||=) ।

प्रस्तुत संग्रह जीवन की असफलताओं से दुखी और निराश हृदय का स्फुट राग है, जिसपर कसक और विप्रलंभ की स्पष्ट छाया है। करुणा और अतीत की स्मृति से प्रकर्ष को प्राप्त होकर वह राग जहाँ-तहाँ मधुर हो उठा है—

विश्व के सुषमा-सदन में मैं चला सुख खोजने तो
घन तिमिर में रात के रोती मिली संध्या सुनहरी।
गान पर मेरे न हो क्यों वेदना की छाप गहरी ॥

तृष्णा-जनित ममत्व और अपरिसर्पणीय रूप-लालसा के पीछे पड़कर अंत में प्राणी विषाद और विरक्ति की जिस परिस्थिति को प्राप्त होता है, इन गीतों के कवि का मन भी उसी अवस्था का अनुगामी प्रतीत होता है। 'जगत् मिथ्या है', अतृप्त राग के बाद विराग की यही भावना इन रचनाओं का विचारात्मक आधार है। अपने चारों ओर दुश्चिंतन, अवसाद, वेदना तथा अतृप्त आकांक्षाओं के विध्वंस के अतिरिक्त उसे कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता। उसके लिये ये ही जीवन की वास्तविकताएँ हैं। शांति और छुटकारे की खोज में उसका त्रस्त, पराजित और घबराया हुआ पलायनशील मन 'नश्वर जगत् को त्याग' क्षितिज के पार भागना चाहता है; पर वहाँ भी उसे शांति मिलेगी, इसका उसे विश्वास नहीं। 'संभव है......।'

मुक्ति और शांति की खोज में क्षितिज पार जानेवाले इस कच्चे दार्शनिक को यह नहीं ज्ञात है कि मोक्ष और शांति का किसी ग्राम या पुर में निवास नहीं जहाँ उससे भेंट की संभावना हो। शांति तो जानकार के लिये यहीं है।

पहली कविता में मेघदूत के यक्ष की भाँति कविजी अपने 'विहग-कुमार' से मन का बोझ हलका करने के लिये अपने हृदय की बात कह गए हैं। इसमें वस्तु निर्वाह आधुनिक विश्व-स्थिति को लेकर अच्छा हुआ है।

एक प्रतिहतगति भिन्न तुकवाली कविता (?) को छोड़ प्रायः सब एक ही छंद में हैं। शब्दयोजना सरल एवं सप्रभाव है। भाषा चलती और

मुहावरेदार होती हुई भी असावधानी के दोषों से रिक्त नहीं। कहीं प्रबंध-शैथिल्य है तो कहीं अन्विति का अभाव। मात्रा, छंद, क्रम सब ठीक होते हुए भी यतिस्थल पर शब्दों के अंगच्छेद से उत्पन्न हतवृत्त दोष भी कम नहीं। जैसे जी—वन, पर—देसी, निस्वा—र्थी, स्व—च्छंद, सुकु—मारियों आदि। ग्राम्य और अप्रचलित प्रयोगों की भीड़ भी घनी है। यथा—रवि बाबा का आगम, पस्त-पलक, 'मधुमास से बयाबाँ बसाऊँ'। आएँ के स्थान पर 'आँय', समाधि के लिये 'समाधी', सीख के लिये 'सिख', विजयी के लिये 'विजयि' का प्रयोग भी अधिकार का दुरुपयोग मात्र है। 'बन जाना तुम राधा मानी' और 'अनेकों' भी चिंत्य हैं। धड़ाधड़ कविता पुस्तकों के प्रणयन में यत्नवान् व्यक्ति का इस ओर ध्यान न देना शुभ नहीं।

इन सब के होते हुए भी कविताएँ साधारणतः अच्छी हैं। कवि के स्वप्नों और उसकी कल्पनाओं में अनुभूति की सचाई अपने अव्यभिचरित आशय से उद्भासित है। अंतर्भावों की यही निरीह और सीधी-सादी व्यंजना इनकी विशेषता है। दूसरी बात है, कवि की अपने विचारों में वह निष्ठा जिसकी अभिव्यक्ति में बनावट से कहीं भी काम नहीं लिया गया है।

—रा० ना० श०।

प्रेमोपहार—लेखक और प्रकाशक खुशीराम शर्मा वाशिष्ठ, विशारद, प्रेमकुटीर, महम (रोहतक); डबल क्राउन १६ पेजी; पृष्ठ ६०, मूल्य ।≡)।

कवि की स्फुट कविताओं का यह प्रथम संग्रह है। रचनाएँ भिन्न भिन्न विषयों पर हैं और अधिकांश अनुभूति की उद्भावना से प्रेरित हैं। विषय-निरूपण तथा भावाभिव्यंजन में कवि को कहीं कहीं यथेष्ट साफल्य लाभ हुआ है। उक्तियाँ कहीं सरस तथा मर्मस्पर्शी हैं, कहीं सीधे-सादे ढंग की और कहीं चिंत्य—

निस्सार कौन कहता है यह, तुम देखो इसका सार प्रिये !
करते हैं इस जीवन से ही, हम वह जीवन तैयार प्रिये !

—'स्मृति में' से

अंतस्तल की चिर पीड़ा, लिखते लिखते दृग हारे।
लिख न सके पर हाय, बहाकर भी ये प्रबल पनारे॥
—'अनुरोध' से

पंजाबी साँचे की ऐसी भाषा के प्रयोग का नियंत्रण आवश्यक है—

जागो तुमने ही भारत का, नव इतिहास बनाना है,
जागो तुमने ही नव-राष्ट्र-पताका को फहराना है॥
—'जागो' से

सहृदय पाठकों की ओर से कवि को निराशा न होनी चाहिए। वह स्वयं तो यथेष्ट आशान्वित है ही—

मैं आज रचूँगा सृष्टि एक, चिर अमर रहे जिसमें बहार;
शत शत जय लाती हो जिसमें, मानव-जीवन की एक हार॥
—'शुभ मिलन' से

कवि का स्वागत हमारा कर्तव्य है और लोक-कल्याण के निमित्त उसकी मंगलमयी वाणी का विकास हमारी कामना।

—शं० वा०।

——

महाभारत—रचयिता श्री श्रीलाल खत्री; प्रकाशक महाभारत पुस्तकालय, अजमेर। "गद्य में लिखी पुस्तक को एक ही मनुष्य एक समय पढ़ सकता है अथवा दस बीस मनुष्यों को सुना सकता है इसलिये ऐसी पुस्तक का ज्ञान प्रत्येक मनुष्य के हृदय में उत्पन्न होने में बहुत विलंब लग जाता है परंतु यदि वही पुस्तक पद्य में हो और वह भी यदि हारमोनियम तथा तबले पर गाई जा सके तो एक ही समय में सैकड़ों मनुष्य सुन सकते हैं।......मैंने देखा था कि कीर्तन-कलानिधि पंडित राधेश्यामजी की रामायण सुनकर सभी मनुष्य मुग्ध हो गए थे। मैंने विचारा कि महाभारत भी इसी तर्ज में हो तो मनो जन के साथ साथ भारतवासियों के हृदय पर अपने पूर्वजों के गुणों का चित्र पूर्णतया अंकित हो जाय।...सर्वसाधारण के लिये महाभारत को संक्षिप्त करके २२ हिस्से कर दिए हैं, लेकिन इस बात का पूरा पूरा यत्न किया गया है कि महाभारत की कोई भी मुख्य कथा न छूटने पावे।" बाईसों भागों के पृथक् पृथक् नाम—भीष्म-प्रतिज्ञा, पांडवों का जन्म, पांडवों की

अस्त्रशिक्षा, पांडवों पर अत्याचार, द्रौपदी-स्वयंवर, पांडवराज्य, युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ आदि हैं। फुटकर अंकों में किसी का मूल्य ।) है और किसी का ।–)। बाईसों भागों का मूल्य ६।) होता है।

रचना का उद्देश्य ऊपर उद्धृत रचयिता के वाक्यों से प्रकट हो ही गया है; रही बात रचना की परख की, सो यह कथा-वाचक की शैली के अनुकरण का प्रयास है। जिस श्रेणी की जनता के उपयोग के लिये इसकी रचना हुई है उसको पसंद आ जाने में ही इसकी उपयोगिता है। सन् १९२५ में इसका प्रथम संस्करण हुआ था, तब से एकाधिक बार मुद्रित होने से जान पड़ता है कि लोगों में इसकी माँग है। रचना की आदरणीयता के लिये रचयिता को जो प्रशंसापत्र मिले हैं उनमें से कुछ तृतीय संस्करण में छापे गए हैं, इससे भी पूर्वोक्त बात पर प्रकाश पड़ता है। यह सब होने पर भी एक बात कहनी पड़ती है कि रचयिता ने शब्दों के रूपों की कुछ चिंता करना आवश्यक नहीं समझा। सहष्य, धनुवी, भीषम, देवव्रत, सत्यव्रती, भूमी, ज्येष्ट, धराश्यायी, अवनेश, भक्ती, दर्श, मनोर्थ आदि इसके उदाहरण हैं। पद्यों की भाषा भी यत्र-तत्र कुंठित सी है। जैसे—"इसमें तीनों ने तन तजकर, निज कर्मनुसार लोक पाया। कुंती ने पुत्रों का मुँह लख, जैसे तैसे मन समझाया। फिर राजमहल में रहन लगे, पांडव और कौरव गन सारे।" किंतु टकसाली भाषा के प्रयोग का भी सर्वथा अभाव नहीं है—"मृगया को इक दिन गए, पांडु भूप रणधीर। मृग का जोड़ा देखकर मारा तककर तीर।". "किया कार्म अपराध का, क्षमा किस तरह होय। कैसे, बड़ के वृक्ष से, केला पैदा होय॥"[१] में तो नई उपमा है ही।

—ल० पा०।

रक्षाबंधन (नाटक)—लेखक श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'; प्रकाशक हिंदी-भवन, अनारकली, लाहौर; मूल्य ॥।≈)।

प्रस्तुत नाटक में 'प्रेमी'जी ने महाराणा संग्रामसिंह (साँगा) की मृत्यु के उपरांत उनके उत्तराधिकारी अल्पवयस्क पुत्र विक्रमादित्यसिंह की विलास-प्रियता, नैतिक पतन, राजपूत सरदारों की पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष तथा

मनोमालिन्य के कारण मेवाड़ की जर्जर एवं शक्तिहीन दशा का चित्रण किया है। इसके पश्चात् राणा साँगा की दो विधवा पत्नियों जवाहरबाई और कर्मवती ने किस प्रकार युवक राणा विक्रमादित्य को पतन के गर्त्त में गिरने से बचाया और उन्हें तथा समस्त राजपूत सरदारों को मेवाड़ की परंपरागत वीरता तथा शौर्य का स्मरण करा उनमें अपूर्व शक्ति और साहस का संचार कर कर्त्तव्यपथ पर आरूढ़ किया, इसका सजीव वर्णन इस नाटक की विशेषता है। अपने गौरव और मर्यादा की रक्षा के लिये मेवाड़ अपना सर्वस्व उत्सर्ग करने में सदा से प्रसिद्ध रहा है। इसी घटना का चित्रण इस नाटक में हुआ है।

रक्षाबंधन की कथावस्तु रोचक तथा हृदयस्पर्शी है। कथा यह है कि गुजरात के बादशाह बहादुरशाह का भाई चाँद खाँ उसका कोपभाजन बनकर वहाँ से भाग निकलता है और मेवाड़ में जाकर शरण लेता है। बहादुरशाह एक दूत द्वारा यह कहला भेजता है कि यदि चाँद खाँ मेवाड़ की सीमा से बाहर नहीं निकाल दिया जाता तो मैं उस पर आक्रमण कर उसे विध्वस्त कर दूँगा। वीर राजपूत अपने गौरव तथा मर्यादा की रक्षा के लिये इस प्रस्ताव को ठुकरा देते हैं और फलस्वरूप बहादुरशाह मेवाड़ पर आक्रमण कर देता है। जवाहरबाई और कर्मवती के प्रोत्साहन से राजपूत बड़ी वीरता से लड़ते हैं; किंतु बहादुरशाह की सेना और युद्ध-सामग्री के आगे उनका निरंतर क्षय होता है। अंत में अन्य किसी प्रकार की सहायता की आशा न रहने पर कर्मवती हुमायूँ को अपना भाई मानकर सहायता के लिये उसके पास राखी भेजती है। हुमायूँ इस राखी का महत्त्व समझकर मेवाड़ की सहायता के लिये चल देता है; किंतु उसके पहुँचने के पूर्व ही मेवाड़ का पतन हो जाता है। कर्मवती के साथ अन्य सभी स्त्रियाँ जौहर करके अपने सतीत्व की रक्षा करती हैं। हुमायूँ को अपने देर में पहुँचने पर अत्यंत परिताप होता है। वह बहादुरशाह को पराजित करके वहाँ से भगा देता है और मेवाड़ के सिंहासन पर फिर से विक्रमादित्य को बैठाता है।

'रक्षाबंधन' 'प्रेमी' जी की सफल रचना है। कथावस्तु के संगठन, पात्रों के चरित्र-चित्रण तथा कथोपकथन आदि सभी दृष्टि से यह नाटक

उत्कृष्ट है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में लेखक को सबसे अधिक सफलता मिली है। पुरुष पात्रों में हुमायूँ, बाघसिंह (विक्रमादित्यसिंह के चाचा) तथा विजय (स्वर्गीय राणा रत्नसिंह का पोता) के चरित्र विशेष सुंदर हैं। स्त्री पात्रों में कर्मवती और जवाहरबाई का चित्रण आदर्श राजपूत रमणी के रूप में हुआ है। इस नाटक में स्त्री-पात्रों से ही पुरुष पात्रों को कर्मपथ पर अग्रसर होने का प्रोत्साहन मिला है। श्यामा (विजय की माँ) लेखक की कोमल सृष्टि है। उसका चरित्र-चित्रण बहुत सुंदर तथा हृदयस्पर्शी है। उसका यह गान—

अविरत पथ पर चलना री।

गति, जीवन का चरम लक्ष्य है विरति, मुक्ति सब छलना री।

अंत तक हमें प्रभावित करता है। श्यामा का चित्र हमारे हृदय पर स्थायी प्रभाव डालता है।

'रक्षाबंधन' में शिष्ट हास्य का समावेश बड़े कौशल से किया गया है जो उपयुक्त और मर्यादित है। इसके लिये लेखक ने परंपरागत 'विदूषक' की कल्पना न करके नाटक के दो पात्रों—मेवाड़ के सेठ धनदास और उसके पुत्र मौजीराम—के वार्त्तालाप में उसका समावेश किया है।

रंगमंच की सुविधाओं का इसमें भरसक ध्यान रखा गया है, जिससे इसका सरलतापूर्वक अभिनय हो सकता है।

परंतु इस सफल नाटक में एक बात खटकती है। वह यह है कि लेखक ने हिंदू-मुसलिम-ऐक्य की भावना को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है जो एक तो इतिहास-सम्मत नहीं, दूसरे रस-दृष्टि से भी नाटक को दोष-युक्त बनाती है।

आहुति (नाटक)—लेखक श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'; प्रकाशक हिंदी भवन, अनारकली, लाहौर; मूल्य ।।=)।

'आहुति' में रणथंभौर के प्रसिद्ध वीर हम्मीरदेव की कथा है। लेखक के 'रक्षाबंधन' तथा प्रस्तुत 'आहुति' में कथावस्तु की रूपरेखा और उसके विकासक्रम में अत्यधिक साम्य है। वेश्या-विलास, शरणागत की रक्षा का आग्रह, राखी उत्सव का आयोजन, साका और सर्वनाश आदि सब

कुछ वही है, केवल घटना और पात्रों के नाम भिन्न हैं। लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है—

"अपने नाटकों में 'रक्षाबंधन', 'स्वप्नभंग' और यह 'आहुति' घटना-चक्र की समानता के कारण एक ही प्रकार के जान पड़ते हैं।"

'आहुति' व्यर्थ ऐतिहासिक नाटक कहा गया है; क्योंकि इसमें इतिहास की माँग पूरी नहीं हुई। ऐतिहासिक नामों के ग्रहण मात्र से कोई रचना उस कोटि में परिगणित नहीं हो सकती। 'आहुति' में कथा का अंतरंग और पात्रों का चरित्र-चित्रण इतिहास-सम्मत नहीं है। लेखक का कहना है—

"मैं इन काव्यों से चंद्रशेखर, ग्वाल और जोधराज और इतिहास से सिवाय नामों के और कुछ नहीं ले सका हूँ। नाटक की कथावस्तु, घटना-क्रम और भावनाएँ मेरी कल्पना और अनुभूति के ताने-बाने से बनी हैं।"

अतः यह स्पष्ट है कि 'आहुति' में लेखक का व्यक्तित्व प्रधान है और इतिहास गौण, जो वांछनीय नहीं। ऐतिहासिक नाटक की सफलता के लिये लेखक को देश-काल की वर्तमान स्थिति को प्रायः विस्मृत कर भूत में प्रविष्ट होना अपेक्षित है।

इन दोनों नाटकों में लेखक ने स्थान स्थान पर अर्वाचीन विचार और भावनाओं का समावेश करके अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा की है। यथा—

जवाहर—मुसलमान भारत के शत्रु हैं।

कर्मवती—ऐसा न कहो। उन्हें भी तो भारत में जीना मरना है। हमारी तरह भारत उनकी भी जन्मभूमि हो चुकी है। अब उन्हें काफिले में लादकर अरब नहीं भेजा जा सकता। उन्हें यहाँ रहना पड़ेगा और हमें उन्हें रखना पड़ेगा। (रक्षाबंधन, पृष्ठ ३२)

"हाँ बहन, राक्षस हो गया है। मनुष्य के स्वार्थ ने दूसरों पर प्रभुत्व जमाने की इच्छा पैदा की। जैसे बैलों को हम जुए में कसते हैं, उसी तरह बहुत से मनुष्य गरीब लोगों को दास बनाकर उनसे तरह तरह का काम लेते हैं, स्वयं मौज उड़ाते हैं और उनसे काम कराते हैं। हम अपने बैलों को पेट भर घास-दाना तो देते हैं, अपनी छान में उन्हें बाँधते तो हैं, लेकिन

मनुष्य तो अपने दासों को न पेटभर खाना देता है न रहने को घर। जिन्हें हम राजा, रईस, सेठ-साहूकार कहते हैं, उनका यही चित्र है, बहन !"

('आहुति', पृष्ठ ६१)

"केवल क्षत्रिय के यहाँ जन्म लेने से ही कोई क्षत्रिय नहीं हो जाता।"

(वही, पृष्ठ ६२)

इनमें इतिहास की दृष्टि से भयानक और अक्षम्य भूलें हैं। तेरहवीं शताब्दी में इन विचारों की कल्पना तक दुस्साध्य थी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'प्रेमी' जी के नाटक कुमारी लज्जावती की प्रेरणा से एक विशेष उद्देश्य से लिखे गए हैं और वह उद्देश्य है—सांस्कृतिक और राष्ट्रीय एकता। इसी आवेश में 'आहुति' के मीर महिम" और मीर गभरू का चरित्र अतिरंजित होकर अस्वाभाविकता की सीमा को पहुँच गया है।

'आहुति' में लेखक को यथेष्ट सफलता नहीं मिली। 'रक्षाबंधन' को पढ़ने के उपरांत 'आहुति' का हम पर कोई विशेष और स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता। राजस्थान की ऐसी अपूर्व और रोमांचकारी घटना का आश्रय लेकर भी लेखक अपने श्रम को सार्थक नहीं कर सका। नाटक का संपूर्ण वैभव और सौंदर्य दूसरे अंक के पाँचवें दृश्य का 'चल अभागे छोड़कर घर' वाला गीत है।

—महेशचंद्र गर्ग, एम० ए०।

गाड़ीवालों का कटरा—तीन भाग। लेखक अलेक्जेंडर क्यूप्रिन, अनुवादक श्री चंद्रभाल जौहरी; प्रकाशक—सरस्वती प्रेस, बनारस; मूल्य ॥) प्रति भाग।

प्रस्तुत उपन्यास 'हंस-पुस्तक' के अंतर्गत तीसरी, चौथी और पाँचवीं पुस्तक है। अँगरेजी की Pelican और Penguin Series के अनुकरण पर हिंदी में भी 'माया सीरीज', 'सरस्वती सीरीज' आदि निकली हैं, जिनका उद्देश्य सस्ते मूल्य पर उच्च कोटि का साहित्य प्रस्तुत करना है। इनके प्रकाशक इस कारण धन्यवादार्ह हैं। 'हंस-पुस्तक' भी ऐसी ही एक पुस्तकमाला है।

यह उपन्यास प्रसिद्ध रूसी लेखक अलेक्जेंडर क्यूप्रिन के 'यामा दि पिट' का हिंदी अनुवाद है। उपन्यास यथार्थवादात्मक है। यहाँ पर यथार्थ-वाद बनाम आदर्शवाद के झगड़े पर विचार करने का न तो अवकाश ही है और न अवसर ही; फिर भी इतना निवेदन अवश्य करूँगा कि हिंदी में प्रचलित यथार्थवाद से यह भिन्न है। यथार्थ का उद्देश्य है हमारी कुरीतियों एवं बुराइयों के प्रति, उनके यथार्थ चित्रों द्वारा, हमारी घृणा जाग्रत् करना, सहानुभूति-पूर्वक उनके उन्मूलन की ओर निर्देश करना एवं उनके निवारण के उपायों की ओर संकेत करना। इस दृष्टि से यथार्थ एवं आदर्श में तत्त्वतः कोई भेद नहीं रह जाता। उनका उद्देश्य है बुराइयों की भीषणता की ओर आकृष्ट करना। परन्तु इसके विपरीत हमारे हिंदी के उपन्यासकारों की यथार्थता में उन बुराइयों एवं कुरीतियों के प्रति आकर्षण होता है, उनसे घृणा नहीं होती। कुरीतियों की भयानकता के प्रति आकर्षण दूसरी बात है और स्वयं कुरीतियों के प्रति बिलकुल उल्टी बात है। क्यूप्रिन अपनी कला द्वारा हमारी घृणा एवं सहानुभूति जाग्रत् करने में समर्थ होता है।

उपन्यास का विषय है वेश्यावृत्ति। प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति एवं प्रत्येक समाज में इस वासना के दूषित, विषैले कीटाणु प्रविष्ट हैं, जो उसकी जीवन-शक्ति को भीतर ही भीतर खाकर खोखला किए देते हैं। समस्या एकदेशीय नहीं, सर्वदेशीय है। क्यूप्रिन ने यद्यपि रूस की ही दशा का दिग्दर्शन कराया है, परंतु फिर भी जिन कारणों एवं परिस्थितियों की ओर उसने संकेत किया है, वे सर्वमान्य होंगे। उसके अनुसार वेश्यावृत्ति एक ओर तो रोटी की समस्या है और दूसरी ओर काम-वासना की तृप्ति की। परंतु उसने इसका कोई समाधान नहीं बताया है। रोग की भयंकरता समझकर उसका निदान करके भी वह उसकी औषधि न बता सका। उसने स्वयं इस बात को अपनी भूमिका में स्वीकार किया है।

पुस्तक की सर्वप्रियता तो इसी से प्रमाणित है कि इसका अनुवाद संसार की प्रायः प्रत्येक भाषा में हो चुका है। केवल कथा की दृष्टि से इसे पढ़नेवाले पाठकों को स्यात् निराशा ही हो। कथा-सूत्र संगठित नहीं है, बिखरा हुआ है। वेश्यावृत्ति पर स्थान स्थान पर जो वाद-विवाद हैं वे भी,

संभवतः साधारण पाठकों को नीरस प्रतीत हों; परंतु लेखक की विचार-धारा से परिचित होने के लिये वे आवश्यक हैं। समाज के जिस नरक का लेखक हमें दिग्दर्शन कराता है वह वास्तविक है। चित्र यथातथ्य प्रस्तुत किया गया है, आकर्षक बनाने का प्रयत्न नहीं किया गया है। लेखक में इन अभागिनियों तथा पतिताओं के प्रति बहुत ममता, दया एवं सहानुभूति है। किंतु साथ ही साथ वह कठोर तथा निर्भीक भी है।

अनुवाद अच्छा है। भाषा सरल है। अनुवादक ने यथासंभव मूल के निकट रहने का प्रयत्न किया है। वाक्यों के विन्यास में यदि अधिक सतर्कता से काम लिया जाता तो अच्छा होता। कहीं कहीं वे अँगरेजी ढंग के हो गए हैं।

आरंभ के १४ पृष्ठों में मूल लेखक तथा अनुवादक की भूमिकाएँ हैं और अंत में परिशिष्ट के रूप में २२ पृष्ठों में अनुवादक ने भारत की वेश्यावृत्ति की समस्या पर विचार किया है। दोनों ही पठनीय एवं सारगर्भित हैं।

छपाई-सफाई अच्छी है। दाम भी कम है। पुस्तक परिपक्व बुद्धि के पाठकों के पढ़ने के योग्य है। आशा है, समाज की समस्याओं पर विचार करनेवाले इसका आदर करेंगे।

—रामचंद्र श्रीवास्तव, एम० ए०।

कानन—लेखक श्री जानकीवल्लभ शास्त्री; प्रकाशक पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय; पृष्ठ २०७, मूल्य १।।)।

ग्यारह कहानियों का यह संग्रह 'कानन' भावों की बीहड़ता और विचारों की गहनता से युक्त है। 'प्राथमिकी' में जहाँ लेखक ने 'कानन' को 'खनखनाते झाड़ों-(झाड़)झंखाड़ों का झारखंड बताते हुए भाषा की अठखेलियाँ दिखाई हैं, वहाँ 'Instinct', 'Germ' और 'Excellent!' 'Next to shelley' जैसे अँगरेजी शब्दों और उक्तियों का, हिंदी अनुवाद के बिना ही, असंयत प्रयोग भी किया है।

'कानन' की 'पहली आजमाइश' से हिंदी के कथा-साहित्य को कोई नूतन विचारधारा मिलने की आशा व्यर्थ होगी। संग्रह की प्रारंभिक कहानियों में विस्तार और विश्लेषण है, अंत में यह स्थान संक्षेप और चयन ने लिया है। लेखक ने तथ्यवाद को विशेषता दी है, पर अनेक स्थलों पर लेखक सुरुचि की सीमा का अतिक्रमण करता दिखाई पड़ता है।

'कानन' का ललित चरित्र की शिथिलता के कारण लीला या कानन की अपेक्षा हृदय को कम स्पर्श कर पाता है। माता से कानन का संलाप भी अति क्रांतिकारी हो गया है। 'भाई-बहन' कहानी की शांति प्रेमचंद की मुलिया (घासवाली) नहीं, जो चरित्र-बल से शासन करना जाने, और सुशीलकुमार में भी चैनसिंह जैसा उतार-चढ़ाव नहीं, पर उसमें मानव-समाज की हृदयहीनता का पूरा निदर्शन हुआ है। 'गंगा' का चरित्र अपनी स्पष्टवादिता में आकर्षक है।

'विनाश के पथ पर' चलनेवाली सुवासिनी के साथ परिवार की नैतिकता का दिवाला तथा सुधारवादी मित्रों की पाशविक फिसलन को लेखक ने बारीकी से देखा है। पैना और नुकीला व्यंग्य इस कहानी की विशेषता है। 'दो दोस्त' में चापलूसी से आत्मा को कुंठित न करनेवाले भाग्यवादी रामकुमार और काम करते करते मर जाना अच्छा समझनेवाले कर्मशील आनंदशंकर का सुंदर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। 'ईश्वर' कहानी के सभी पात्रों का व्यक्तित्व अपने में पूर्ण है। 'इतना नीच, इतना आवारा, बिल्कुल गांधी निकला' में महात्मा जैसे जनसेवकों के लिये भी घृणा उँडेलनेवाले वैद्यजी जैसे ब्राह्मणों के समाज में अभी बहुत दिनों कमी न होगी, पर अंततोगत्वा उन्हें यही सुनने को मिलेगा—'हमेशा के लिये तुम्हारे घर से ईश्वर रूठ गया।'

'मीना' कहानी में दीनता का हाहाकार और परिवार की यातनाओं की अच्छी झलक है। 'वेश्या' में पन्ना और नीलम के जीवन में मानसिक द्वंद्व लेखक की बड़ी सफलता है। 'पैसे की पहचान' में आज का शिक्षित जीवन सचाई के साथ पैसे की दौड़ में अशिक्षितों से आगे दिखाया गया है। 'रोदन का राग' की नंदरानी का प्रश्न 'क्या अब भी तुम्हें मेरे रोने में राग

नहीं मिलता ?' करुणा का स्वाभाविक उद्रेक करता है। 'पंडितजी' का चरित्र तो अपने छींटों के कारण एक सुंदर व्यंग्य चित्र है।

लेखक की भाषा सरल और सरस है, व्यंग्य ने उसे चटपटा भी बनाया है; यथा—'हिंदी के अत्याधुनिक प्रगतिशील कवियों की भाँति नक्की स्वर से', 'चश्मे का जुकामी पानी', 'कमबख्ती की कूँ', 'स्वयं शिशिर नजरुल की साहित्यिक मुर्गी के अंडे हैं'। किंतु 'सुसराल' (ससुराल), 'सील' (सिल), 'फन सीधी कर ली', 'रौशनदार आँखें', 'चरण-कमलों को मद्दनजर रख', 'मेरे देखते ही में वह हला' जैसे अशुद्ध और अशोभन प्रयोग भी हैं। फिर भी 'कानन' की कहानियाँ मनोरंजक हैं, और लेखक के उज्ज्वल भविष्य का विश्वास दिलाती हैं।

देवता—लेखक, श्री राधाकृष्णप्रसाद; प्रकाशक, पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय; पृष्ठ ८२, मूल्य ।।=)।

आलोच्य पुस्तक में नौ कहानियाँ और छः शब्दचित्र संगृहीत हैं। श्री शिवपूजनसहाय ने 'अभिमत' में 'देवता' के 'चंदन-चर्चित और पुष्प-पूजित' होने की आकांक्षा प्रकट की है। श्री रामवृक्ष बेनीपुरी का मत 'भाषा में रवानी है, गति है; भावों में नौजवानी है, प्रगति है' अवश्य एक संयत प्रोत्साहन है। पुस्तक में किशोरों का ही (तरुणों का भी नहीं) आदर्श प्रायः चित्रित है, यह इसकी नवीनता है।

कहानियों में 'हुरिया' एक योग्य कृति है। 'अग्रदूत' जैसे शब्दचित्रों में वर्णन-कौशल है। 'एक टक से', 'सामने में' जैसे प्रयोगों के होते हुए भी लेखक की भाषा में सजीवता है। आशा है, सहृदयजन इसका यथेष्ट स्वागत करेंगे।

—हरिमोहनलाल वर्मा, बी० ए०।

रोगविज्ञानम्—लेखक श्री सुरेंद्रकुमार शर्मा; प्रकाशक, के० सुरेंद्र एंड को०, चिड़ावा (जयपुर स्टेट); मूल्य २।।)।

आयुर्वेदाचार्य पं० सुरेंद्रकुमार जी ने यह पुस्तक संस्कृत पद्यमय लिखकर संस्कृतज्ञ वैद्यों का उपकार करने का साहसिक उद्यम किया है। विषय-

संकलन अच्छा है। किंतु व्याकरण और काव्यकला का अभाव शल्यवत् दुःखद है। यदि पंडितजी वैयाकरण-किरातों से भयभीत न होकर किसी विज्ञ मर्मविद् शब्दशास्त्री से पुस्तक का संशोधन कराकर प्रकाशित करते तो यह संकलन बहुत ही उपादेय होता। आशा है, द्वितीय संस्करण में यह संशोधन कर पुस्तक की उपयोगिता बढ़ाएँगे। अन्यथा अथ से इति तक प्रत्येक पद्य में व्याकरण, काव्यकला और छंदोभंग के दोष पुस्तक को अपाठ्य बना देते हैं।

भारत में कुनैन का व्यापार—लेखक और प्रकाशक नहीं, मूल्य -)।

यह पुस्तिका एक नोटिस के तौर पर लिखी गई है। लेखक ने क्विनाइन की उत्पत्ति विषय की जाँच खूब की है और कुनैन के तरतम को भी समझाने का यत्न किया है। पर विज्ञ समाज पर इस प्रकार के लेखों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लेखक को उचित है कि 'स्कूल आव ट्रोपिकल मेडिसिन' के अध्यक्ष डा० कर्नल चोपरा के पास अपने आविष्कृत कुनैन की पर्य्याप्त मात्रा भेजकर रोगियों पर परीक्षा कराएँ और उसका फल प्रकाशित करें। साथ ही अपने यहाँ एक चिकित्सालय में टिपिकल मलेरिया के रोगियों को रखकर कुनैन के प्रभाव की परीक्षा जनता के सामने रखें। गुणग्राही जनता उसको अवश्य अपना लेगी और कविराज जी के आविष्कार से संसार का परम उपकार होगा। यह विज्ञान-युग है। वैज्ञानिक रीति का अवलंबन किए बिना काम चल नहीं सकता।

—क० प्रतापसिंह।

चंद्रगुप्त मौर्य और एलेक्जेंडर की भारत में पराजय—लेखक प्रो० हरिश्चंद्र सेठ एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन) एवं श्री कैलाशचंद्र सेठ, साहित्यरत्न; प्रकाशक राज पबलिशिंग हाउस, बुलंदशहर। पृष्ठ-संख्या १९२, मूल्य १)।

लेखक ने चंद्रगुप्त मौर्य संबंधी ऐतिहासिक सामग्री का नए दृष्टिकोण से अध्ययन किया है। उनकी मुख्य स्थापनाएँ ये हैं—चंद्रगुप्त वीर अश्वक

(=अफगान) नामक क्षत्रिय जाति का नेता था। शशिगुप्त, जिसे अर्रियन ने अश्वकों का क्षत्रप कहा है, चंद्रगुप्त ही था। वह सिकंदर से मिला था और सिकंदर ने आरनस (Aornos) के दुर्ग के संरक्षण का भार उसे सौंपा था। पश्चात् सिकंदर और पोरस का युद्ध हुआ। पोरस और मुद्राराक्षस का पर्वतेश्वर एक ही व्यक्ति थे। झेलम के युद्ध में यूनानी लेखकों ने जो सिकंदर की विजय-कहानी लिखी है, वह स्वभावतः एकपक्षीय और अतिरंजित थी। अर्रियन के एक प्रमाण के अनुसार सिकंदर भारतीय युवराज के हाथों घायल हुआ और उसका घोड़ा बुकाफिलस मारा गया (पृ० १३) *। लेखक के अनुसार (पृ० १७) इथिओपिया के प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर श्री बैज ने सिकंदर का जीवनचरित लिखते हुए झेलम के युद्ध के वर्णन में लिखा है—'पोरस के विरुद्ध युद्ध में एलेक्ज़ेंडर के अधिकांश घुड़सवार मारे गए। इस कारण उसकी सेना शोक से व्यथित हो दीन स्वर में रोने और चिल्लाने लगी। सैनिकों ने अपने हाथों से हथियारों को फेंक अलेक्ज़ेंडर को त्याग कर शत्रु की ओर जाना चाहा। जब एलेक्ज़ेंडर को, जो स्वयं ही बड़ी विपत्ति में था, यह विदित हुआ तो वह युद्ध को रोकने की आज्ञा देकर इस प्रकार प्रलाप करने लगा—"ओ भारतीय राजा पोरस, मुझे क्षमा कर। मैं तेरे शौर्य और बल को पहचान गया हूँ। अब विपत्ति नहीं सही जाती, मेरा हृदय पूर्ण व्यथित है। इस समय मैं अपने जीवन को अंत करने की इच्छा करता हूँ, परंतु मैं यह नहीं चाहता कि ये समस्त लोग जो मेरे साथ हैं

* 'Other writers say that while the troops were landing an encounter took place between the Indians who had come with the son of Poros and Alexander at the head of his cavalry, and that as the son of Poros had come with a superior force Alexander himself was wounded by the Indian prince and that his favourite horse Brukephalos was killed having been wounded, like his master, by the son of Poros.'

Mc Crindle, Invasion by Alexander, p. 101.

बरबाद हों; क्योंकि मैं ही वह व्यक्ति हूँ जो इन्हें यहाँ मौत के मुख में लाया हूँ। यह एक राजा के लिये किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं है कि वह अपने सैनिकों को मृत्यु के मुख में ढकेल दे।" (The Life and Exploits of Alexander from Ethiopic Texts by E. A. W. Badge) यूनानी लेखकों ने झेलम के युद्ध में सिकंदर को विजेता लिखा है, परंतु उन्हीं के कथनानुसार पौरव के साथ जो व्यवहार सिकंदर को करना पड़ा वह आज भी सत्य के दूसरे पक्ष को देखने के लिये हमें विवश करता है। अरियन कहता है कि सिकंदर ने तक्षशिला-नरेश आंभि के हाथ संधि का संदेश भेजा, परंतु यदि देशद्रोही आंभि भाग न आता तो अवश्य ही उसका वध कर दिया गया होता। कर्तिअस के अनुसार सिकंदर का प्यारा घोड़ा घावों से लोहूलुहान होकर इसी युद्ध में धराशायी हुआ। जो तक्षशिला का राजा आंभि पहले जा चुका था, उसी का भाई दूसरी बार संधि के लिये भेजा गया। परंतु पोरस ने ऊँचे स्वर में गरजकर कहा 'यही देशद्रोही तक्षशिलेश का बंधु है' और यह कहकर तत्काल भाले का एक ऐसा भरपूर हाथ मारा कि बरछा उसके कलेजे को छेदकर पीठ की ओर जा निकला, और वह वहीं ढेर हो गया। पौरव से मित्रता स्थापित करने के इस असफल उद्योग के बाद सिकंदर ने अरियन के अनुसार 'पोरस के पास संदेशे पर संदेशे भेजे, और अंत में मेरु (Meroes) को भेजा जो भारतीय था और पोरस का पुराना मित्र था।' इस संधि-प्रणय का जो फल हुआ वह अवश्य हमें सशंक करता है। न केवल राजा पौरव का पुराना राज्य उनके पास अखंड बना रहा, वरन् उससे भी अधिक विस्तृत राज्य की सीमाएँ उसको प्राप्त हुईं।

लेखक ने सिद्ध किया है कि चंद्रगुप्त मौर्य का नंद वंश से कुछ संबंध न था। नीच कुल की एक पत्नी मुरा से मौर्य की उत्पत्ति मुद्राराक्षस के टीकाकार ढुंढिराज (१७१३ ई०) की मनगढ़ंत है जिसका कोई वृत्तांत अठारहवीं सदी से पहले नहीं प्राप्त होता।

'वृषल' शब्द, जिसका प्रयोग मुद्राराक्षस में चंद्रगुप्त के लिये हुआ है, शूद्र का वाची नहीं है। "विजयतां वृषलः', 'वृषलः समाज्ञापयति' आदि स्थलों पर वह राजा का पर्याय मात्र है। एक हस्तलिखित प्रति में, जिसका

उपयोग प्रो० तैलंग ने किया था, 'विजयतां वृषलः' (अंक ३) के स्थान पर 'विजयतां देवः' पाठ है। अंतिम अंक में चाणक्य मौर्य-सम्राट् चंद्रगुप्त का मंत्री राक्षस से मेल कराते समय भी उसे 'वृषल' कहता है जहाँ किसी प्रकार के कुत्सित भाव की गुंजायश ही नहीं है। प्रो० सेठ के अनुसार वास्तविक बात यह है कि अरियन आदि पुराने इतिहासकारों ने चंद्रगुप्त को सदैव "इंडियन बसिलिओ" कहकर पुकारा है। ग्रीक शब्द 'बसिलिओ' (Basileus) का ही संस्कृत रूप वृषल (प्राकृत रूप बसल) था। यूनानी राजाओं के अनेक भारतीय सिक्कों पर राजा का पर्यायवाची ग्रीक 'बसिलिओ' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यदि यूनानियों के विजेता चंद्रगुप्त के लिये यह उपाधि प्रयुक्त हुई हो तो आश्चर्य नहीं। चंद्रगुप्त मौर्य शुद्ध क्षत्रिय-वंशी था। बौद्ध-साहित्य में 'मोरिय खत्तियों' का वर्णन है। खानदेश जिले के वाघली स्थान के एक मध्यकालीन शिलालेख में मौर्यों को सूर्यवंशी एवं मांधाता के कुल में उत्पन्न कहा गया है।

चंद्रगुप्त की गांधार देश में उत्पत्ति, चंद्रगुप्त के साम्राज्य के अंतर्गत मध्य एशिया के प्रांत एवं खोतन (चीनी तुर्किस्तान) का प्रदेश, दक्षिण भारत पर चंद्रगुप्त की विजय, एवं आर्य चाणक्य और चंद्रगुप्त की महत्ता का वर्णन करनेवाले अध्याय भी रोचक और विचार-पूर्ण हैं। चंद्रगुप्त प्राचीन भारत का सबसे महान् सम्राट् हुआ है। मैक्रिंडिल और स्मिथ जैसे लेखकों ने मुक्त कंठ से उसकी गणना इतिहास के सबसे महान् और सफल अधिपतियों में की है। आर्य चाणक्य के मस्तिष्क की प्रशंसा में जो भी कहा जाय कम है। राजनीति शास्त्र के विद्वान् लेखक ऑयलर ने 'चांसलर चाणक्य' नामक पुस्तक में अर्थशास्त्र में प्रतिपादित राष्ट्र-प्रबंध की श्रेष्ठता और व्यावहारिकता को स्वीकार करते हुए लिखा है—अर्थशास्त्र एक प्रतिभावान् मस्तिष्क की उपज है...और यह ग्रंथ राजनैतिक विचार-धारा की पराकाष्ठा को पहुँचा दिया गया है। अर्थशास्त्र में तंत्र और अभिचार संबंधी जो अंतिम प्रकरण में औपनिषदिक या रहस्य प्रयोग हैं, उनके कर्तृत्व पर लेखक की शंका उचित ही है। सैकड़ों वर्षों बाद भी कामंदक ने चाणक्य को प्रणाम करते हुए लिखा था:—

वंशे विशालवंशानामृषीणामिव भूयसाम्।
अप्रतिग्राहकाणां यो बभूव भुवि विश्रुतः॥
जातवेदा इवार्चिष्मान् वेदान् वेदविदां वरः।
योऽधीतवान् सुचतुरश्चतुरोऽप्येकवेदवत्॥
नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्रमहोदधेः।
समुद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे॥

'विशाल वंश वाले अनेक त्यागी ऋषियों के कुल में जन्म लेकर जो संसार में प्रसिद्ध हुआ, वेदज्ञों में श्रेष्ठ अग्नि के समान तेजस्वी जिस महात्मा ने चारों वेदों का एक लक्ष्य से अध्ययन किया एवं जिस प्रतिभाशाली पुरुष ने अर्थशास्त्र-रूपी समुद्र को मथकर नीतिशास्त्र रूपी अमृत का उद्धार किया, उस विष्णुगुप्त को प्रणाम है।' ऐसे दो उदात्त मस्तिष्कों के संबंध में नए दृष्टिकोण से हमारा ध्यान खींचने के लिये प्रो० सेठ बधाई के पात्र हैं।

—वासुदेवशरण।

हिंदी शिक्षण-पत्रिका: भेंट अंक—वर्ष ७, अंक १२; संपादक श्री० ताराबहन मोड़क, श्री० काशिनाथ त्रिवेदी और श्री० बंसीधर; वार्षिक मूल्य १), इस अंक का ≈); प्रकाशक श्री० ताराबाई मोड़क, शिक्षण-पत्रिका कार्यालय, हिंदु कालनी, दादर।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक शोधों से शिक्षण के क्षेत्र में नया आलोक आया है, नई चेतना जगी है। मानव-व्यक्तित्व के बहुविध विकास की सूझ और समझ से शिक्षण-कर्म में नए, मौलिक प्रयोग हुए हैं और मौलिक सिद्धांत निर्णीत हुए हैं। आधुनिक शिक्षण का उद्देश्य शिष्य अर्थात् बालक का स्वस्थ विकास है। समाज में मनुष्य का स्वस्थ विकास इसका पावन संदेश है। सभी सभ्य देशों में आधुनिक शिक्षण का स्वागत हो रहा है; क्योंकि इसका संदेश सबको प्रिय है। हमारे देश में भी अनेक संस्थाएँ आधुनिक शिक्षण के अनुसार महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही हैं। किंतु अभी

साधारण जन की उदासीनता के कारण उन्हें यथेष्ट सफलता नहीं मिली है और इसके संदेश का यथेष्ट प्रचार नहीं हुआ है।

हिंदी शिक्षण-पत्रिका हिंदी में आधुनिक शिक्षण का साधारण जन में प्रचार करनेवाली पहली पत्रिका है और अब भी इसकी विशेषता बनी हुई है। बालशिक्षण के महत्त्वपूर्ण कार्य में हमारे देश में स्वर्गीय आचार्य गिजुभाई बधेका का नाम स्मरणीय रहेगा। उनकी प्रतिभा ने सुयोग्य शिक्षिका श्री० ताराबहन मोड़क के सहयोग से पहले गुजराती में शिक्षण-पत्रिका चलाई। सात वर्ष हुए, श्री० काशिनाथ त्रिवेदी के उत्साह-पूर्ण सहयोग से उसका यह हिंदी रूप निकलने लगा है। आचार्य गिजुभाई ने मातापिताओं और शिक्षकों के लिये आधुनिक शिक्षण के सिद्धांतों और प्रमाणों को निरूपित करने की जो सरल और सरस भाषा-शैली बनाई, वह अब भी इस पत्रिका की विशेषता है। उपादेय और उपयोगी सामग्री के संकलन और उसके सरस उपस्थापन की जैसी मर्यादा इस पत्रिका ने इस सातवें वर्ष की समाप्ति तक निबाही है, उसके लिये इसके संपादक बधाई के पात्र हैं।

पत्रिका का समीक्ष्य अंक इसकी एक नई विशेषता है। यह बच्चों की, 'बालदेवता' की भेंट है। वर्ष के अंतिम अंक में बच्चों के लिये मनोरंजक शिक्षणसामग्री उपस्थित करने की यह नई योजना है। यह अंक बालोपयोगी साहित्य का एक सुंदर नमूना है। इसमें काल्पनिक कहानियों, परिचयात्मक गद्यकविताओं, उत्साहपूर्ण तथा विनोदपूर्ण कविताओं एवं वर्णनात्मक चुटकुलों का ३२ पृष्ठों में बहुत सरस संकलन है। इसमें वर्तमान संपादकों के अतिरिक्त स्व० गिजुभाई की भी कुछ सुंदर रचनाएँ हैं। इनमें 'डा० रवींद्रनाथ ठाकुर', 'माता मोंटीसोरी', 'गिजुभाई क्या थे ?' कंस मामा,' 'आओ प्यारे बच्चो! आओ!' 'टन् टन् टन् टन्!' तथा 'खटमल' विशेष उल्लेखनीय हैं। इस अंक की सभी रचनाओं में अनुकूल लयात्मकता है, जो बाल-साहित्य में बहुत वांछनीय होती है। इसने इस अंक को बहुत सजीव बनाया है।

आरंभिक 'नैवेद्य' में संपादक ने बच्चों को इस अंक की भेंट करते हुए कहा है—"सात बरस से हम तुम्हारे माता-पिता की और तुम्हारे गुरुजनों

की सेवा कर रहे हैं। सात बरस हुए, हमने हिंदी में, हिंदीवालों के सम्मुख, तुम्हारी हिमायत शुरू की है। हम नहीं जानते कि हमारी हिमायत का क्या असर हुआ है। हम जानना चाहते हैं, पर कोई हमें बताता नहीं। शायद अभी हमारी हिमायत कमजोर है। शायद हमारी पुकार में जितना बल चाहिए, आया नहीं है।" इत्यादि। ऐसी उपयोगी पत्रिका को यह लिखने की आवश्यकता न होनी चाहिए। हम सविश्वास आशा करते हैं कि इसके अगले वर्ष में हिंदी-भाषी माता-पिता और शिक्षक इसका यथेष्ट स्वागत करेंगे और आधुनिक शिक्षण के प्रचार के महत्त्वपूर्ण कार्य में यह उत्तरोत्तर सफल होती रहेगी।

—कृ।

समीक्षार्थ प्राप्त

अभिनवमेघ—लेखक कालिदास; अनुवादक श्री अनिरुद्ध; प्रकाशक स्वतंत्र कार्यालय, झाँसी; मूल्य ॥)।

असमिया साहित्य की रूपरेखा—लेखक श्री विरंचिकुमार बरुआ; प्रकाशक राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, गुवाहाटी; मूल्य ॥)।

आदमी की कीमत—लेखक श्री रामनरेश त्रिपाठी; प्रकाशक हिंदी-मंदिर, प्रयाग; मूल्य ≈)।

आदर्श नरेश—लेखक और प्रकाशक, श्री झाबरमल्ल शर्मा; ठि० रामदान साहब, प्रतापगढ़, राजपूताना; मूल्य २॥)।

आधुनिक कवि—लेखिका श्री० महादेवी वर्मा; प्रकाशक हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग; मूल्य १॥)।

आधुनिक हिंदी साहित्य—संपादक श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन; प्रकाशक अभिनव भारती ग्रंथमाला, १७१ ए, हरिसनरोड, कलकत्ता; मूल्य २)।

उन्मुक्त—लेखक श्री सियारामशरण गुप्त; प्रकाशक साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी; मूल्य १)।

उर्दू हिंदी प्राइमर—लेखक श्री बिहारीलाल; प्रकाशक यंगमैन ऐंड कंपनी, नई सड़क, दिल्ली; मूल्य -) ।

एक सत्यवीर की कथा—लेखक श्री गांधीजी; प्रकाशक सस्ता साहित्य-मंडल, नई दिल्ली; मूल्य -) ।

कँटीले तार भाग १-२—लेखक श्री हालकेन, अनुवादक श्री श्यामू संन्यासी; प्रकाशक सरस्वती प्रेस बनारस; मूल्य ||) ।

कजली कौमुदी—संग्रहकर्त्ता श्री कमलनाथ अग्रवाल; प्रकाशक काशी-पेपर स्टोर्स, बुलानाला, बनारस; मूल्य १) ।

कथा कहानी और संस्मरण—लेखक श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय; प्रकाशक जैन संघटन सभा, दिल्ली; मूल्य १) ।

करुण तरंगिणी—लेखक और प्रकाशक, श्री गांगेय नरोत्तम शास्त्री, २८०, चित्तरंजन एवन्यू, कलकत्ता; मूल्य १) ।

कांकरोली का इतिहास—लेखक श्री व्रजभूषणलाल गोस्वामी; प्रकाशक श्रीविद्याविभाग, कांकरोली; मूल्य ५) ।

कार्ल और अन्ना—लेखक श्री लियन हार्डफ्रैंक; अनुवादक श्री देवराज उपाध्याय; प्रकाशक सरस्वती प्रेस, बनारस; मूल्य ||) ।

कोकिला—लेखक श्री रमणलाल बसंतलाल देसाई; अनुवादक श्री गौरीशंकर ओझा; प्रकाशक सरस्वती प्रेस, बनारस; मूल्य १||) ।

गर्जन—लेखक और प्रकाशक, श्री भगवतशरण उपाध्याय, सरस्वती मंदिर, जतनबर; मूल्य १||) ।

गल्पमंजुल—लेखक और प्रकाशक, डा० श्री रघुवरदयाल, ५८, लाज रोड, लाहौर; मूल्य ||=) ।

गृहस्थों को सदुपदेश—लेखक श्री शिवानंद सरस्वती; प्रकाशक हिंदी दिव्य जीवनग्रंथमाला, पो० सिलाव, पटना; अमूल्य ।

चंडीचरित्र सटीक—लेखक श्री गुरु गोविंदसिंह; प्रकाशक गुरांदित्ता खन्ना, चौक लोहगढ़, अमृतसर ।

चर्खाशाला—लेखक श्री मन्नूलाल शर्मा 'शील'; प्रकाशक डा० गिरिवर-सहाय सक्सेना, स्वल्प विश्राम, बांदा; मूल्य ||) ।

चौबोली—लेखक श्री कन्हैयालाल सहल; प्रकाशक सूर्यकरण पारीक स्मारक साहित्य समिति, बिड़ला कालेज, पिलानी, जयपुर स्टेट; मूल्य ॥) ।

छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय—लेखक श्री श्यामाचरण दुबे; प्रकाशक ज्ञानमंदिर, छत्तीसगढ़; मूल्य ।≈) ।

जीवन के गान—लेखक श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन'; प्रकाशक प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद; मूल्य १) ।

ज्योति—लेखक श्री अंबिकाप्रसाद; प्रकाशक शारदा प्रेस, नया कटरा, इलाहाबाद; मूल्य १॥) ।

डायरी के कुछ पन्ने—लेखक श्री घनश्यामदास बिड़ला; प्रकाशक सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली; मूल्य ॥।) ।

तत्त्वार्थसूत्र—लेखक श्री आत्मारामजी; प्रकाशक रत्नादेवी जैन, लुधियाना ।

तुलसीचर्चा—लेखक श्री रामदत्त भारद्वाज; प्रकाशक लक्ष्मी प्रेस, कासगंज; मूल्य २) ।

तुलसी समाचार—लेखक और प्रकाशक श्री रामचंद्र वैद्य शास्त्री, सुधा-वर्षक प्रेस, अलीगढ़; मूल्य ।) ।

दीनबंधु को श्रद्धांजलियाँ—लेखक श्री प्रभुदयाल विद्यार्थी; प्रकाशक पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय; मूल्य १।) ।

दुर्गावती—लेखक श्री राजेश्वर गुरु; प्रकाशक किरणकुंज, भोपाल; मूल्य ।≈) ।

देशी राजाओं का दर्जा—लेखक श्री प्यारेलाल नागर; प्रकाशक सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली; मूल्य ।) ।

द्विवेदी-काव्यमाला—संपादक श्री देवीदत्त शुक्ल, प्रकाशक इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग; मूल्य २) ।

नया हिंदी साहित्य : एक दृष्टि—लेखक श्री प्रकाशचंद्र गुप्त, प्रकाशक सरस्वती प्रेस, बनारस; मूल्य ॥) ।

नेमिदूत—लेखक और प्रकाशक कुँवर श्री हिम्मतसिंह, भेसरोडगढ़, पो० सिगोली, वाया नीमच, ग्वालियर स्टेट; मूल्य ।–) ।

पंचप्रदीप—लेखक श्री कमानसिंह 'चंचल'; प्रकाशक एम० बी० जैन ऐंड ब्रदर्स, लश्कर, ग्वालियर; मूल्य ॥/)।

पदार्थविज्ञान और चिकित्सा—लेखक और प्रकाशक श्री अंबिकाचरण कविराज, काशी; मूल्य १)।

प्रलयवीणा—लेखक श्री सुधींद्र; प्रकाशक सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली; मूल्य १)।

प्रेमचंद—लेखक श्री रामविलास, शर्मा; प्रकाशक सरस्वती प्रेस, बनारस; मूल्य २)।

प्रेमचंद और ग्राम-समस्या—लेखक श्री प्रेमनारायण टंडन; प्रकाशक रामप्रसाद एंड संस, आगरा; मूल्य ॥=)।

प्रेमोपहार—लेखक और प्रकाशक, श्री खुशीराम शर्मा, प्रेमकुटीर, महम, रोहतक; मूल्य ।≡)।

बारक छाया—लेखक श्री बागी रियासती; प्रकाशक प्रदीप-कार्यालय, मुरादाबाद; मूल्य अज्ञात।

बिखरे विचार—लेखक श्री घनश्यामदास बिड़ला; प्रकाशक सस्ता साहित्य-मंडल, नई दिल्ली; मूल्य २)।

भगवान रविदास की सत्यकथा—लेखक श्री रामचरन कुरील; प्रकाशक अछूत-साहित्य-मंडल, ६६ सदर बाजार, कानपुर; मूल्य १।)।

भजन संगीत—लेखक और प्रकाशक, संगीत-विभाग, बिड़ला कालेज, पिलानी; मूल्य ।)।

मनोहर कहानियाँ भाग १-२—लेखक श्री सत्यजीवन वर्मा; प्रकाशक शारदा प्रेस, नया कटरा, इलाहाबाद; मूल्य ॥=)।

महाकवि हरिऔध—लेखक श्री धर्मेंद्र ब्रह्मचारी; प्रकाशक रामनारायनलाल, कटरा रोड, इलाहाबाद; मूल्य १)।

मुक्तिगान—लेखक श्री काशीराम शास्त्री; प्रकाशक आचार्य नरेंद्रनाथ, शिक्षासदन, संतनगर, लाहौर; मूल्य ॥)।

युद्ध गोहार—लेखक और प्रकाशक, ठा० शिवकुमारसिंह, बनारस; मूल्य ।)।

यूरोपीय युद्ध और भारत—लेखक श्री गाँधीजी और श्री जवाहरलाल नेहरू; प्रकाशक सस्ता साहित्य-मंडल, नई दिल्ली; मूल्य १) ।

रामायणरस—लेखक और प्रकाशक श्री जगन्नाथप्रसाद विशारद, एम० ए०, एल्-एल० बी०, वकील, देवरिया; मूल्य ।) ।

लेखरत्नमंजूषा भाग १—लेखक श्री भगवदाचार्य; प्रकाशक महंत श्री रामदास, रामगलोले जी का मंदिर, लहरीपुरा, बड़ौदा; मूल्य १०) ।

विश्वज्ञान—लेखक श्री केदारनाथ गुप्त; प्रकाशक केसरवानी पब्लिशर्स, दारागंज, प्रयाग; मूल्य ॥=) ।

वैकाली—लेखक श्री जगदंबाप्रसाद 'हितैषी'; प्रकाशक शारदा सेवक सदन, लखनऊ; मूल्य १॥) ।

शारीरशास्त्रांतील पारिभाषिक शब्द—लेखक एन० एस० सहस्रबुद्धे प्रकाशक, भिसे ब्रदर्स सीतावाडी, नागपुर; मूल्य अज्ञात ।

शेखर : एक जीवनी—लेखक श्री 'अज्ञेय'; प्रकाशक सरस्वती प्रेस, बनारस; मूल्य ३) ।

शेष स्मृतियाँ—लेखक महाराजकुमार श्री रघुवीरसिंह; प्रकाशक हिंदी-ग्रंथरत्नाकर कार्यालय, बंबई; मूल्य २) ।

षड्दर्शनसमन्वय—लेखक श्री ओमानंदस्वामी; प्रकाशक प्रदीप-कार्यालय, मुरादाबाद; मूल्य ॥) ।

संघर्ष—लेखक और प्रकाशक श्री भगवतशरण उपाध्याय, सरस्वती मंदिर जतनबर, बनारस; मूल्य १॥) ।

संसार का भविष्य—लेखक श्री जगदंबाप्रसाद जौहरी; प्रकाशिका शन्नोदेवी जौहरी, ११०/१०३ श्रीनगर, कानपुर; मूल्य ।) ।

संसार की शासन-प्रणालियाँ और आज का यूरोपीय युद्ध—लेखक श्री रामचंद्र वर्मा; प्रकाशक सस्ता साहित्य-मंडल, नई दिल्ली; मूल्य १॥) ।

सवेरा—लेखक और प्रकाशक श्री भगवतशरण उपाध्याय; सरस्वती-मंदिर जतनबर, बनारस; मूल्य १॥) ।

सात इनकलाबी इतवार, भाग १-२—लेखक श्री रेमन सेंडर, अनुवादक श्री नारायणस्वरूप माथुर; प्रकाशक सरस्वती प्रेस, बनारस; मूल्य १॥) ।

सेवाधर्म और सेवा मार्ग—लेखक श्री श्रीकृष्णदत्त पालीवाल; प्रकाशक सस्ता साहित्य-मंडल, नई दिल्ली; मूल्य १) ।

सोने की माया—लेखक श्री किशोरलाल घ मशरूवाला ; प्रकाशक सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली; मूल्य =) ।

स्त्रियों के व्रत, त्यौहार और कथाएँ—लेखक श्री रामदत्त भारद्वाज; प्रकाशक लक्ष्मी प्रेस, कासगंज; मूल्य ||) ।

स्नेहयज्ञ, भाग १·२—लेखक श्री रमणलाल बसंतलाल देसाई; अनुवादक श्री श्यामू संन्यासी; प्रकाशक सरस्वती प्रेस, बनारस; मूल्य १) ।

हाथ की भाषा—लेखक और प्रकाशक श्री बलदेवप्रसाद शुक्ल; २४ बहादुरगंज, इलाहाबाद; मूल्य ||) ।

हिंदियों की राष्ट्रभाषा केवल हिंदी है—लेखक और प्रकाशक पंडित तुलसीदत्त 'शैदा', लाहौर; अमूल्य ।

हिंदी खिलौना—निर्माता और प्रकाशक, श्री शेरसिंह, बिजनौर; मूल्य २) ।

हिंदी स्वयं शिक्षक—लेखक श्री बिहारीलाल; प्रकाशक यंगमैन ऐंड कंपनी, नई सड़क, दिल्ली; मूल्य –) ।

विविध

पारिभाषिक शब्द-संग्रह

हमारे वाङ्मय की व्यवस्थित उन्नति के लिये पारिभाषिक शब्दों का निश्चय बहुत आवश्यक कार्य है। पिछले वर्ष इसी स्कंध में 'भारत की प्रादेशिक भाषाओं के लिये समान वैज्ञानिक शब्दावली' के विषय पर लिखते हुए हमने निवेदन किया था कि "आधुनिक भारतीय भाषाओं के लिये समान वैज्ञानिक शब्दावली का निश्चय राष्ट्रीय महत्त्व का कार्य है। इसका संपादन भारतीय दृष्टि से व्यापक और गंभीर विचार के द्वारा होना चाहिए। यह कार्य देश के कितने ही अधिकारी व्यक्तियों और संस्थाओं ने, जब से भारत की आधुनिक भाषाओं में वैज्ञानिक तथा शास्त्रीय रचनाएँ होने लगीं तब से ही, किया है। उन्होंने प्रथमतः अपनी अपनी प्रादेशिक भाषाओं के लिये ही शब्दावलियाँ निश्चित की हैं, परंतु भारतीय दृष्टि रखने के कारण वे उन्हें शेष भारतीय भाषाओं के लिये भी बहुत कुछ समान रूप से उपयोगी बना सके हैं। क्योंकि भारतीय भाषाओं में प्रादेशिक विभिन्नताएँ होते हुए भी एक मौलिक समानता है। किंतु सम्मिलित और संघटित कार्य न होने के कारण उन शब्दावलियों का अखिलभारतीय महत्त्व ही रहा है, उनसे अखिलभारतीय व्यवहार का निश्चय नहीं हो सका है।" भारत-सरकार की केंद्रीय परामर्शदात्री शिक्षापरिषद् ने मद्रास में हुई अपनी छठी बैठक में इस विषय में जो मनमाना निर्णय किया है, वह हमारी प्रादेशिक भाषाओं के विकास एवं देश में वैज्ञानिक तथा शास्त्रीय ज्ञान के प्रसार के लिये वैसा ही घातक है जैसा कि उक्त टिप्पणी लिखते समय सरकारी परिषद् की नीति देखकर हमने उसकी कल्पना की थी। उस निर्णय का देश भर में विरोध हो रहा है और यह विशेष प्रबलता से होना चाहिए।

परंतु सम्मिलित और संघटित रूप से भारतीय वाङ्मय की व्यवस्थित उन्नति के लिये समान पारिभाषिक शब्दावली का निश्चय हमारा बहुत आवश्यक कर्तव्य है। इसके लिये प्रथम कार्य यह है कि हमारे विभिन्न प्रदेशों में जो पारिभाषिक शब्दावलियाँ बनाई गई हैं उनका एकत्र शब्दानुक्रम से संग्रह किया जाय। इस पारिभाषिक शब्द-संग्रह से इस संबंध में अब तक के प्रयत्नों का महत्त्वपूर्ण लेखा तैयार हो जायगा और यह निश्चयात्मक विचार का आवश्यक आधार होगा। इस प्राथमिक कार्य के अनंतर दूसरा कार्य यह है कि विभिन्न प्रदेशों के प्रतिनिधि अधिकारी विद्वानों की एक परिषद् संघटित की जाय जो भारतीय भाषाओं के लिये समान पारिभाषिक शब्दावली के संबंध में यथोचित नीति निर्धारित कर उसका निश्चय करे।

उपर्युक्त विचार को नागरी प्रचारिणी सभा के संवत् २००० में होनेवाले अर्धशताब्दी-महोत्सव के संबंध की एक योजना के रूप में हमने सभा की प्रबंध-समिति में प्रस्तावित किया था। उसमें हमने यह रखा था कि सभा उक्त महोत्सव के अवसर पर यह पारिभाषिक शब्द-संग्रह तैयार कराए और जिन शब्दों को वह उपयुक्त समझे, उन्हें अपना मत संकेतित करने के लिये कुछ मोटे टाइप में रखाए। महोत्सव में वह विभिन्न प्रदेशों के प्रतिनिधि अधिकारी विद्वानों की उक्त परिषद् आमंत्रित करे जो यथोक्त रूप से कार्य संपादन करे। सभा की प्रबंध-समिति ने इस प्रस्ताव को स्वीकृत कर लिया है। इस प्रकार सभा ने कर्तव्य के महत्त्व का ध्यान कर इस दोहरे दायित्व का संकल्प कर लिया है। यह इस विश्वास पर ही कि उसे सब ओर से इस गुरु दायित्व के निर्वाह में यथेष्ट साहाय्य प्राप्त होगा। देश के राष्ट्राभिमानी विद्वानों और विद्वत्संस्थाओं का ध्यान हम बहुत आशा से इस ओर आकृष्ट करते हैं।

प्रादेशिक वाङ्मयों के पचास वर्षों का इतिहास

नागरी प्रचारिणी सभा ने संवत् २००० में होनेवाले अपने अर्द्धशताब्दीमहोत्सव के अवसर पर अपने पचास' वर्षों के कार्य-विवरण के साथ

हिन्दी-वाङ्मय के गत पचास वर्षों की बहुविध प्रगति का इतिहास प्रस्तुत करने का निश्चय किया है। हिंदी-वाङ्मय का प्रादेशिक महत्त्व के साथ सार्वदेशिक महत्त्व भी है। अतः इसके गत पचास वर्षों की बहुविध प्रगति के इतिहास के साथ अन्य प्रादेशिक वाङ्मयों के गत पचास वर्षों की प्रगति का इतिहास भी प्रस्तुत हो तो यह बहुत उपयुक्त हो। ऐसे इतिहास की आंतरिक समरूपता के लिये सभा पहले इसकी एक निश्चित रूपरेखा प्रस्तुत करे। और तब प्रत्येक प्रादेशिक वाङ्मय का इतिहास उसके किसी अधिकारी विद्वान् से लिखाया जाय। इस प्रकार हिंदी-वाङ्मय के गत पचास वर्षों के इतिहास के साथ अन्य प्रादेशिक वाङ्मयों का भी उतने काल का इतिहास संपादित हो।

इस विचार को पूर्वोक्त विचार के समान सभा की प्रबंध-समिति में हमने प्रस्तावित किया था। समिति ने वैसे ही उत्साह के साथ इसे स्वीकृत कर लिया है। परंतु इस संबंध में भी इस विश्वास पर ही उसने यह निश्चय किया है कि इस महत्त्व-पूर्ण कार्य के संपादन में उसे सब ओर से यथेष्ट साहाय्य प्राप्त होगा। बहुत आशा से ही हम इस ओर भी देश के विद्वानों तथा विद्वत्सभाओं का ध्यान आकृष्ट करते हैं।

'सुर्जनचरित' महाकाव्य

पिछले वर्ष इसी स्कंध में 'पृथ्वीराज रासो संबंधी शोध' के विषय पर लिखते हुए हमने श्री दशरथ शर्मा के लेखों में निर्दिष्ट १६वीं शती (ई०) के संस्कृत महाकाव्य सुर्जनचरित का उल्लेख करके उसके आगे प्रश्न-चिह्न रखा था। हमें हर्ष है कि उस प्रश्न के फलस्वरूप हमें श्री शर्मा से एक उपादेय परिचयात्मक लेख प्राप्त हुआ है और उसे हम इस अंक में प्रकाशित कर रहे हैं। इस हस्तलिखित रूप में ही वर्तमान महत्त्वपूर्ण महाकाव्य के विषय विश्लेषण और सारांश के प्रकाशित हो जाने से पृथ्वीराज-रासो संबंधी विचार में विशेष सुविधा होगी।

'भारतीय समाचार'

दिल्ली से भारत-सरकार के प्रिंसिपल इन्फार्मेशन आफिसर द्वारा प्रकाशित पाक्षिक समाचारपत्र 'इंडियन इन्फार्मेशन' का हिंदी संस्करण 'भारतीय समाचार' के नाम से १५ मई १९४० से निकल रहा है। इसके ३२ अंक हमने देखे हैं। हम यह सहर्ष लिखते हैं कि इसकी भाषा बेढंगी 'हिंदुस्तानी' नहीं, अच्छी हिंदी है। इसकी शैली विषयानुकूल होती है और नए शब्दों के ग्रहण की इसकी नीति भी हिंदी संस्कार के अनुकूल होती है। अपनी प्रशस्य भाषा-नीति के लिये इसके संपादक साधुवाद के पात्र हैं।

'भारतीय समाचार' अन्य सरकारी भाषा प्रयोक्ताओं के लिये एक अच्छा नमूना है। क्या भारतीय रेडियो विभाग की हिंदुस्तानी' के विधाता अपने घर के ही इस प्रकाशन से शिक्षा नहीं ले सकते ?

—कृ।

स्वर्गीय द्विवेदी जी के कागद-पत्तर

पत्रिका वर्ष ४४, अंक ३, पृष्ठ ३३५–३७ में सभा की ओर से 'स्वर्गीय द्विवेदी जी का लिफाफा' शीर्षक के अंतर्गत सभा के तत्कालीन प्रधान मंत्री ने तथा राय बहादुर बाबू श्यामसुंदरदास जी ने यह स्पष्ट कर दिया था कि सभा के कार्यालय में द्विवेदी जी का ऐसा कोई मुहरबंद लिफाफा नहीं है जो खोला जाने को हो और जिससे किसी रहस्य का उद्घाटन होने की आशा हो। जो बंद लिफाफा द्विवेदी जी ने अभिनंदनोत्सव के अनंतर सभा के तत्कालीन सभापति को दिया था उसमें सभा के नौकरों के लिये २००) रुपयों की भेंट थी। जिस सामग्री को उन्होंने 'ताले में बंद' रखने का और उनके जीवनकाल में न खोलने का आदेश किया था वह थे उनके तीन बंडल जिनमें उनके नाम भेजे गए निजी पत्रों का संग्रह मिला है।

इसका विवरण उपर्युक्त स्पष्टीकरण में दिया जा चुका है। उस बंद लिफाफे और इन 'ताले में बंद' रखे गए पत्रों के बंडलों को कुछ लोगों ने भ्रमवश अभिन्न मान रखा है। उक्त बंडलों में प्राप्त पत्रों की पूरी सूची अब सभा ने तैयार करा ली है। पत्रों की संख्या २८०१ है और ये सन् १८९२ से लेकर सन् १९२८ तक के हैं। मैं समझता हूँ कि सन् १९२०-२३ के कुछ पत्र द्विवेदी जी ने सभा के संग्रह में रखने को नहीं भेजे हैं। बात यह है कि मैंने तथा मेरे कुछ साथियों ने, इंडियन प्रेस प्रयाग में रहते समय, सन् १९२१ के लगभग द्विवेदी जी को कुछ पत्र लिखे थे। उनमें से एक भी मुझे सभा के संग्रह में नहीं मिला। जान पड़ता है कि वे पत्र या तो दौलतपुर में द्विवेदी जी के घर पर रक्षित होंगे या फिर किसी मित्र ने उन पर अधिकार कर लिया होगा।

सभा में रक्षित इन पत्रों पर प्राप्त होने की तारीख और उत्तर का सूक्ष्मांश पेंसिल से द्विवेदी जी के हाथ का लिखा हुआ है। जो पत्र बहुत महत्त्व के समझे गए हैं उनके उत्तर की प्रतिलिपि भी साथ में है, पर ऐसे पत्र हैं बहुत स्वल्प। इन पत्रों की सूची ब्योरेवार छाप देने का आग्रह एक-आध सज्जन ने किया था। किंतु सभा ने इस कार्य में अपने को समर्थ नहीं पाया। आग्रह करनेवालों का कहना था कि सभा उल्लिखित पत्रों का प्रकाशन न करना चाहे तो वे स्वयं छपाई का खर्च देंगे। इस पर उनसे अनुरोध किया गया कि प्रकाशन का विचार करने से प्रथम आप एक बार काशी पधारकर इनको देख तो लीजिए। इसका ठीक उत्तर न मिलने पर सभा ने आगरे से प्रकाशमान साहित्यिक मासिक पत्र 'साहित्य-संदेश' (अक्तूबर १९४१, पृष्ठ ८९) में अपनी ओर से स्पष्टीकरण कर दिया जिससे किसी को किसी प्रकार का भ्रम न हो।

यदि ये पत्र द्विवेदी जी ने दूसरों को लिखे होते तो इनके प्रकाशन से लाभ की आशा भी की जाती, किंतु ये तो दूसरे लोगों ने द्विवेदी जी को लिखे हैं, अतः इनके प्रकाशन में अर्थ और समय लगाकर किस लाभ की आशा की जाय? हाँ, यदि कोई द्विवेदी जी का विशेष रूप से अध्ययन

करना चाहे अथवा उनका विस्तृत जीवनचरित लिखना चाहे तो उसके लिये यह सामग्री लाभप्रद हो सकती है। सभा को समझ में सर्वसाधारण को इस सामग्री के प्रकाशन से लाभ होने की आशा नहीं।

सन् १९२८ से लेकर द्विवेदी जी के तिरोहित होने तक के पत्र द्विवेदी जी के ग्राम दौलतपुर में रक्षित होंगे। बाबू श्यामसुंदरदास जी को द्विवेदी जी ने ११-११-२३ को जुही कलाँ, कानपुर से एक कार्ड में लिखा था—"...पत्र-व्यवहार अब पीछे दूँगा। अभी तो शायद पुस्तकें भी न दी जा सकें।..." द्विवेदी जी के पास आए हुए समस्त पत्रों का संग्रह यदि किसी एक ही सार्वजनिक संस्था में सुरक्षित रहता तो अच्छा होता।

दिवंगत आचार्य द्विवेदीजी के महत्त्वपूर्ण पत्र सभा के कार्यालय में सुरक्षित हैं। उनमें से दो पत्रों का अभीष्ट अंश और १४ नवंबर सन् १९२३ का एक पत्र यहाँ उद्धृत किया जाता है जिससे प्रकट होगा कि द्विवेदी जी को सभा पर कितना स्नेहपूर्ण विश्वास था और अपने संग्रह पर उनको कितनी ममता थी।

जुही, कानपुर
१४. ११. २३

मेरे ज़िले रायबरेली में बेली पाठशाला का एक पुस्तकालय है। कई तअल्लुकेदार पीछे पड़े रहे। मैंने उनको पुस्तकें नहीं दीं। यहाँ कानपुर में छोटेलाल गयाप्रसाद ट्रस्ट है। कोई १¼ लाख को इमारत बनी है। बृहत् पुस्तकालय उसमें शीघ्र ही खुलेगा। अनेक बड़े बड़े आदमी चाहते थे कि मैं वहीं अपना संग्रह रख दूँ। मैंने नहीं माना। बहुत से लोग नाराज़ हो गये। सभा का मेरा तअल्लुक़ पुराना है उसी को मैंने पात्र समझा। वह चाहे रक्खे चाहे नष्ट कर दे। मैं बाँट नहीं देना चाहता; पर राय कृष्णदास का प्रणयभंग भी नहीं करना चाहता। उन्होंने बहुत पहले से कुछ पुस्तकें माँग रक्खी हैं। एक Archæological पुस्तक मैंने विवश होकर परसाल भेजी भी थी। उन्हें मैं Director General की Annual Reports कुछ भेज दूँगा। पर अभी मैं उनको पास ही रक्खूँगा। दो तीन यहाँ हैं, चार पाँच गाँव

पर। मेरे पास भी इधर ही कुछ सालों से आने लगी हैं, गवर्नमेंट आफ़ इंडिया से बहुत लड़ने पर।

यहाँ का संग्रह कुछ अच्छा नहीं, अधिकांश रद्दी है। पर जो है, हाज़िर है। बहुत पुस्तकों के पुट्ठे टूट गये हैं। बहुतों को चूहे खा गये हैं। आप चाहें तो मरम्मत करा लीजिएगा। अब तक ७ बकस भरे गये हैं। अभी तीन चार आलमारियाँ और भरी पड़ी हैं। हस्तलिखित सामग्री तो सभी पड़ी है। यह सब अब मेरे लौटने पर उठवाइएगा। मैं परसों चला जाऊँगा जो जाने लायक़ हुआ। सूची ठीक ठीक नहीं बनी। हिंदी में मराठी, और संस्कृत में हिंदी आदि किताबें मिल गई हैं। किसी बहुज्ञ से किताबें देख देखकर फिर बनवाइएगा और एक कापी मुझे भी भेजिएगा। हिंदी-संस्कृत में हो सके तो विषय के अनुसार पुस्तकें अलग कर दीजिएगा। पं० गौरीशंकर ओझाजी (की) पुस्तक प्राचीन लिपिमाला कहीं थी। सूची में नहीं मिलती। देख लीजिएगा, वहाँ पहुँचती है या नहीं। पुस्तकें यहाँ बाहर बरांडे में रात को पड़ी रहती रही हैं। अब तक ११६७ पुस्तकें निकाली गई हैं। उनमें से सौ डेढ़ सौ तो मासिक पुस्तकों की फाइलें ही होंगी। हिसाब—हिंदी ६५८, अँगरेज़ी २८१, संस्कृत ८६, उर्दू ५९, बँगला ५१, मराठी २४, गुजराती ८। शायद सौ-पचास और निकाली जा सकें। जो रेलवाले माल लेंगे तो कल रवाना हो जायगा। नहीं वा० सहाय को ठहरना पड़ेगा। उन्हें वहाँ बुलाकर उनसे पुस्तकें सँभाल लीजिएगा।

दौलतपुर का संग्रह इससे अच्छा है। पुस्तकें सुंदर-सजाने लायक़ हैं। उन्हें अभी वहीं रहने दीजिए। मुझ अनाथ की नाथ वही हैं। वहाँ यदि किसी से प्रेम है तो उन्हीं से है। उन्हीं को देखकर किसी तरह काल-यापन कर देता हूँ। कुछ काम भी निकलता है। पुराणादि पढ़ता हूँ। विरक्ति कुछ और बढ़ने पर उन्हें भी भेज दूँगा। वसीयतनामे में लिख भी दिया है कि संग्रह किसी सर्वसाधारण संस्था को दे दिया जाय। अब आप ही का हक़ है, और कोई न पावेगा।

आपका
म० प्र० द्विवेदी

७-११-२३ को बाबू श्यामसुंदरदास जी को लिखे एक गोपनीय पत्र में द्विवेदी जी का यह वाक्य इस संबंध में महत्त्व का है—"संग्रह बँट जाना अच्छा नहीं।" ९-११-२४ को उन्होंने उक्त स्थान से बाबू साहब को लिखा था—"अपने वसीयतनामे में मैंने बची हुई पुस्तकें भी सभा को दे डालने की बात लिख दी है—कुछ थोड़ी सी छोड़कर।* उतने अंश की नक़ल मैं किसी दिन सभा को भेज दूँगा।"

—ल० पांडेय।

* आचार्य द्विवेदीजी का देहावसान होने के अनंतर उनके भानजे श्री कमलाकिशोर जी को इसका ध्यान दिलाया गया था। आशा है, वे अपने मामाजी की इस इच्छा को पूर्ण करने में पश्चात्पद न होंगे। सभा को अभी तक द्विवेदी जी का वसीयतनामा देखने को नहीं मिला है। यदि वह सामयिक पत्रों में प्रकाशित करा दिया जाय तो उत्तम हो। —लं० पां०।

सभा की प्रगति

पुस्तकालय

हिंदी के उदार लेखक और प्रकाशक पूर्ववत् कृपा कर पुस्तकालय के लिये पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ भेजते रहे। श्रावण के अंत में पुस्तकालय में हिंदी की मुद्रित पुस्तकों की संख्या १६०५७ थी, कार्तिक के अंत में वह १६१८६ रही। जिल्दबंदी के सामान की महँगी के कारण अब मासिक पत्रिकाओं की फाइलों पर दफ्ती की जिल्दें न लगाकर उनपर सादी जिल्दें लगाने का प्रबंध किया गया है। हिंदी की मुद्रित पुस्तकों की सूची तो तैयार ही हो चुकी है, अब हस्तलिखित पुस्तकों की सूची बनाने में हाथ लगा दिया गया है। पुस्तकालय के जिन सहायकों के नाम दो वर्ष या अधिक का चंदा बाकी पड़ गया था उनके नाम नियमानुसार सहायकों की सूची से खेदपूर्वक अलग कर दिए गए और उनकी अमानत की रकमों का जमाखर्च कर लिया गया।

खोज विभाग

मथुरा और इटावा जिलों में हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का कार्य अब बंद कर दिया गया है और इस समय श्री दौलतराम जुयाल बलिया जिले में तथा श्री महेशचंद्र गर्ग इलाहाबाद में खोज का काम कर रहे हैं।

प्रबंध समिति के ८ भाद्रपद १९९८ के अधिवेशन में पं० रामबहोरी शुक्ल एम० ए०, बी० टी० खोज विभाग के संयुक्त निरीक्षक चुने गए।

संकेत लिपि विद्यालय

काशी नगर में संकेत लिपि का एक और विद्यालय खुल जाने के कारण सभा के विद्यालय का कार्य कुछ दिनों के लिये स्थगित कर दिया गया

है। सभा ने अपने विद्यालय के पुराने छात्र श्री रामदुलारे सिंह को दिल्ली में सभा के संकेत लिपि विद्यालय की शाखा खोलने की अनुमति दे दी है।

प्रकाशन

कागज के घोर दुर्भिक्ष के कारण सभा को अपने प्रकाशन-कार्य में बड़ी कठिनाई पड़ रही है, अतः नई पुस्तकों का प्रकाशन इधर नहीं हो सका है। तर्कशास्त्र भाग २ का प्रतिमुद्रण हो रहा है। 'गोस्वामी तुलसीदास' और 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' का प्रतिमुद्रण शीघ्र ही करने का निश्चय हो चुका है।

बंबई की श्री रामविलास पोद्दार स्मारक समिति ने श्री रामविलास पोद्दार स्मारक ग्रंथमाला के प्रकाशन के लिये अपनी प्रकाशित पुस्तकों का स्टाक और २००) प्रति वर्ष दस वर्षों तक सभा को देना स्वीकार किया है। इस माला का प्रकाशन-कार्य सुविधा के अनुसार शीघ्र आरंभ होगा।

स्थायी कोश

कार्तिक के अंत में सभा के स्थायी कोष में जो धन जमा रहा उसका ब्योरा निम्नलिखित है—

१६०००) के स्टाक सर्टिफिकेट ट्रेजरर चैरिटेबुल एंडाउमेंट्स, युक्तप्रांत के पास

६५५।=) बनारस बंक में

६२९≡)८ पोस्ट आफिस सेविंग बंक में

२१२।।)७ इलाहाबाद बंक में

१७४९७=)।

सभा के आरंभ से संवत् १९९७ के अंत तक की वर्षक्रम से सभासदों की संख्या

संवत्	सदस्य संख्या	संवत्	सदस्य संख्या
१९५०	८२	१९७४	१००७
१	१४५	५	८८२
२	१४७	६	६११
३	२०१	७	५७७
४	२२२	८	५५८
५	२४७	९	५४२
६	२७०	१९८०	५१६
७	२९२	१	५४०
८	३११	२	५७४
९	५४८	३	५४६
१९६०	५७६	४	५७९
१	६६२	५	५७९
२	६७७	६	५७४
३	६८१	७	६०९
४	७०४	८	५३४
५	७४२	९	५४८
६	७९६	१९९०	५२६
७	९९०	१	५३८
८	१३२२	२	५५२
९	१३४३	३	५१७
१९७०	१३६७	४	६०२
१	१२०१	५	६६५
२	१२२८	६	८०६
३	१०५२	१९९७	१०३७

१ भाद्रपद से ३० कार्तिक १९९८ तक सभा को २५) या अधिक दान देनेवाले सज्जनों की नामावली

प्राप्ति-तिथि	दाता का नाम	धन	प्रयोजन
२ भाद्रपद ९८ २६ कार्तिक "	श्री प्रांतीय सरकार	५००)	पुस्तकालय
३ भाद्रपद ९८ ४ " " २५ कार्तिक "	श्री प्रांतीय सरकार	१५००)	हिंदी पुस्तकों की खोज
५ भाद्रपद ९८	श्री लाला बनवारीलालजी, कोठी, श्री भानामल गुलजारीलाल, दिल्ली	५०)	नागरी-प्रचार
६ " "	श्री सेठ नंदलाल भुवालका, कलकत्ता	१००) १००)	स्थायी कोष भवननिर्माण
२३ " "	श्री बैजनाथ बाग्रे, बी० ए०, एल० टी०, फैजाबाद	१००)	स्थायी कोष
२४ भाद्रपद ९८	श्री प्यारेलाल गर्ग, गोरखपुर	१००)	डा० महेंदुलाल गर्ग वि० ग्रं०
३१ "	श्री रामभरोसे सेठ, काशी	१००)	स्थायी कोष
९ आश्विन	श्री गयाप्रसाद ट्रस्ट, कानपुर	३६)	साधारण व्यय
२१ "	श्री हीरानंद शास्त्री, बड़ोदा	१००)	स्थायी कोष
३१ "	श्री अद्वैतप्रसाद शाह, काशी	१००)	नागरी-प्रचार
७	श्री प्रो० अमरनाथ झा, प्रयाग	१००)	कलाभवन
१० कार्तिक ९८	श्री मालचंद शर्मा, बीकानेर	१०१)	स्थायी कोष
२६ " "	श्री श्रीधर पंत, शास्त्री, एम० ए०, बरेली	१००)	"
२६ " "	श्री कृष्णचंद्र, सिविल जज, इलाहाबाद	१००)	"

टि०—जिन सज्जनों के चंदे किस्त से आते हैं, उनके नाम पूरी रकम प्राप्त हो जाने पर प्रकाशित किए जायँगे।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ४६-अंक ४ [नवीन संस्करण] माघ १९९८

भारतीय सृष्टिक्रम-विचार

[लेखक—श्री संपूर्णानंद]

१

ऋग्वेद में सृष्टिक्रम

(क) श्री नासदीय-सूक्त की रूपरेखा

जगत् का मूल एक, अद्वय, अखंड, अविभाज्य है। उसको ब्रह्म कहते हैं। वह दिक् और काल से अनवच्छिन्न है, न ज्ञाता है और न ज्ञेय, वरन् शुद्ध ज्ञानस्वरूप, विज्ञानघन है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, दयालु, इत्यादि कोई भी उपाधि उसके लिये उपयुक्त नहीं है। यदि कहीं ज्योतिः-स्वरूप ऐसा विशेषण उसके लिये आया हो तो वहाँ ज्योति का अर्थ शुद्ध चेतना है, प्रकाश नहीं। बुद्धि सामान्यतया उन्हीं विषयों को गोचर बना सकती है जो हमारे अनुभव में आते हैं और वाणी इन्हीं अनुभवों

को शब्दों में व्यक्त कर सकती है। ब्रह्म का स्वरूप साधारण अनुभव का, अथच बुद्धि और वाणी का, विषय नहीं है। इसी से श्रुति कहती है, "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"—वहाँ से मन और वाणी लौट आते हैं, वहाँ तक पहुँच नहीं सकते। चूँकि ब्रह्म के लिये कोई विशेषण युक्त नहीं है, क्योंकि वह सर्वथा निर्गुण है इसी लिये वेद उसे 'नेति, नेति' (यह नहीं, यह नहीं) कहते हैं।

अनस्तित्व, अज्ञान-तत्त्व का नाम माया है। वह ब्रह्म के साथ उसी प्रकार संलग्न है जिस प्रकार पत्र के एक पृष्ठ के साथ दूसरा पृष्ठ, बर्तन के बाहरी भाग के साथ भीतरी भाग, शरीर के साथ छाया। वह जड़ होने से चेतन ब्रह्म से भिन्न है, ब्रह्म के सिवा किसी और वस्तु का अस्तित्व न होने से अभिन्न है। माया का रूप भी शब्दों में व्यक्त करना असंभवप्राय है, इसलिये उसे अनिर्वचनीया कहते हैं। उसके ही कारण ब्रह्म में जगत् का आभास होता है पर उसके ही कारण ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म ज्ञान का विषय, ज्ञेय बनता है। माया का अर्थ ही है वह जिसके द्वारा जाना जाय—'मीयते अनया इति माया'। ज्ञेयत्व के साथ ही ब्रह्म में ज्ञातृत्व भी आता है, क्योंकि ज्ञाता के बिना ज्ञेय की कल्पना नहीं की जा सकती।

ब्रह्म सत् है और माया असत्। इन दोनों का मेल हो ही नहीं सकता। फिर भी ब्रह्म पर माया के आवरण की जो भ्रांत प्रतीति होती है उसकी संतति माया-शबल ब्रह्म माया-विशिष्ट ब्रह्म—ईश्वर है। ईश्वर भी दिक्काल से बाहर है परंतु उसको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परम कारुणिक, आदि नामों से पुकारना ठीक है। वह केवल ज्ञानात्मक नहीं परंतु ज्ञान का अधिष्ठाता, ज्ञाता, है। परंतु उसके सिवा और किसी वस्तु का अभाव होने से वह अपना आप ही ज्ञेय है। वह अपने स्वरूप को जानता है और यह जानता है कि मैं अपने स्वरूप को जानता हूँ। उसकी शक्ति, पराशक्ति को आद्या कहते हैं। वह ईश्वर से भिन्न है और ईश्वर के निःसीम ज्ञान का ही—वस्तुतः ज्ञान बल है—दूसरा नाम है। श्री नासदीय-सूक्त में उसको स्वधा कहा है।

जिस समय अव्याकृत—अर्थात् एकरस, भेदरहित—ईश्वर व्याकरणोन्मुख होता है, अनेकता की ओर झुकता है उस समय उसकी हिरण्यगर्भ संज्ञा होती है, क्योंकि यह हिरण्य(स्वर्ण)नामी विश्व उसके गर्भ से बहिर्गत होता है। सच पूछिए तो यहीं से सृष्टिक्रम आरंभ होता है। हिरण्यगर्भ को ईश्वर का सक्रिय रूप कह सकते हैं। महाब्रह्म और प्रजापति भी उनके नाम हैं। उनकी शक्ति का नाम महासरस्वती है। महासरस्वती ज्ञान की देवता* हैं। वह जगत् की समस्त विभूतियों, सारे प्रेरक नियमों, अणु और स्थूल सभी वस्तुओं के ज्ञान और इन सब पर ज्ञान-जनित अधिकार की अधिष्ठात्री है। दूसरी दृष्टि से यह माया, अज्ञान से अभिन्न है क्योंकि जितना ही विश्व का ब्योरा बढ़ता जाता है उतना ही शुद्ध ब्रह्म स्वरूप पर पर्दा पड़ता जाता है।

हिरण्यगर्भ से पुरुष और प्रधान (मूल प्रकृति) की अभिव्यक्ति हुई। पुरुष स्वयं इच्छा-राग-द्वेष-प्रयत्न से रहित, साक्षी, चेतन है परंतु प्रधान के संयोग से अपने को कर्ता, भोक्ता समझने लगता है और सुख-दुख का अनुभव करने लगता है। प्रधान जड़ है और उसी से अंतःकरण, इंद्रियगण और महाभूतों की उत्पत्ति हुई है। उसका और पुरुष का संयोग वास्तविक नहीं है, फिर भी जिस प्रकार रंगीन प्रकाश के सामने पड़ने से स्फटिक पर रंग की आभा प्रतीत होती है उसी प्रकार पुरुष भी प्रधान और उसकी संतति के धर्मों से उपरक्त प्रतीत होता है। इस मोह के वश में पड़ने पर उसकी जीव संज्ञा होती है। जीव अनेक लोकों में और अनेक

---

* हिंदी में लोग बहुधा बोलचाल में 'देवता' को देवी का पुल्लिंग रूप मानकर प्रयोग करते हैं। यह भूल है। देवी का पुल्लिंग देव है। देवता शब्द का विशेष संबंध वैदिक वाङ्मय और मंत्रशास्त्र से है। वहाँ इसका प्रयोग किसी देव-देवी के विग्रह नहीं, वरन् उसकी शक्ति के लिये होता है। देवता नित्य स्त्रीलिंग शब्द है। प्रत्येक वेदमंत्र के साथ ऋषि, छंद, विनियोग और देवता का उल्लेख रहता है। वहाँ इस प्रकार का प्रयोग होता है: इस मंत्र की देवता इंद्र या रुद्र या विष्णु हैं। वहाँ तात्पर्य ऐंद्री, वैष्णवी या रौद्री शक्ति से है।

शरीरों में जन्म लेकर मरता है, फिर भी वह इस कर्मव्यूह के बाहर निकलने में असमर्थ सा प्रतीत होता है। परंतु वस्तुतः निराश होने की बात नहीं है। जीव कभी भी अपने शुद्ध रूप का परित्याग नहीं कर सकता। प्रत्येक क्षण में उसका प्रत्येक काम दो शक्तियों के संघर्ष का परिणाम होता है; एक ओर उसका सहज, मुक्त, स्वरूप—दूसरी ओर कर्मविपाकजन्य परिस्थितियों का योगफल। कभी ऐसा भी दिन आता है जब उसकी सहज शक्ति परिस्थिति से बलवत्तरा हो जाती है और वह जगत् से पराङ्मुख हो जाता है। तब वह धीरे धीरे उस मार्ग पर लौट चलता है जिस पर चलकर इतना नीचे गिरा था। जिस क्रम से बंधन पड़े थे, उसी के उलटे क्रम से ढीले होते हैं। अंत में वह अपने शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस अंतर्मुख चाल को ही योगाभ्यास कहते हैं।

सूक्त में पुरुष और प्रधान की अभिव्यक्ति के पीछे का ब्योरा नहीं दिया गया है। इतना बतला देना आवश्यक होगा कि इस पुरुषप्रधानात्मक जगत् की समष्टि का नाम विराट् है। सांख्यमत के प्रवर्तक महामुनि कपिल तथा उनके शिष्य-प्रशिष्य आसुरि, पंचशिख, ईश्वरकृष्ण प्रभृति ने प्रधान से क्रमशः महत् और अहंकार और फिर अहंकार से मन, इंद्रियगण तथा तन्मात्रा और तन्मात्राओं से महाभूतों की उत्पत्ति विस्तारपूर्वक दिखलाई है। जहाँ सांख्य हाथ खींचता है वहाँ से इस कथा को मनोविज्ञान, जीवशास्त्र, गणित और भौतिक विज्ञान उठाते हैं। इस जगह उन बातों का ब्योरेवार कथन अनावश्यक है। सृष्टिक्रम के चित्र को पूरा करने के लिये इतना संकेत अलम् है।

यहाँ पर एक शंका हो सकती है। ईश्वर या हिरण्यगर्भ की प्रवृत्ति सृष्टि की ओर क्यों हुई? इसका एक उत्तर तो यह हो सकता है कि ईश्वर का लक्षण ही है 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः'—चाहे जैसी इच्छा हो वैसा करने में समर्थ। उसकी इच्छा स्वतंत्र है, उसमें 'क्यों' का प्रश्न उठता ही नहीं। पर एक दूसरा उत्तर भी है। एक ऐसा समय आता है जब ब्रह्मांड पुराना हो उठता है, वह कर्म और भोग के योग्य नहीं रह जाता। उस समय उसके नीचे के लोक—जिनमें मनुष्य, पितृ और देवगण रहते हैं—सूक्ष्म

भूत में समा जाते हैं और सूक्ष्मभूत मन के साथ अहंकार में लीन हो जाता है। अतः वे लोक भी, जो मानस तत्त्व से निर्मित हैं, विलीन हो जाते हैं। जीवों के कर्मों का क्षय तो नहीं होता परंतु कर्म और भोगभूमि के अभाव से उनके संस्कार बुद्धि के पटलों में टिक जाते हैं और जीव प्रसुप्त सी दशा को प्राप्त हो जाते हैं। यही प्रलयावस्था है। काल पाकर ये संस्कार फिर जागते हैं और इनके अनुसार नए ब्रह्मांड का सृजन आवश्यक हो जाता है। जीवों के कर्मसंस्कारों का योग नूतन जगत् की सृष्टि का प्रवर्तक होता है। इस विषय का चर्चा आगे चलकर भी होना है। इसलिये यहाँ विस्तार के साथ दुहराना ठीक नहीं प्रतीत होता।

इस संक्षिप्त रूपरेखा में इस गंभीर विषय का यथोचित वर्णन नहीं हो सकता। मैंने तर्क न करके केवल एक चित्र खींच देने का प्रयत्न किया है। उद्देश्य इतना ही था कि मंत्रों के भाव को समझने में सुविधा हो और जिस पीठिका के सामने इस विषय का अध्ययन होना चाहिए उसका कुछ परिचय हो जाय। इतनी आशा अवश्य करता हूँ कि मैंने अपनी जानकारी में सूक्त के अर्थ और वेदांत या सांख्य के सिद्धांतों को वितथ रूप से नहीं दिखलाया है।

एक शंका का और समाधान करना आवश्यक है। कुछ लोग यह आपत्ति करते हैं कि जब यह जगत् मिथ्या, मायामय है तो फिर पढ़ना, लिखना, योग, तप, दान या किसी अन्य प्रकार का प्रयत्न करना व्यर्थ है। उनको सोचना चाहिए कि जिन आचार्यों ने जगत् को मायामय बतलाया है उन्हींने अभ्युदय और निःश्रेयस के लिये अनेक प्रकार के अनुष्ठानों का भी विधान किया है। दोनों बातों में जो विरोध है वह तो उनकी भी समझ में आना चाहिए था। बात यह है कि वस्तुतः विरोध नहीं, विरोधाभास है। जगत् को मिथ्या मिथ्या कहने मात्र से उसका मिथ्यात्व प्रतीत नहीं होता। तर्क करने से ब्रह्म के स्वरूप के संबंध में शास्त्रार्थ तो किया जा सकता है, पर साक्षात्कार नहीं हो सकता और जब तक साक्षात्कार नहीं होता तब तक सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। रागद्वेष का पुतला 'अहं ब्रह्मास्मि' कहकर मुक्त नहीं हो सकता और न माया को कोसने से उसके जाल से

निकल सकता है। उसे तो जगत् को सत्य मानकर ही काम करना है, पर काम ऐसा करना है जिससे बंधन की शृंखला ढीली हो। जितना ही निष्काम बुद्धि से सत्कार्य्य किया जायगा उतना ही 'मैं, पराया' का भेद क्षीण होगा और योगानुष्ठान द्वारा स्वरूप-दर्शन की पात्रता प्राप्त होगी। जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया उसके लिये न कोई विधि है न निषेध। वही जगत् के सच्चे स्वरूप का अनुभव करता है और उसको मिथ्या कहने का सच्चा अधिकारी है। इसके पहिले, हाथ पर हाथ धरकर बैठना कोरा आलस्य है और वेदांत की विडंबना है।

(ख) श्री नासदीय-सूक्त-भाष्य

सृष्टिसंबंधी प्रश्न तो ऋग्वेद में यत्र तत्र कई बार उठाए गए हैं। जैसे दशम मंडल का इकतीसवाँ सूक्त पूछता है "कं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः"—वह कौन सा वन था और कौन सा वृक्ष था जिससे काटकर द्यावा-पृथिवी बनाए गए? इसी प्रकार दशम मंडल का एक सौ इक्कीसवाँ सूक्त पृथिवी, द्युलोक, सूर्य्य, जल, पर्वत आदि के स्रष्टा के विषय में बार बार पूछता है "कस्मै देवाय हविषा विधेम"—हम किस देव को हवि अर्पित करें? प्रश्नों के साथ स्थल स्थल पर उत्तर भी दिए गए हैं, पर वे उत्तर अति संक्षिप्त और अपर्य्याप्त हैं। नासदीय सूक्त में इस त्रुटि की पूर्ति की गई है, यह इसका विशेष महत्त्व है।

इस सूक्त का छंद त्रिष्टुप् और ऋषि परमेष्ठी प्रजापति हैं। परमात्मा इसकी देवता हैं।

मंत्र

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥ १॥

भावार्थ

उस समय न तो असत् था, न सत् था। न पृथिवी थी, न आकाश था और न वह था जो आकाश के ऊपर है। आवरण कहाँ था? किसका कहाँ स्थान था? क्या गहन गंभीर जल था?

भाष्य

मैं रूप-रेखा में लिख चुका हूँ कि ईश्वर जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। इसलिये सृष्टिक्रम का वर्णन ईश्वर से ही आरंभ होता है। पहिले ही एक कठिनाई का सामना पड़ता है। शब्दों के द्वारा उसको व्यक्त करना कठिन होता है जो हमारे साधारण अनुभव का विषय नहीं है। ईश्वर काल के परे है, इसलिये उसके लिये 'उस समय' 'इस समय' कहना अहैतुक है। मंत्र में 'उस समय' से तात्पर्य्य आज से बहुत पहिले के किसी समय-विशेष से नहीं है। इन शब्दों द्वारा उस अवस्था की ओर संकेत किया गया है जो जड़-चेतन और चर-अचर के उस संघटन का पूर्व-रूप थी जिसे हम जगत् कहते हैं।

यदि सत् और असत् का प्रयोग यहाँ कोष और व्याकरण सम्मत 'होने' और 'न होने' के अर्थ में हुआ है तब तो यह कहना कि न सत् था न असत् था निरर्थक वाक्य हो जाता है। फिर यह श्रुत्यंतर के विरुद्ध भी है। जैसे छांदोग्योपनिषत् में लिखा है 'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्'—हे सोम्य, आरंभ में यह सत् ही था। अतः यहाँ कुछ दूसरा ही अर्थ होना चाहिए। ईशावास्योपनिषत् में प्रधान को 'असंभूति' शब्द से लक्षित किया है। असत् का भी वही अर्थ है। इससे यह निकला कि पुरुष के लिये सत् आया है। उस अवस्थां में पुरुष और प्रधान, द्रष्टा और दृश्य, भोक्ता और भोग्य, का विभेद नहीं था। केवल एक अव्याकृत, ईश्वर था। इतना ही कहना पर्याप्त होता परंतु कुछ और वस्तुओं का नामोद्देश करके बात अधिक स्पष्ट कर दी गई है। पृथिवी और आकाश अर्थात् भूर्लोक और स्वर्लोक न थे। अतः इनके बीच का भुवर्लोक भी न रहा होगा। वह भी न था जो व्योम के ऊपर है अर्थात् ऊपर के महर्लोकादि भुवन भी न थे।

इसके आगे जो प्रश्न किए गए हैं उन सब का एक ही उत्तर है और वह नञात्मक है। अतः प्रश्न के व्याज से अपना उपर्युक्त कथन ही दृढ़ किया गया है। आवरण अर्थात् सब भुवनों को ढँकनेवाला ब्रह्मांड भी नहीं था। कहाँ किसका स्थान था अर्थात् किसी का कहीं स्थान नहीं था। कोई दिग्व्याप्त वस्तु थी ही नहीं, स्थान किसका होता? फिर दिक् तो था ही

नहीं, स्थान कहाँ होता ? दिक् के अभाव को बतलाने से काल का अभाव भी सूचित हो जाता है। जल सभी भौतिक पदार्थों के लिये उपलक्षण मात्र है। जल नहीं था, कहने का अर्थ यह हुआ कि कोई भौतिक पदार्थ नहीं था। जल को विशेषतया इसलिये चुना है कि जल के अभाव से यह सूचित होता है कि उस अवस्था में ऐसी परिस्थिति न थी जिसमें प्राणधारी रह सकते। जीवशास्त्रियों का ऐसा विश्वास है कि पहिले पहिले जीव जल में उत्पन्न हुए। इसका समर्थन कई जगह वैदिक वाङ्मय में हुआ है।

मंत्र

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥ २ ॥

भावार्थ

उस समय न मृत्यु थी न अमृत था। न रात-दिन का प्रकेत (चिह्न) था। वह एक अपनी स्वधा से वायु के बिना साँस लेता था। उसके सिवा और कुछ नहीं था।

भाष्य

पहिले मंत्र में कही बातों का इस मंत्र में विस्तार किया गया है। जब कोई प्राणी ही नहीं था तो मृत्यु और अमरत्व का प्रश्न ही नहीं उठता। परंतु ये दोनों शब्द संभवतः कुछ दूसरे अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। ईशावास्योपनिषत् में 'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा' में जीवों के साधारण विनश्वर ज्ञान और कर्म को मृत्यु कहा है और कठोपनिषत् में देवपदप्राप्ति को अमृतत्व कहा है। मृत्यु और अमृत के अभाव को बतलाकर यह सूचित किया गया है कि जीवों के ज्ञान और कर्म दोनों की गति अवरुद्ध थी; क्योंकि भोग और कर्म क्षेत्रों का अभाव था और जीव प्रसुप्तावस्था में थे। दिन-रात के प्रकेत के अभाव का यह तात्पर्य हुआ कि उस समय दिन-रात न थे; किसी प्रकार की गति, घटनाओं का प्रवाह न था। दूसरे शब्दों में काल न था। इस वाक्य का कुछ लोग यह अर्थ करते हैं कि दिन-रात के विभाजक का चिह्न न था। इसका अर्थ यह हो सकता है कि या तो पूर्ण अंधकार था, या पूर्ण प्रकाश। ये दोनों शब्द लाक्षणिक ही हो सकते हैं; क्योंकि ईश्वर के लिये अँधेरे-उजाले का प्रश्न नहीं उठता।

श्रुति कहती है 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'—उसका ज्ञान, बल और कर्म स्वाभाविक है अर्थात् स्वतंत्र है, किसी साधन और बाहरी प्रेरणा की अपेक्षा नहीं करता। यही बात इस वाक्य द्वारा व्यक्त की जा रही है कि वह अपनी स्वधा से वायु के बिना साँस लेता था। यह उसकी सर्वशक्तिमत्ता का सूचक है। साँस शब्द के प्रयोग से एक और अर्थ निर्गत होता है। श्वास-प्रश्वास की क्रिया जीवन की सहचारिणी है। जहाँ जीवन होता है वहाँ संवित, चेतनता की भी अभिव्यक्ति होती है। छोटे से छोटे जीव में भी बाह्य आघातों की प्रतिक्रिया देख पड़ती है। जो साँस लेता है वह चेतन होता है। अतः यहाँ यह सूचित होता है कि ईश्वर ब्रह्म की भाँति चेतना मात्र नहीं, चेतन, शुद्ध ज्ञान नहीं, वरन् ज्ञाता है। किसी अन्य वस्तु के अभाव में वह अपने आप का ही ज्ञाता हो सकता है। वह स्वयं ज्ञाता और ज्ञेय है*।

मंत्र

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥३॥

भावार्थ

पहिले तम से ढका तम था। यह सब अप्रकेत सलिल था। जो अभु (सब कुछ या विभु) था वह तुच्छ से ढका हुआ था। उसके तप की महिमा से वह एक उत्पन्न हुआ।

* ऊपर मंत्र में जो स्वधा शब्द आया है उसका अर्थ हुआ वह जो अपने आपको धारण करे, अर्थात् जो निराधार हो, जिसका कोई दूसरा आश्रय न हो। स्त्रीलिंग होने से यह शब्द ईश्वर की शक्ति, उसकी ईश्वरता, के लिये—जिसे शाक्त वाङ्मय में आद्या या परा शक्ति कहते हैं—प्रयुक्त माना जाता है। यही शब्द फारसी में खुदा हो गया। ईरानी में खुदा रूढ़ि है। इसकी कोई व्युत्पत्ति नहीं बतलाई जा सकती। भाव वही निराधारता का है, परंतु प्रयोग पुंल्लिंग में होता है और वह भी गुण के स्थान में गुणी के लिये, शक्ति के स्थान में शक्तिमान्, ईश्वर, के लिये। यह उन शब्दों में से है जो उस समय से चले आते हैं जब भारतीय और ईरानी आर्यों के पूर्वज एक साथ रहते थे।

भाष्य

तम का अर्थ अंधकार और निष्क्रियता, जड़ता, अपरिवर्तनशीलता होता है। इसलिये यह शब्द लाक्षणिक रूप से ब्रह्म और माया दोनों के लिये प्रयुक्त हो सकता है। अतः ईश्वर तम से ढका तम हुआ क्योंकि वह माया-शबल ब्रह्म है। जड़ अज्ञान-स्वरूपा माया जो ज्ञान से नष्ट हो सकती है तुच्छ भी कही जा सकती है। उसके विरुद्ध ब्रह्म अभु अर्थात् सब कुछ है। अन्यत्र श्रुति कहती भी है, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—सचमुच यह सब ब्रह्म है। ब्रह्म शब्द बृह् धातु से निकला है। उसका अर्थ है विस्तृत, फैला हुआ। इस कारण दिक् से परे होते हुए भी उसे व्यापक कह सकते हैं। अतः दोनों प्रकार से अभु शब्द ब्रह्मवाची है। इसलिये तुच्छ से ढका हुआ अभु, यह पद ईश्वर के लिये ही आया है। इस वाक्य का यह भी अर्थ किया जाता है कि सब कुछ अमूर्त और शून्यवत् था*। सलिल जल को कहते हैं। पहिले मंत्र में जल का अभाव सूचित किया जा चुका है। अतः यहाँ सलिल का अर्थ सलिलवत् जलवत् करना होगा। अपने स्वरूप से जल अप्रकेत, विभागहीन, चिह्नहीन, भेदलिङ्गहीन है। उपाधियों में पड़कर वह बूँद, पुष्कर, नदी, समुद्र, भाप, हिम आदि बनता है, परंतु स्वतः इन सबसे परे है। इसी प्रकार उस समय ईश्वर, जो पीछे से नाना नामरूप-धारी हो गया, एकरस था।

उस ईश्वर के तप की महिमा से उस एक अर्थात् हिरण्यगर्भ का जन्म हुआ। कुछ पाश्चात्य विद्वान् तप का अर्थ गर्मी करते हैं। पर ऐसा करने से तो कोई सहायता नहीं मिलती। ईश्वर में गर्मी कहाँ से आई? अन्यत्र श्रुति कहती है 'तस्य ज्ञानमयं तपः'—उसका तप ज्ञानमय है। ईश्वर का जो जगद्विषयक ज्ञान है वही उसका तप था। 'उसने तप किया' का अर्थ

---

* अभु की जगह आभु पाठ भी लिया जा सकता है। उस दशा में तुच्छ्य तथा आभु दोनों का एक ही अर्थ शून्य लेकर यह व्याख्या की जाती है कि शून्य से ढका शून्य था। इस व्याख्या के अनुसार शब्दांतर से तम से ढके तम वाली बात दुहराई गई है।

यह है कि उसके चित्त में—यद्यपि उस सर्वसाधनस्वतंत्र के संबंध में चित्त शब्द का प्रयोग अयुक्त है—जगदात्मक विज्ञान स्फुरित हुआ, भावी जगत् का स्वरूप उदित हुआ। ईश्वर की चेतनाभूमि से विचार, बौद्धिक लहरी के रूप में जगत् अंकुरित हुआ। इसके फलस्वरूप हिरण्यगर्भ प्रकट हुए

मंत्र

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीत्या कवयो मनीषा ॥ ४ ॥

भावार्थ

पहिले उसके मन से काम उत्पन्न हुआ, तब वह जो प्रथम बीज था। कवियों ने अपने हृदयों में मनीट् के द्वारा ढूँढ़कर असत् में सत् के स्थान को पाया।

भाष्य

हिरण्यगर्भ वस्तुतः ईश्वर से अभिन्न है। उसको ईश्वर का सक्रिय रूप, वह रूप जिसमें इस जगत् का स्रष्टा, पालयिता और संहर्ता है, कह सकते हैं। उसको प्रजापति भी कहते हैं। हिरण्यगर्भ का नाम वेद वारंबार लेता है। उदाहरण के लिये दशम मंडल के १२१वें सूक्त का पहला मंत्र देखिए—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे, भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्

आदि में हिरण्यगर्भ था। जन्म लेने पर, वह भूतों का एकमात्र स्वामी था। उसने पृथिवी और आकाश को स्थापित किया।

उसके मन से (या में) अर्थात् उसकी चेतना में काम उत्पन्न हुआ, एक इच्छा उठी। इस इच्छा को श्रुति ने कहीं काम, कहीं ईक्षा कहा है। उसका स्वरूप अन्यत्र स्पष्ट कर दिया गया है। जैसे छांदोग्योपनिषत् में कहा है 'तदैक्षत बहु स्याम्' उसने इच्छा की कि मैं बहुत, अनेक हो जाऊँ। प्रश्न यह है कि ऐसी इच्छा क्यों हुई। कोई कोई सूफी यह कहते हैं कि उसको अपने को देखने की इच्छा हुई, इसलिये उसने अपने अनेक रूप बनाए। पर यह आत्मानुरक्ति भी तो दोष ही है। लीला करने की इच्छा भी निर्दोष नहीं है। आप्तकाम पूर्ण पुरुष में ये बातें न होनी चाहिएँ।

बात यह है कि इस प्रसंग में काम या इच्छा शब्द दो संबंधों में प्रयुक्त हुआ है—(१) हिरण्यगर्भ का जगत् की उत्पत्ति, रक्षा और विनष्टि विषयक ज्ञान, (२) उसका संकल्प कि अब यह परंपरा चल निकले, जगत् जो उसकी चेतना में अब तक सूक्ष्म विज्ञान रूप से विद्यमान था अब मूर्त हो, विश्व का सृजन आरंभ हो। इस संकल्प का कारण यह था कि जीवों का संयुक्त अदृष्ट, उनके प्राक्तन कर्मों का सम्मिलित संस्कार अब पक गया था। अब तक जीव हिरण्यगर्भ में सिमटे हुए थे, अब उनको जगना था और अनुकूल कर्म और भोग सामग्री चाहिए थी। यह संस्कार ही भावी सृष्टि को नोदन दे रहे थे, उसके प्रेरक बन रहे थे। उन्हीं के कारण हिरण्यगर्भ ने सृष्टि-परक संकल्प किया। इससे ईश्वर की स्वतंत्रता में बाधा नहीं पड़ती। वह स्वयं नियम और स्वयं नियामक है। कर्म का अनुच्छेद्य विधान उससे अभिन्न है, इसलिये यह नहीं कह सकते कि वह अपनी स्वतंत्रता में आप बाधा डालता है। जिस प्रकार चुंबक की सन्निधि में लोहे के छोटे टुकड़े अपने आपको एक विशेष प्रकार से जमा लेते हैं उसी प्रकार हिरण्यगर्भ के सान्निध्य से जीवों के कर्म जगत् की रचना कर लेते हैं। इतने में ही उसका स्रष्टापन है। यदि यह माना जाय कि वह जीवों को रचता है और अपनी इच्छा के अनुसार जगत् बनाता है तो फिर जीवों के सुख-दुःख और उनके भले-बुरे कामों का पूरा पूरा दायित्व उसके ऊपर आ जायगा।

काम के बाद हिरण्यगर्भ से प्रथम बीज, विराट् की उत्पत्ति हुई। जिस प्रकार विशाल वट-वृक्ष छोटे से बीज में बंद रहता है उसी प्रकार यह महान् विश्वरूपी वृक्ष विराट् में स्थित था।

विराट् की अभिव्यक्ति के पीछे विकास का वेग बढ़नेवाला है और स्थूलता में उत्तरोत्तर वृद्धि होनेवाली है इसलिये यह आवश्यक है कि परम-तत्त्व की ओर से ध्यान हटने न पाए, नानात्व के भीतर एकत्व का दर्शन होता रहे। इसी लिये मंत्र कहता है कि कवियों ने असत् अर्थात् माया में सत् अर्थात् ब्रह्म के स्थान को पाया। ब्रह्म का कोई दूसरा स्थान तो है नहीं, उसका साक्षात्कार करना, 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ ऐसा अनुभव करना ही उसके स्थान की प्राप्ति है। यदि यह माना जाय कि यहाँ सत्

और असत् प्रथम मंत्र की भाँति पुरुष और प्रधान के लिये आए हैं तो यह अर्थ हुआ कि कवियों ने प्रधान में पुरुष को पाया अर्थात् प्रधान की महत् इत्यादि विकृतियों के जाल में घिरे हुए पुरुष का साक्षात्कार किया, अर्थात् मुक्त हुए। कवि शब्द वेदों में रसात्मक वाक्यों के रचयिताओं के लिये नहीं वरन् आत्मदर्शी योगियों के लिये आता है। स्वयं ईश्वर को कवि कहा गया है। इस वाक्य का कुछ लोग यों भी अर्थ करते हैं कि कवियों ने सत् और असत् का संबंध पाया या जाना। इससे भी भाव में कोई अंतर नहीं पड़ता। सत् और असत् का संबंध जान लेने पर भी उसी एकत्व का अनुभव होगा। सब प्रतीतियों के भीतर वही एक सत्ता झलकती है। यजुर्वेद के नरमेधाध्याय का १९वाँ मंत्र कहता है—"प्रजापतिश्चरति गर्भे अंतरजायमानो बहुधा विजायते।" अजन्मा होकर भी प्रजापति गर्भ में जाता है और बहुधा जन्म लेता है।

इसी प्रकार मुंडकोपनिषत् कहती है :

यथा सुदीप्तात्पावकात्स्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥

जिस प्रकार प्रदीप्त आग से सहस्रों चिंगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार उस अक्षर से विविध वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और उसी में लीन होती हैं।

सत् इतनी उपाधियों से घिरा प्रतीत होता है कि उसे पाना सुकर नहीं है। उसका स्वरूप ऐसा छिपा है कि उसे कई जगह 'गुहाहित', गुफा में छिपा कहा है। कवियों ने उसका अनुसंधान मनीट् द्वारा किया। शंकराचार्य्य ने मनीट् की इस प्रकार व्याख्या की है—"मनसः संकल्पादिरूपस्येष्टे नियंतृत्वेनेति मनीट् तयाऽविकल्पयित्र्या मनीषेति"—जो संकल्प-विकल्प रूपी मन का नियंत्रण करती है उस अविकल्पयित्री को मनीट् कहते हैं, अर्थात् शुद्ध असंदिग्ध ज्ञान देनेवाली बुद्धि मनीट् है। योगदर्शन के अनुसार योगी को अभ्यास के प्रताप से ऋतंभरा प्रज्ञा, सत्य से परिपूर्ण बुद्धि प्राप्त होती है। इसका तात्पर्य्य यह हुआ कि यह अद्वैत ज्ञान तर्क से नहीं प्रत्युत योगाभ्यास द्वारा परिष्कृत बुद्धि से ही हो सकता है। हृदय शब्द भी बाहरी विषयों से हटाकर वृत्ति को अंतर्मुख करने की ओर संकेत करता है।

यहाँ पर कुछ लोगों को यह शंका होती है कि सारा ब्रह्म या ईश्वर विराट् और जगत् में परिणत हो गया या कुछ परिणत हुआ और कुछ शुद्ध ईश्वर रह गया। पहिले तो ब्रह्म के लिये परिणाम या परिवर्तन का प्रयोग नहीं किया जा सकता। उसमें जगत् का अध्यास मात्र है, अर्थात् हम अज्ञानवशात् जगत् का आरोप करते हैं। फिर, टुकड़े वहाँ होते हैं जहाँ कम से कम दो वस्तुएँ हों—एक विभाजक, दूसरी विभाज्य। ईश्वर अकेला है, फिर उसके खंड कैसे हो सकते हैं? उसके संबंध में अंश और अंशी का व्यवहार इसी लिये होता है कि हमारी बुद्धि और भाषा में सूक्ष्म तत्त्वों को ग्रहण करने और व्यक्त करने की क्षमता नहीं है। इस संबंध में नीचे के दोनों मंत्रों के अर्थ पर मनन करना चाहिए :—

एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतन्दिवि ॥ (ऋक् १०,९०–३)

यह सब उसकी महिमा है, (विराट्) पुरुष इससे बड़ा है। उसके एक चौथाई में सारा विश्व है, तीन चौथाई अमृत है और द्युलोक में है।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमदाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वह (ईश्वर) पूर्ण है, यह (जगत् या प्रत्यगात्मा) पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण निकाला जाता है। पूर्ण से पूर्ण निकालने पर पूर्ण ही बचता है।

विराट् ईश्वर से अभिन्न है, ब्रह्म से अभिन्न है ऐसा श्रुति बारंबार प्रतिपादित करती है। विराट् का वर्णन करते हुए, यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का १८वाँ मंत्र कहता है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

मैं तम से परे विद्यमान तेजःस्वरूप उस महान् पुरुष को जानता हूँ। उसको जानकर ही मृत्यु के पार जाता है, मोक्ष के लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

मंत्र

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥ ५ ॥

भावार्थ

इनकी किरण तिरछी फैली, नीचे थी, ऊपर थी। बीजधारक थे, बड़ी शक्तियाँ थीं। स्वधा नीचे थी, प्रयति ऊपर था।

भाष्य

इसके पहिले के मंत्र में विराट् को प्रथम बीज कहा है। एक ओर तो वह इस संपूर्ण जगत् में जो कुछ स्थावर जंगम, जड़ चेतन है उसकी समष्टि है, दूसरी ओर ईश्वर की ही अभिव्यक्ति होने से इस जगत् में सर्वत्र व्याप रहा है और, साथ ही, इसके बाहर भी है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त (१०म मंडल के १९०वें सूक्त) के प्रथम दो मंत्र कहते हैं :—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

(विराट्) पुरुष सहस्रों सिर, सहस्रों आँख, सहस्रों पाँव वाला है। वह ब्रह्मांड को चारों ओर से व्याप्त करके दशांगुल को अतिक्रमण करता है (अर्थात् इस दस दिशाओंवाले जगत् के बाहर है)।

जो कुछ हुआ है और जो कुछ होगा वह पुरुष ही है। वह अमृतत्व का स्वामी है और इस भोग्य जगत् के बाहर जाता है।

इसी सूक्त में आगे चलकर दिखलाया है कि किस प्रकार सभी ऊँचे नीचे भुवन, सूर्य्यादि खेचर पिंड, सभी मनुष्य और अन्य प्राणी उसके शरीर के अवयव हैं।

जब जगत् का विकास होता है तो वह ऊपर, नीचे, तिरछे, दिक् की सारी दिशाओं में और आगे पीछे काल की दोनों दिशाओं में फैलता है। इसके साथ ही उसकी अनेकता, उसके अंगभूत द्रव्यों का नानात्व, भी बढ़ता जाता है, यहाँ तक कि उनको गिनना असंभव है। परंतु विश्लेषण करने से इस नानात्व के भीतर दो पदार्थ मिलते हैं : पुरुष और प्रधान। पुरुषों की संख्या का अंत नहीं है। पुरुष ही जगत् का केंद्र है। यदि उसको अपने कर्मों के अनुसार कर्म और भोग-

क्षेत्र की आवश्यकता न हो तो विश्व का सृजन ही न हो। इसी लिये पुरुष को बीजधारक कहा है। प्रधान अंतःकरण, इंद्रियगण और भौतिक द्रव्यों का उपादान कारण प्रकृति है। उसी में से ये सब निकली हैं और स्वयं सत्त्व, रज और तम नामक गुणों की साम्यावस्था है। उसको 'महाशक्तियाँ' कहा है। स्वधा का अर्थ अन्न है। प्रयति कहते हैं यत्न करनेवाले को। स्पष्ट ही है कि यहाँ इन शब्दों का अर्थ है भोग्य और भोक्ता। प्रधान भोग्य, पुरुष भोक्ता है। निर्लेप होते हुए भी प्रधान के सान्निध्य में पुरुष अपने में कर्तृत्व, भोक्तृत्व का आरोप कर लेता है। ऊपर और नीचे के स्थान में कुछ लोग 'इस ओर', 'उस ओर' अर्थ करते हैं। इससे भी भाव में कोई विरोध नहीं आता; पुरुष और प्रधान का द्रष्टा-दृश्य-संबंध बना रहता है*।

---

* इसके पश्चात् के सृष्टिक्रम पर एक दृष्टि—

सूक्त पुरुष और प्रधान, क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र का उल्लेख करके तूष्णीं होता है। इसके आगे के क्रम का वर्णन सांख्य और विज्ञान करते हैं। एक समय था जब विज्ञान दर्शन से बहुत दूर जा पड़ा था, परंतु आज दोनों के बीच की खाई पटती जाती है। इस स्थान पर मैं ऋग्वेद के दशम मंडल के १६०वें सूक्त की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। वह कहता है—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ १॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ २॥
सूर्याचंद्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ३॥

(१) उद्दीप्त तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए; तब रात्रि उत्पन्न हुई, उससे समुद्र हुए।

(२) समुद्र से संवत्सर का जन्म हुआ। विश्व के स्वामी ने अपने निमेषोन्मेष से (पलक मारने से) दिन-रात का विधान किया।

(३) विधाता ने अपूर्व के अनुसार सूर्य, चंद्र, पृथिवी, स्वर्ग, अंतरिक्ष की कल्पना की।

यह वृत्तांत नासदीय सूक्त में दिए वृत्तांत का पूरक माना जा सकता है। ऋत उस दैवी नियम को कहते हैं जिसके वश में रहकर सब वस्तुएँ अपने अपने धर्म का अनुसरण करती हैं। इसलिये ऋत और सत्य प्रधान और पुरुष को कह

सकते हैं। अथवा बाह्य जगत् की नियामक शक्ति के ऋत और धर्म के, जिसका अनुसरण करके मनुष्य अभ्युदय प्राप्त करता है, सत्य कहा जा सकता है। सृष्टि के प्रसंग में तप शब्द की व्याख्या पीछे तीसरे मंत्र के भाष्य में की जा चुकी है। यदि तप शब्द का प्रचलित अर्थ लिया जाय तो इस पंक्ति का यह भाव भी हो सकता है कि आजानदेवों के तप से ऋत और सत्य की उत्पत्ति हुई। उनको ही इस भूर्लोक का नियंत्रण करना है, अतः वे ही प्राणियों और जड़ वस्तुओं को अपने तपोजन्य प्रभाव से नियमों की शृंखला में रखते हैं।

इसके बाद की पंक्तियों में आज से करोड़ों वर्ष पहिले की उस अवस्था का वर्णन प्रतीत होता है जब पृथिवी घने वाष्प सदृश द्रव्यों के वातावरण से घिरे तप्त पिंड के समान थी। उसका ऊपरी तल ठोस हो गया था परंतु जल रहा था। ऊपर का आवरण ठंडा होता था और नीचे गिरता था, परंतु भूतल पर पहुँचते ही भाप बनकर ऊपर को फेंक दिया जाता था। लाखों वर्षों तक यह अजस्र धारा का बरसना और भापों का तत्काल उछलना, फिर मेघों का बनना और बरसना जारी रहा। ज्योतिषियों का कहना है कि बृहस्पति पर आज यही हो रहा है। वह पृथिवी से बड़ा ग्रह है, इसलिये जो बातें पृथिवी पर थोड़े दिनों में हो गईं उनको उस पर अधिक समय लगना स्वाभाविक है। जब तक यह सब होता रहा तब तक यदि पृथिवी पर कोई होता तो उसे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि के दर्शन न हो सकते, चारों ओर घोर अंधकार ही जान पड़ता। उस मोटे आवरण में से प्रकाश की किरणें पार नहीं आ जा सकती थीं। इसी लिये मंत्र में पहिले रात्रि का उत्पन्न होना बतलाया गया है। धीरे धीरे भूतल ठंडा हुआ। तब ऊपर से गिरनेवाला जल उस पर टिकने लगा और समुद्र रूप से जमा होने लगा। इसी लिये रात्रि से समुद्र की उत्पत्ति कही गई है।

जब अधिक मात्रा में गाढ़ी भाप नीचे समुद्र रूप में जमा हो गई तो ऊपर का आवरण आज कल जैसा पारदर्शक हो गया। आकाश में सूर्य का राशियों में भ्रमण और सूर्य-चन्द्रादि का दैनंदिन ध्रुव-परिक्रमण देख पड़ने लगा। दिन-रात का भान हुआ। इसलिये यह कहना उचित है कि समुद्र से संवत्सर और दिन-रात बने। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अपादान कारक (पंचमी विभक्ति) का सूचक प्रत्यय 'से' उत्तर काल का भी बोधक होता है अर्थात् जहाँ यह कहा गया है कि समुद्र से संवत्सर बना, वहाँ यह अर्थ लिया जा सकता है कि समुद्र के पीछे संवत्सर बना।

अंतिम मंत्र यह बतलाता है कि जगत् के स्रष्टा ने सब वस्तुओं की रचना अपूर्व के अनुसार की। कर्मों के संस्कार को अपूर्व कहते हैं। इसका दूसरा नाम अदृष्ट भी है। जिन जीवों को इन नवसृष्ट लोकों में रहना था उनके अपूर्व के अनुसार, उनके भोग और कर्म के उपयुक्त, भूर्लोक आदि को बनाया।

मंत्र

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत, कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥६॥

भावार्थ

कौन जानता है, कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से आई, किससे उत्पन्न हुई? देवगण इसकी उत्पत्ति के पीछे हुए, फिर कौन जानता है कहाँ से हुई।

भाष्य

इस जगत् के मूल में जो ब्रह्म पदार्थ है उसका तथा प्रतीयमान विश्व के सृष्टि-क्रम का ज्ञान, जैसा कि मैं पहिले कह चुका हूँ, केवल तर्क से नहीं प्राप्त हो सकता। वह तो निदिध्यासन, योगाभ्यास, द्वारा परिष्कृत बुद्धि में

इसलिये धाता पर मनमानेपन का आरोप नहीं हो सकता। वह यदि दूसरों से नियम-पालन की आशा करता है तो स्वयं भी अपने नियम का, जो वस्तुतः उसके स्वभाव का नामांतर है, पालन करता है। कुछ लोग 'यथापूर्वम्' पद का 'यथा पूर्वम्' विच्छेद करके 'पूर्व के अनुसार' अर्थ लगाते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि धाता ने सूर्य्यादि को उसी प्रकार बनाया जैसे कि वे पहिले, इससे पहिले के कल्पों, सृष्टिकालों, में बना करते थे। यदि यह अर्थ ठीक हो तो यह मानना पड़ेगा कि एक कल्प में दूसरे की पूरी पूरी नकल होती है। असंख्येय जीवों की प्रवृत्तियाँ, उनके प्रवृत्ति-प्रेरित कर्म, उन कर्मों के असंख्य संस्कार, उन संस्कारों से विशिष्ट भोग-सामग्री, इस भोग-सामग्री के अनुकूल लोक और लोकों के अवयव—यह सब कल्पानुकल्प एक से होते जायँ, ऐसा मानना बुद्धिसंगत नहीं प्रतीत होता। अनंत वैषम्य की ओर से आँख बन्द कर लेने पर ही हम ऐसा मान सकते हैं कि किसी कल्प-विशेष की सृष्टि अपने पूर्वकल्प की नकल होती है। अतः मैं 'यथापूर्वम्' का पदच्छेद 'यथा अपूर्वम्' करना ही ठीक समझता हूँ।

मैं यह दावा नहीं करता कि जिस ऋषि ने इस सूक्त को अवतरित किया, उसके सामने वह चित्र था जिसका वर्णन आजकल के ज्योतिषी और भूगर्भशास्त्री करते हैं। मैं केवल इन अद्भुत मंत्रों की ओर ध्यान आकर्षित कराता हूँ। ऋषियों को क्या और कितना ज्ञान था, इसके विषय में प्रत्येक मनुष्य अपना मत स्वतः स्थिर कर ले।

यदि मेरी व्याख्या ठीक है तो इन मंत्रों में जिस अवस्था का वर्णन है वह प्रकृति से महाभूतों के निकलने के पीछे की है। इन दोनों के बीच की जो अवस्था थी उस पर दूसरे भाग में विचार किया गया है।

ही उदित होता है। लाखों मनुष्यों में कोई बिरला ही होता है जिसको सच्ची जिज्ञासा होती है और जिज्ञासुओं में भी ऐसे थोड़े हो होते हैं जो उस कठिन मार्ग पर, जिसे श्रुति क्षुरस्य धारम्—छुरे की धार—कहती है, चलने की पात्रता रखते हैं। जिन लोगों ने आत्मानुभव प्राप्त कर भी लिया है, उनमें सबमें इतनी योग्यता नहीं होती कि दूसरों को बोध करा सकें। गुरु का लक्षण यह है कि वह श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हो। जिसने श्रवण और मनन करके विषय का अध्ययन किया है, वह श्रोत्रिय है। वह शिष्य की शंकाओं का समाधान कर सकता है। जिसने समाधिस्थ रहकर साक्षात्कार किया है वह ब्रह्मनिष्ठ है। वह शिष्य को मार्ग का उपदेश दे सकता और बीच में आनेवाली कठिनाइयों का निवारण कर सकता है। ऐसे लोग बहुत थोड़े होते हैं। यही बात शब्दांतर से कठोपनिषत् में कही गई है :—

"आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः"

इसका कहनेवाला विचित्र है, इसका प्राप्त करनेवाला कुशल है। योग्य गुरु से उपदिष्ट इसका जाननेवाला आश्चर्य का विषय है। ये बातें सबको बतलाई भी नहीं जा सकतीं। सद्गुरु शिष्य की पात्रता की परीक्षा करके ही उसको रहस्य की दीक्षा देता है। प्रश्नोपनिषत् में पिप्पलाद कौसल्य अश्वलायन से कहते हैं "तू बड़े ऊँचे प्रश्न (अति प्रश्नान्) पूछता है परंतु तेरी ब्रह्म में अनुरक्ति है इसलिये मैं तुझे बतलाऊँगा।" जिसको एतद्विषयक जिज्ञासा उत्पन्न हो और सद्गुरु का सत्संग प्राप्त हो वह परम सौभाग्यशाली है।

देवगण भी इस रहस्य को नहीं जानते। देवों के दो भेद हैं। एक तो कर्मदेव, दूसरे आजानदेव। जो मनुष्य अपने पुण्यकर्मों के प्रभाव से स्वर्गादि लोकों में जाते हैं और वहाँ पुण्य के क्षय होने तक रहते हैं उनको कर्मदेव कहते हैं। ये लोग तत्तत् लोक के सुखों का तो अनुभव प्राप्त करते हैं पर उनके अधिष्ठाताओं के अधिकारों के भागी नहीं होते। जो लोग बड़ी उग्र तपस्या करते हैं वे अगले कल्प में दिव्य लोकों में उच्च कोटि के अधिकार और वैभव का उपभोग करते हैं। वे जगत् में ऋत का पालन करते हैं और ऊपर के लोकों के अधिष्ठाता होते हैं। उनको आजानदेव कहते हैं। उनका ज्ञान और बल विशाल है। फिर भी वे सृष्टि के आदि

में तो नहीं ही थे। जब वह सूक्ष्म सामग्री, जिससे उनके शरीर बने हैं, बन गई अर्थात् जब पुरुष और प्रधान की क्रीड़ा आरंभ हो गई उसके बाद ही वे अपने अपने काम में लग सके। यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का २०वाँ मंत्र विराट् के संबंध में कहता है—

यो देवेभ्यऽ आतपति यो देवानाम्पुरोहित:

पूर्वो यो देवेभ्यो जात:।

जो देवों के द्वारा चमकता है, जो देवों के आगे रखा हुआ है, जो देवों से पहिले उत्पन्न हुआ।

प्रथम मंडल के १६४वें सूक्त का ५वाँ मंत्र देवों की एतद्विषयक अज्ञता इन शब्दों में व्यक्त करता है—

पाकं पृच्छामि मं न सा विजानन्देवानामेना निहिता पदानि

मैं अज्ञानी पुरुष यह पूछता हूँ। देवगण भी इसे नहीं जानते। यह उनसे छिपा है।

इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि कोई देव-शरीरधारी ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। साधारणत: तो आजानदेव मुक्त नहीं हैं पर यदि उनमें से किसी में कर्मविपाक से जिज्ञासा उत्पन्न हो तो उनके अपेक्षया शुद्ध अंत:-करणों में ज्ञान का उदय होना कठिन नहीं है। इसके कई उदाहरण मिलते हैं। केनोपनिषत् में एक इंद्र का उमा हैमवती से ज्ञान प्राप्त करना दिखलाया गया है। बृहदारण्यक उपनिषत् में लिखा है कि दैत्यराज विरोचन के साथ किसी इंद्र ने ब्रह्मदेव का शिष्यत्व ग्रहण किया था। विरोचन तो सत्पात्र न था पर इंद्र पूर्ण अधिकारी थे, अत: उनको ज्ञान की उपलब्धि हुई।

मंत्र

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।

यो अस्याध्यक्ष: परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ ७ ॥

भावार्थ

यह विसृष्टि कहाँ से हुई, किसने की, किसने नहीं की, जो इसका अध्यक्ष परम व्योम में रहता है, वह यह सब जानता है या, स्यात्, वह भी नहीं जानता।

भाष्य

पहिलेवाले मंत्र के अर्थ का ही इसमें विशदीकरण है। ईश्वर इस जगत् का स्वामी है। 'स्यात् वह भी नहीं जानता' कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वर का ज्ञान सीमित है; वस्तुतः उसका ज्ञान निःसीम, निर्बाध है। योगदर्शन के अनुसार वह 'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'—काल के घेरे से बाहर होने के कारण पूर्व गुरुओं का भी गुरु है। यहाँ उसके संबंध में शंका-सूचक शब्दों का प्रयोग करके विषय की कठिनता और श्रम की आवश्यकता की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। पतंजलि कहते हैं कि 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः'—दीर्घकाल तक निरंतर सत्कार के साथ सेवन करने से योग की दृढ़ भूमिका प्राप्त होती है। व्यास भी 'असकृत् अभ्यास', निरंतर अभ्यास, पर जोर देते हैं।

ईश्वर का निवास परम व्योम में है, इस कहने से यह शंका न होनी चाहिए कि उसका कोई पृथक् लोक है। परम व्योम में, व्योम के ऊपर, जैसा कि कुछ लोग अर्थ करते हैं, कहने का तात्पर्य यह है कि वह दिक्काल के परे है। उस व्योम को जिसमें ईश्वर रहता है, चिदाकाश कहते हैं। वह चेतनात्मक, शुद्ध ज्ञान-स्वरूप है। वह ज्ञान सब ज्ञेय विषयों का अधिष्ठान होने से आकाश की भाँति व्यापक है, इसी लिये उसे व्योम कहते हैं।

अध्यक्ष का व्यावहारिक अर्थ स्वामी है। यों उसका शब्दार्थ है आँख के ऊपर रहनेवाला। आँख इंद्रियों का उपलक्षण है। जो आँख, यानी सब इंद्रियों, के ऊपर, परे, है वह अध्यक्ष है। इंद्रियाँ ज्ञान-साधन हैं। जो ऐसे सब साधनों के परे है, जो उनका विषय नहीं है; वह अध्यक्ष कहला सकता है। इस अर्थ में यह शब्द ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हो सकता है। ब्रह्म के लिये यह कहना अनुचित नहीं है कि वह सृष्टि-संबंधी बातों को नहीं जानता। ब्रह्म सब भेदों से विमुक्त है। ब्रह्मपद में जगत् का अभाव है। ब्रह्म के लिये न कुछ ज्ञेय है, न वह ज्ञाता है। ब्रह्म में सृष्टि और स्रष्टा, द्रष्टा और दृश्य, जड़ और चेतन, ईश्वर और जीव सभी भेदों का विलय हो जाता है।

यह कहकर श्रुति शुद्ध ब्रह्मस्वरूप और, इस व्याज से, ब्रह्मज्ञान-रूपी परम पुरुषार्थ, की ओर संकेत करके अब विराम करती है।

२

दर्शनों में सृष्टिक्रम

(क) समस्या

भारतीय दर्शन की सभी विचारधाराओं में पंचमहाभूत का नाम आता है। संस्कृत तथा प्रचलित भारतीय भाषाओं में लिखे सभी धार्मिक ग्रंथ इनके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और अशिक्षित ग्रामीण तक ऐसा मानता है कि मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि जीवधारियों के शरीरों से लेकर नदी, समुद्र, पर्वत, वनस्पति, चंद्र-सूर्यादि आकाशचारी पिंड तक इन भूतों से ही बने हैं। ऐसा समझ में आता है कि जिन शब्दों का प्रचार इतना व्यापक है उनका अर्थ भी स्पष्ट और सर्वसम्मत होगा। परंतु दुर्भाग्य की बात है कि यह कल्पना निराधार है। इतना तो सभी मानते हैं कि आत्मा और चित्त के अतिरिक्त इस जगत् में जो कुछ प्रतीत होता है वह पांचभौतिक है, परंतु भूतों के स्वरूप और अभौतिक जगत् के साथ उनके संबंध के विषय में कोई एक निश्चित मत नहीं है। जो दर्शन के पंडित हैं वे अपने अपने शास्त्र की परिपाटी पर दृढ़ता से स्थिर हैं। शेष मनुष्य, चाहे वे शिक्षित हों या अशिक्षित, इनका प्रयोग बिना कोई ठीक अर्थ लगाए ही कर दिया करते हैं। पर इस वैज्ञानिक युग में महाभूत केवल शास्त्रार्थ का विषय नहीं रह सकते। विज्ञान ने इस संबंध में बड़ी खोज की है और जगत् जिस सामग्री से बना है, उसके विषय में उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। यदि इस क्षेत्र में दर्शन का अपना कुछ वक्तव्य है तो वह ऐसा होना चाहिए जिसका विज्ञान के साथ सामंजस्य हो अन्यथा वह अमान्य होगा।

मेरा ऐसा विश्वास है कि जिन ऋषियों ने भारतीय दर्शन की नींव डाली थी वे योगी थे और उनको एतद्विषयक ज्ञान था। यह ज्ञान उनको समाधि की अवस्था में प्राप्त हुआ था परंतु जब वह उनके शिष्य-प्रशिष्यों में फैला तो अक्षुण्ण न रह सका, इसलिये कि ये लोग उस प्रकार के अनुभव से शून्य थे। उन दिनों विज्ञान की उन्नति तो हुई नहीं थी इसलिये सामान्य जनता के पास इस प्रकार के ज्ञान का कोई साधन न था। यदि ऐसा साधन होता और व्यावहारिक ज्ञान की प्रचुर मात्रा होती तो योगानुभूति से

उत्पन्न ज्ञान उसके साथ एक शृंखला में बाँधा जा सकता और उसकी परंपरा न बिगड़ने पाती। ऐसा न होने से जो कुछ पूर्वज लोग संकेत रूप से कह गए उसका जिससे जो अर्थ लगाते बना लगाया गया। परिणाम यह हुआ कि बुद्धि-विलास और वाग्युद्ध की तो विशाल सामग्री प्रस्तुत हो गई परंतु सत्य कोसों दूर पड़ गया। इतनी भूल आचार्यों ने भी की कि नए पारिभाषिक शब्द रचने के स्थान में उन्होंने अर्थ बदलकर कुछ प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया। ये शब्द अपने पुराने अर्थों से पीछा न छुड़ा सके और पीछे चलकर भ्रामक विचारों के जनक बन गए। दूसरे देशों में भी प्रचलित शब्दों के प्रयोग से बहुत गड़बड़ मचती रहती है।

अब मैं यह दिखलाऊँगा कि महाभूतों के संबंध में हमारे यहाँ कौन कौन से विचार प्रचलित हैं। मुख्यतया वेदांत, सांख्य और वैशेषिक ने इस प्रश्न पर ऊहापोह किया है। मैं जानता हूँ कि वेदांत के अंतर्गत अद्वैतादि कई विभिन्न वाद हैं पर इस संबंध में उनमें कोई बहुत बड़ा मतभेद नहीं है, इसलिये सुविधा की दृष्टि से यहाँ शांकर मत के अनुसार ही प्रतिपादन किया जायगा। वैशेषिक और न्याय का भी आपस में अविरोध है इसलिये जहाँ जहाँ मैंने वैशेषिक न्याय शब्द का प्रयोग किया है वहाँ वहाँ न्याय का भी ग्रहण करना चाहिए।

वेदांत के मत का आधार उपनिषद् का यह वाक्य मानना चाहिए— एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः* इत्यादि। इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से अप् और अप् से क्षिति। आकाश का गुण शब्द है, वायु का शब्द और स्पर्श, तेज का शब्द, स्पर्श और रूप, अप् का शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा क्षिति का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। आत्मा परमात्मा और ब्रह्म से अभिन्न है, अतः यह कह सकते हैं कि पाँचों भूत ब्रह्म से निकले हैं। पर उनकी उत्पत्ति एक साथ नहीं हुई है। पहले आकाश आविर्भूत हुआ, फिर क्रमात् वायु आदि निकले। यद्यपि परमार्थतः ब्रह्म अविकारी है परंतु मायावशात् उसमें यह सब प्रतीति होती है।

---

* तैत्तिरीय उपनिषद्—वल्ली २, अनुवाक १।

सांख्य दर्शन के अनुसार जगत् के मूल में पुरुष और प्रधान हैं। पुरुष चिन्मात्रधर्म्मा और संख्या में अगण्य हैं। प्रधान जड़ और एक है। वह सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीन गुणों की साम्यावस्था है। पुरुष के सान्निध्य से साम्य भग्न हो जाता है और प्रधान में विकार उत्पन्न होने लगते हैं। पुरुष अविकारी है परंतु जिस प्रकार स्फटिक पर पास में रखे हुए रंगीन प्रकाश की आभा पड़ती है वैसे ही उस पर भी प्रधान के विकारों का कृत्रिम प्रभाव पड़ता है और वह अपने को सुखी, दुःखी, कर्ता, भोक्ता मानने लगता है। प्रधान का पहिला विकार बुद्धि है। बुद्धि से अहंकार निकलता है। अहंकार से एक साथ ही सोलह पदार्थ—पाँच ज्ञानेंद्रिय, पाँच कर्म्मेंद्रिय, मन जो उभयात्मक है अर्थात् ज्ञान और कर्म्म दोनों का साधन है, और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—ये पाँचों तन्मात्राएँ। इन तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, तेज, अप् और क्षिति इन पाँच महाभूतों की उत्पत्ति हुई। सांख्य सिद्धांत के इस स्वरूप का निरूपण ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका तथा वाचस्पति की सांख्यतत्त्वकौमुदी में किया गया है*।

सांख्य दर्शन ने सृष्टि का जो क्रम बतलाया है वह बड़े महत्त्व का है। थोड़ा सा उलट-फेर करके इस क्रम का वेदांत के साथ समन्वय किया जा सकता है और सच बात यह है कि प्रचलित पुराण-सम्मत वेदांत शांकर अद्वैतवाद और सांख्य मत के सम्मिश्रण से ही बना है।

वैशेषिक के आचार्य्यों का कहना है कि नव नित्य पदार्थ हैं:—क्षिति, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, मन और आत्मा। आत्मा के दो भेद

* सांख्य की पद्धति यों भी बतलाई जाती है कि अहंकार से शब्द तन्मात्रा का जन्म हुआ। उसमें से आकाश निकला। आकाश से स्पर्श तन्मात्रा और उससे वायु निकला। वायु से रूप तन्मात्रा और रूप से तेज का प्रादुर्भाव हुआ। यों ही अंत में अप् से गंध तन्मात्रा और गंध से क्षिति का जन्म हुआ। इस वर्णन पर वेदांत की जो छाप पड़ी है वह स्पष्ट प्रतीत होती है। मैंने स्वयं इसे ही माना है। इसका विस्तृत वर्णन आगे आएगा। प्रायः सभी पुराणों ने इसे ही स्वीकार किया है। उदाहरण के लिये श्रीमद्भागवत ३रा स्कंध, ५वाँ अध्याय, १८ से ३७ श्लोक देखिए।

हैं, जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा असंख्य हैं, परमात्मा एक है। मन भी असंख्य हैं। प्रत्येक आत्मा के साथ एक मन संबद्ध है। आकाश अखंड और एकरस है। शेष चारों भूतों के बहुत छोटे छोटे टुकड़े हैं, जिनको परमाणु कहते हैं। परमाणुओं के आपस में मिलने से भूतों के बड़े बड़े समूह और पिंड बनते हैं। गौतम और कणाद के सूत्र इस मत के प्रामाणिक आधार हैं। भूतों के गुण वही हैं जो वेदांत दर्शन में बतलाए गए हैं।

इस संक्षिप्त निदर्शन से इन तीन सिद्धांतों का भेद स्पष्ट हो जायगा। वेदांत के अनुसार महाभूत क्रमशः ब्रह्म से निकले हैं और शब्दादि इनके गुण हैं। सांख्य के मत से पुरुष के सान्निध्य में प्रधान में विकार उत्पन्न होता है। तन्मात्राएँ इसी प्रकार की क्रमागत विकार हैं। इनमें से महाभूत निकले हैं। महाभूत एक दूसरे से स्वतंत्र हैं, अर्थात् इनमें कोई निमित्त-नैमित्तिक संबंध—कारण-कार्य्य संबंध—नहीं है। वैशेषिक कहता है कि पाँचों महाभूत नित्य और स्वतंत्र हैं और शब्दादि इनके गुण हैं। यह भेद नीचे के चित्र से समझ में आ सकता है :—

वेदांत

नित्य पदार्थ

|

ब्रह्म—चिन्मात्र, एक

|

आत्मा—चेतन, अनेक

|

आकाश—गुण-शब्द

|

वायु—गुण-शब्द, स्पर्श

|

तेज—गुण-शब्द, स्पर्श, रूप

|

अप्—गुण-शब्द, स्पर्श, रूप, रस

|

क्षिति—गुण-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध

टि०—यदि उपनिषत्-वाक्य का तात्पर्य्य परमात्मा से हो तो ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा कैसे पड़ती है तथा यदि उसका तात्पर्य्य प्रत्यगात्मा से हो तो ब्रह्म शरीरी कैसे बनता है, यह सब वेदांत के प्रामाणिक ग्रंथों में देखना चाहिए।
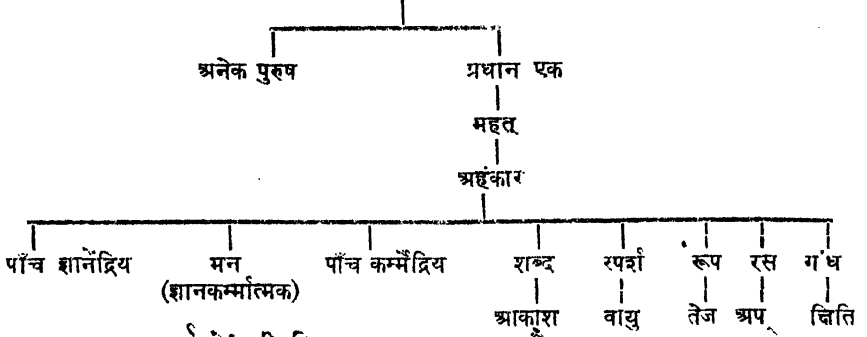
सांख्य
नित्य पदार्थ
अनेक पुरुष
प्रधान एक
महत्
अहंकार
पाँच ज्ञानेंद्रिय
मन
(ज्ञानकर्म्मात्मक)
पाँच कर्म्मेंद्रिय
शब्द
स्पर्श
रूप
रस
गंध
आकाश
वायु
तेज
अप्
क्षिति
अथवा उत्तरार्ध यों भी दिखलाया जा सकता है :—
अहंकार
शब्द
आकाश
स्पर्श
वायु
रूप
तेज
रस
अप्
गंध
क्षिति
वैशेषिक
नित्य पदार्थ
आत्मा
(अनेक)
मन
(अनेक)
काल
दिक्
आकाश
(गुण शब्द)
वायु
(गुण, शब्द स्पर्श)
तेज
(गुण, शब्द, स्पर्श, रूप)
अप्
(गुण, शब्द, स्पर्श, रूप, रस)
क्षिति
(गुण, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध)
परमात्मा
(एक)
जीवात्मा
(अनेक)
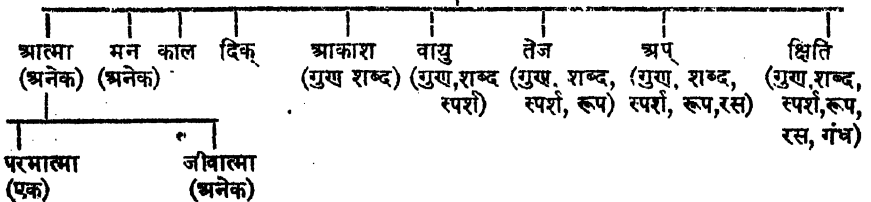
इन भेदों का निर्देश कर देना ही हमारी समस्या को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है। यहाँ केवल कहने के ढंग में भेद नहीं है, प्रत्युत मूल सिद्धांतों में गहरा भेद है। इतना तो कहा जा सकता है कि जिन रूपों में इनका प्रतिपादन होता है उन रूपों में तीनों सत्य नहीं हो सकते। तीन में से एक ठीक हो सकता है या तीनों गलत हो सकते हैं।

वैशेषिक का मत तो बहुत ही स्थूल है। अनात्मवादी पाश्चात्य वैज्ञानिक या समाजवादी दार्शनिक भी इतने अधिक स्वतंत्र पदार्थों की सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं समझता। उनकी परमाणुवाद की सूझ प्रशंसनीय है, परंतु परमाणुओं को त्रसरेणु—सूर्य की किरण में देख पड़नेवाले रजकण—के छठे भाग के बराबर मानना हास्यास्पद है। इससे भी बढ़कर हास्यास्पद उनका यह आग्रह है कि सोना शुद्ध तेज है, उसमें किसी और महाभूत की मिलावट नहीं है। गणित के सहारे से कमलाकर ने परमाणुवाद का जो खंडन किया था वह रोचक है। मान लीजिए कि क ख एक परमाणु है और ख ग दूसरा परमाणु, जो उससे लंब बनाता हुआ खड़ा है। इस दशा में रेखागणित के नियम

के अनुसार $\text{क ग}^2 = \text{क ख}^2 + \text{ख ग}^2$

$= (\text{१ परमाणु})^2 + (\text{१ परमाणु})^2$

$= (\text{२ परमाणु})^2$

अतः $\text{क ग} = \sqrt{2}\ \text{परमाणु}$

$= \text{१·४१४}\ldots\ldots\ \text{परमाणु}$

परमाणुवाद के अनुसार परमाणु के टुकड़े हो नहीं सकते। या तो एक परमाणु हो सकता है या दो हो सकते हैं परंतु १·४१४ अर्थात् लगभग डेढ़ परमाणु नहीं हो सकते। परंतु गणित का सिद्धांत सार्वभौम है, इसलिये क ग की लंबाई १·४१४ परमाणु होनी ही चाहिए। इससे यह निकला कि परमाणुवाद, यानी यह मानना कि भूतों के अंशरूप परमाणु अविभाज्य हैं, निराधार है। मैं नहीं कह सकता कि इस तर्क की तह में जो भूल है उसे पकड़कर परमाणुवाद कहाँ तक अपनी रक्षा कर सका है।

जब से इस देश में विज्ञान का पठन-पाठन आरंभ हुआ तभी से कुछ लोगों का ध्यान इस ओर गया कि आकाशादि की वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार व्याख्या की जाय, पर अभी तक ऐसे प्रयत्न सफल नहीं हुए। साधारण प्रकार से यह समझ में आता है कि क्षिति का अर्थ ठोस अवस्था और अप् का द्रव अवस्था है। यहाँ तक तो बात बन जाती है। इसके पीछे विज्ञान और अपने नित्य के अनुभव के अनुसार वाष्पीय अवस्था आती है। उससे भी सूक्ष्म विद्युद्युक्त कणों की अवस्था होती है। सबसे पीछे आकाश आता है। ऐसा ही मानकर लोगों ने अर्थ किया है पर इसमें अड़चनें पड़ती हैं। पहिले तो आकाश नाम के किसी पदार्थ के होने में वैज्ञानिकों को स्वयं संदेह होने लगा है। फिर वाष्पीय दशा के लिये वायु और विद्युन्मय दशा के लिये तेज नाम कुछ ठीक जँचते हैं, परंतु क्रम में पहिले तेज तब वायु आता है। विज्ञान की दृष्टि में आकाश का शब्द से कोई संबंध नहीं है।

मैं इस निबंध में यह दिखलाने का प्रयत्न करूँगा कि भूतों के नाम और गुणों की ऐसी व्याख्या की जा सकती है जो सांख्य-वेदांत-सम्मत हो और इसके साथ ही विज्ञान के अनुकूल हो। परंतु इस काम को आरंभ करने के पहिले एक और शब्द पर विचार करना आवश्यक है। वह शब्द 'प्राण' है। प्राण का कोई उपयुक्त विदेशी वैज्ञानिक या व्यावहारिक पर्याय नहीं है; कम से कम, मुझे उसका ज्ञान नहीं है। इसलिये इसके संबंध में आधुनिक विज्ञानगत कोई उलझन तो नहीं पड़ती, परंतु अपने पुराने दार्शनिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और वैज्ञानिक वाङ्मय में कठिनाइयाँ पड़ती

हैं। इसकी ठीक ठीक व्याख्या न होने से अर्थ का विपर्यास हो जाता है। इसलिये मैं भूतों के विषय में विचार करने के पहिले प्राण पर ही विचार करूँगा।

आगे के विचार में मैंने बराबर योगशास्त्र और योगियों के अनुभव से सहायता ली है। मैं स्वतः इसको ज्ञान का पुष्टतम साधन मानता हूँ। यह ठीक है कि यह साधन सर्वसुलभ नहीं है, फिर भी इस ज्ञानसामग्री का उपयोग किसी अन्य सामग्री के उपयोग से कम उचित नहीं हो सकता।

(ख) प्राण

प्राण का जिक्र विशेष रूप से योग के ग्रंथों में आता है। योग का चर्चा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से थोड़ा-बहुत सभी उपनिषदों में है। कुछ, जैसे क्षुरिका और वज्रसूचिका, तो योग का मुख्य विषय ही है। पातंजल सूत्र एतत्संबंधी सिद्धांत-ग्रंथ है और व्यावहारिक उपदेश शिवसंहिता, घेरंड-संहिता, हठयोगप्रदीपिका, गोरक्षपद्धति जैसी पोथियों में मिलते हैं। पुराणों में यत्र-तत्र बहुत अच्छा वर्णन है। हिंदी में कबीर और नानक जैसे महात्माओं की वाणी में पर्याप्त सामग्री मिलती है। इन सबके अतिरिक्त तंत्र-ग्रंथ योग-विद्या के भंडार हैं। लोग आजकल तंत्रों के नाम पर नाक सिकोड़ते हैं और इसमें संदेह नहीं कि उनमें ऊपर से ऐसी बहुत सी बातें देख पड़ती हैं जिनसे जी घबरा उठता है, परंतु वीर कोटि के उपासकों के लिये उनमें शुद्ध योग की शिक्षा है। योग-वाङ्मय के सिवा प्राण का विषय आयुर्वेद के भी अंतर्गत है।

पर खेद की बात है कि जिस शब्द का प्रयोग इतने बड़े बड़े विद्वान् और महात्मा इतने विशद ग्रंथों में इतने आधिक्य से करते हैं उसका अर्थ अंधकार में पड़ा हुआ है। साधारणतः यही समझा जाता है कि प्राण का अर्थ है वायु और वायु का अर्थ है साँस या हवा। वैद्य लोग उन रोगों को, जिनको पाश्चात्य चिकित्सक नाड़ि-संस्थान का विकार समझते हैं—और उनकी समझ की पुष्टि प्रत्यक्ष प्रयोगों से होती है—वायु के प्रकोप से

उत्पन्न मानते हैं। डकार आना भी वायु का विकार है और उन्माद भी वायु का ही दोष है। जब कोई ज्वर में बकने लगता है तो कहा जाता है कि वायु मस्तिष्क में चढ़ गया। मरनेवाले का प्राण निकलना और साँस छूटना एक ही बात हो गई है। बहुत दिनों से शरीर को चीरने-फाड़ने की पद्धति तो उठ ही गई है, अतः जिन तंतुओं के सहारे यह वायु (अर्थात् हवा) चढ़ा-उतरा करता है वे रक्तवाहक शिराओं के समान खोखली नलियाँ समझे जाने लगे हैं।

वैद्य की बात जाने दीजिए, योगियों को तो ये बातें स्पष्ट ज्ञात होनी ही चाहिएँ। कहा यह जाता है कि बिना शरीर की चीर-फाड़ किए और पुस्तकों में अध्ययन किए योगी को शरीर के भीतर की बातें ज्ञात हो जाती हैं। पतंजलि कहते हैं कि नाभिस्थान में संयम करने से कायव्यूह का ज्ञान हो जाता है। योग की पोथियों में नाड़िजाल का बड़ा ही विशद वर्णन मिलता है। तब योगियों का तो यह अपना विषय है। पर हम देखते हैं कि बहुत से साधकों के ही नहीं, वरन् ऐसे लोगों के जो दूसरों को इस मार्ग की शिक्षा देते हैं, मुँह से ऐसी ही बात निकलती है कि प्राण, वायु और साँस समानार्थक शब्द हैं। 'अमुक महात्मा ने अपनी साँस ब्रह्मांड में चढ़ा ली'—ऐसे वाक्य बहुत सुनने में आते हैं।

मैं यह कह देना चाहता हूँ कि न तो मैं सब वैद्यों पर आक्षेप कर रहा हूँ, न सभी योग में अभिरुचि लेनेवालों पर। पर इन दोनों वर्गों की बहुत बड़ी संख्या पर मेरी शिकायत लागू होती है।

पर शास्त्र और व्यवहार दोनों ही ओर से इस विश्वास पर प्रहार होना चाहिए था। दूसरे ग्रंथों को जाने दीजिए, स्वयं वेद वायु और प्राण में भेद करता है। पुरुषसूक्त में श्रुति कहती है 'श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च'—विराट् पुरुष के श्रोत्र से वायु और प्राण उत्पन्न हुए। श्रुति द्विरुक्ति क्यों करती? इससे यह शंका होती है कि वायु और प्राण भिन्न पदार्थ हैं। योगी अपने प्राण को सुषुम्ना नड़ी में चढ़ाता है। पीठ की हड्डी को मेरुदंड कहते हैं। उसमें जो नली है उसके बीच में गुदास्थान से लेकर मस्तिष्क तक जानेवाली नाड़ी को सुषुम्ना कहते हैं। यह 'तंतुरूपा—डोरी के समान है। इस पर

स्थान स्थान पर नाड़ि-तंतुओं के गुच्छे हैं। ये तंतु शरीर में नीचे से ऊपर तक फैले हुए हैं और हमारे ज्ञान और क्रिया के साधन हैं। शरीर के कोने कोने से आकर तंतु सुषुम्ना में मिलते हैं। देखना, सुनना, चलना, साँस लेना, आदि सभी कामों से संबंध रखनेवाले अवयवों का मेल इनके द्वारा सुषुम्ना और मस्तिष्क से हो जाता है। अब सोचने की बात यह है कि इन पतली डोरियों के भीतर साँस कैसे घुस जायगी? मस्तिष्क में वह किस जगह जाकर ठहरेगी? जो लोग थोड़ा-बहुत योगाभ्यास करते हैं उनको तो अपने अनुभव की कुछ परख होनी चाहिए। क्या सचमुच उनकी साँस मेरुदंड के भीतर घुसकर सुषुम्ना में छेद करके ऊपर उठती है? यदि वे थोड़ा सा भी विचार करेंगे तो उनको प्रतीत हो जायगा कि यह बात नहीं है। साँस से सुषुम्ना का कोई संबंध नहीं है।

बस यही सुषुम्नाचारी पदार्थ प्राण है। यह जीवन-शक्ति है। इस शक्ति के अस्तित्व में शरीर की सारी क्रियाएँ होती हैं। यदि यह किसी भाग से थोड़ा सा खिँच जाती है तो वह अंग रुग्ण हो जाता है। यदि शरीर से इसका पूरा विच्छेद हो जाता है तो मृत्यु हो जाती है।

प्राण और श्वासा को लेकर जो शब्द-व्यभिचार होता है उसके तीन कारण प्रतीत होते हैं। एक तो यह कि कभी प्राण और वायु शब्द साधारण बोलचाल में समानार्थ-बोधक रहे होंगे। पीछे प्राण एक विशेष पारिभाषिक शब्द हो गया पर उसका वायुवाले अर्थ से पीछा न छूट सका। इसलिये विद्वन्मंडली में भी कुछ अवसरों पर वह श्वास वायु के अर्थ में और वायु शब्द कहीं कहीं प्राण के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा। जैसे, योगदर्शन के 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्याम् वा प्राणस्य' (या प्राण के निकालने और धारण करने से) सूत्र में स्पष्ट ही श्वास-प्रश्वास वायु की ओर संकेत है। दूसरे, इस शरीर में प्राणशक्ति की सबसे बड़ी अभिव्यक्ति श्वास-क्रिया से होती है। मूर्च्छा और सुषुप्ति की दशा में भी साँस बंद नहीं होती और मरनेवाले की सब चेष्टाओं के बंद हो जाने के बहुत पीछे तक धीमी साँस चलती रहती है। एक तीसरा कारण और भी है और योग-चर्चा में मूल का मुख्य कुश्रेय उसे ही है। प्राण और वायु दोनों का

ही उपयोग योग में होता है। योगी का उद्देश्य मोक्ष है। जब तक चित्त चंचल रहता है, जब तक चित्त में कोई भी वृत्ति उठती रहती है, तब तक पुरुष चित्त के साथ तादात्म्य कल्पित करके कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अनुभव करता रहता है। अतः मोक्ष के लिये चित्त का पूर्णतया उपशम अनिवार्यतया आवश्यक है। पतंजलि कहते हैं कि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। परंतु साधारण अवस्था में चित्त और नाड़िसंस्थान का चोली-दामन का साथ है। एक दूसरे को सतत प्रभावित करता रहता है। नाड़ि-संस्थान में उद्वेग होने से चित्त में ज्ञान, भ्रांति, सुख, दुःख, भय आदि का उदय होता है और चित्त की अवस्थाओं के अनुसार नाड़ि-जाल का संचालन होता है। रक्तप्रवाह, हृदयस्पंद जैसी क्रियाएँ साधारणतः स्वच्छंद रूप से होती रहती हैं परंतु बहुत तीव्र हर्षशोकादि से इनमें भी व्यतिक्रम पड़ जाता है। अतः चित्त को वश में करने के लिये नाड़िसंस्थान को वश में करना आवश्यक होता है। योगी क्या खाय, कैसे और कब नहाय, कैसा और कितना श्रम करे, इन सब बातों के लिये नियम बने हैं। कुछ दूसरी शारीरिक क्रियाओं का भी विधान है। इन सबका परिणाम यह होता है कि नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं। साधारण मनुष्य की नाड़ियाँ प्राणशक्ति का समुचित वहन नहीं कर सकतीं। बाधा पड़ती रहती है, इससे रोग और क्षोभ होता है। एक भाग की चेष्टा का दूसरे भाग की चेष्टा से संघर्ष सा होता है। नाड़ियों के शुद्ध होने पर ये बातें दूर हो जाती हैं। सारी क्रियाएँ उसी प्रकार मिलकर होती हैं जिस प्रकार एक अच्छे बजानेवाले की अँगुलियों के चलने से सितार में से स्वर निकलते हैं। आपस के टकराने में और रोगादि से लड़ने में जो शक्ति नष्ट होती है वह भी संचित हो जाती है। ज्यों ज्यों योगी धीरे धीरे प्राण को शरीर के बाहरी भागों से खींचकर नाड़िमाला पर ले आता है और नाड़िकंदों अर्थात् चक्रों पर केंद्रीभूत करता है त्यों त्यों उसके ज्ञान और बल में अद्भुत वृद्धि होती है और स्वरूप का अनुभव उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। जिन क्रियाओं से इस काम में बड़ी सहायता मिलती है उनमें मुख्य स्थान आसन और श्वास-नियंत्रण का है। एक आसन से स्थिर होकर बैठने तथा साँस की गति का नियंत्रण करने से शरीर निःक्षोभ

हो जाता है और नाड़ियों में निश्चलता आती है। अतः श्वासा का नियंत्रण प्राण के नियंत्रण का एक बड़ा साधन है। साधन और साध्य में अभेद करके व्यवहार में श्वास और प्राण का एक अर्थ हो गया।

जीवधारियों में प्राण श्वास को प्रेरित करता है और अपने काम में व्यस्त रखता है। यदि प्राण अपने संबंध का विच्छेद कर ले तो सभी चेतस और दैहिक चेष्टाएँ बिखर जायँ, मृत्यु हो जाय। यह प्राण जीवन-शक्ति है परंतु शक्ति होने से प्रधानसंभव नहीं है, रजोगुण से नहीं निकला है। यह पुरुष की सत्ता की प्रतिच्छाया है, उसके अस्तित्व का प्रभाव या प्रमाण है। पुरुष की अपनी आत्मिक शक्ति है जो अंतःकरण में बुद्धि को परचालित करती है; देह में भौतिक शक्तियों का नियमन करती है। परंतु पुरुष अखिल विश्वव्यापी विराट् पुरुष का अंश मात्र है, अतः उसका प्राण उस परम पुरुष के प्राण का अंश, उस प्राण-समुद्र की एक लहरी है। इस समय कृत्रिम पार्थक्य का पर्दा पड़ा हुआ है, परंतु ज्यों ज्यों योगी अपने प्राण को बाहर से खींचकर सुषुम्ना में चढ़ाता है त्यों त्यों वह विक्षेपहीन होता जाता है और अपने मूल के निकट आता जाता है। इसी से योगी के ज्ञान और बल में वृद्धि होती जाती है। जब वह अपने प्राण को क़ैद करनेवाली दीवारों को तोड़कर उसे उसके उद्गम पर पहुँचा देता है उस समय, तंत्र के शब्दों में, शिव और शक्ति का मेल होता है, जीवेश्वर-भेद मिट जाता है, पुरुष मोक्ष प्राप्त कर लेता है। अस्तु, यह खूब समझ लेना चाहिए कि वायु प्राण नहीं है।

(ग) पंच महाभूत

हमारे दर्शनशास्त्र के सिद्धांत का विज्ञान के साथ कहाँ तक सामंजस्य है यह देखने के पहिले यह उचित है कि हम विज्ञान का खींचा हुआ जगत् का चित्र अपनी आँखों के सामने रख लें। रसायन-शास्त्र के अनुसार इस विशाल विश्व के विस्तृत प्रपंच की तह में नब्बे से कुछ ऊपर मूल पदार्थ हैं, जिनमें से प्रत्येक तत्त्व कहलाता है। लोहा, पारा, सोना, चाँदी, ताँबा, राँगा तत्त्व हैं। इनकी मूलता इस बात में है कि दूसरे पदार्थ इनके मिश्रण से बने हैं पर ये किसी के मिश्रण से नहीं बने हैं। पीतल तत्त्व नहीं है

क्योंकि वह ताँबा और जस्ता को साथ गलाने से बनता है। तूतिया और जल मूल पदार्थ नहीं हैं। जल में से हाइड्रोजन और आक्सिजन नाम के दो पदार्थ पृथक् किए जा सकते हैं; तूतिया ताँबा, गंधक और आक्सिजन के मेल से बनता है। ये तत्त्व ठोस भी रहते हैं, गर्मी देने से पिघलकर द्रव हो जाते हैं और बहुत गर्म होने पर भाप की भाँति उड़ जाते हैं। प्रत्येक तत्त्व के सबसे छोटे टुकड़े को परमाणु कहते हैं। परंतु विज्ञान यहीं नहीं रुकता। उसने और गहिरा अन्वेषण करके यह देखा है कि प्रत्येक तत्त्व का प्रत्येक परमाणु एक प्रकार का सौर जगत् है। उसमें कुछ बहुत छोटे कण बीच में होते हैं, कुछ उनके चारों ओर घूमते रहते हैं। इन कणों में से कोई धन विद्युत्, कोई ऋण विद्युत् युक्त होता है। विद्युत् शक्ति का एक रूप है। शक्ति अनेक रूपों में जगत् को परिचालित कर रही है। वह कहीं उष्णता, कहीं प्रकाश, कहीं गुरुत्वाकर्षण और कहीं रासायनिक आकर्षण का रूप धारण करती है। वही पनचक्की चलाती है, रेल के एंजिन और कारखाने की मशीनों को परिचालित करती है तथा हमारी मांस-पेशियों में बल के रूप में प्रकट होती है। ये सभी एक दूसरे के रूपांतर हैं। विद्युत् स्यात् इनमें सबसे सूक्ष्म है। कम से कम अभी तक उससे सूक्ष्म किसी रूप का हमें पता नहीं है। अस्तु। तत्त्वों में इसी बात का अंतर है कि किसके परमाणु में किस प्रकार के कितने कण हैं। जगत् की ईंटें दो ही प्रकार की हैं; धनविद्युन्मय कण और ऋणविद्युन्मय कण। पर अभी और आगे चलना है। इन कणों में और विद्युत् में एक विचित्र संबंध है। इनको भौतिक इसलिये कहा जाता है कि इनमें द्रव्यमान है, इनको तौला जा सकता है। पर यह द्रव्यमान गतिसापेक्ष है और गति निर्भर है शक्ति पर। गति बढ़ने पर द्रव्यमान भी बढ़ता है। थोड़े में, अवस्था-विशेष में शक्ति ही उस गुण को प्रदर्शित करती है, जिसे द्रव्यमान कहते हैं। अतः दो प्रकार की विद्युतों से युक्त कणों की सत्ता में गौरव प्रतीत होता है। इतना ही मानना अलम् है कि दो प्रकार की विद्युत् हैं, धन और ऋण। पर ऐसा भी मानने का कारण है कि एक ही प्रकार की अर्थात् ऋण विद्युत् है—उसमें जो बीच बीच में अवकाश, रिक्त स्थान हैं, वही धन विद्युत् से प्रतीत

होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जगत् के मूल में एक पदार्थ, शक्ति का कोई भेद, है। वह दिक् में स्थित है, अवकाश, स्थान, घेरता है। गति ही उसका धर्म है। विशेष अवस्थाओं में वह द्रव्यमान धर्म प्रदर्शित करता है। तब उससे परमाणुओं की सृष्टि होती है और परमाणुओं से जगत् का सारा प्रपंच तैयार होता है। पुंजीभूत शक्ति से परमाणु का प्रादुर्भाव और विगलित परमाणु से पुनः शक्ति का निःस्रवण यह जगत् का अंतस्तल है। कुछ ऐसी भी कल्पना की जाती थी कि आकाश नाम का एक परम सूक्ष्म पदार्थ है जिसमें विद्युत् की तरंगें उठती रहती हैं; क्योंकि तरंगों के लिये, विद्युत् की गति के लिये, किसी माध्यम का होना आवश्यक प्रतीत होता था। बिना पानी के लहर की कल्पना कठिन होती है। पर आज पृथक् आकाश पदार्थ की सत्ता प्रायः नहीं मानी जाती। जिस अवकाश, शून्य, दिक् में जगत् है, उसके अपने धर्म ऐसे हैं कि उनके ही कारण वह दृग्विषय फलीभूत हो सकते हैं जिनको समझने के लिये आकाश की कल्पना की जाती थी। इन धर्मों का अन्वेषण गणित का क्षेत्र है और उसको इस काम में विस्मयकारक सफलता प्राप्त हुई है।* इसी चित्र को सामने रखकर हमको अपने दर्शनों की देन पर विचार करना है।

---

* मैंने यह प्रयत्न किया है कि वैज्ञानिक खोज के अब तक के परिणामों का ऐसा वर्णन दूँ जो उन पाठकों के लिये भी सुबोध हो, जो विज्ञान से अनभिज्ञ हैं। वस्तुतः विज्ञान का यह सिद्धांत अंश बहुत ही दुरूह है। अपनी पुस्तक 'जीवन और दर्शन' में मैंने इन वैज्ञानिक बातों का अधिक विस्तृत वर्णन किया है। रसायन और शक्ति के रूपों के विषय में जो ऊपर कहा गया है वह तो उन प्रारंभिक पुस्तकों में भी मिल जायगा जिनको कालिजों की निम्न कक्षाओं के विद्यार्थी पढ़ते हैं पर सृष्टि-संबंधी गणित और विज्ञान के ऊँचे विचारों के लिये विशेषज्ञों की लिखी पुस्तकें देखनी होंगी। एडिंग्टन की 'दि नेचर आव दि फिजिकल वर्ल्ड', लिओपोल्ड इंफेल्ड की 'दि वर्ल्ड इन माडर्न सायंस', ह्वाइटहेड की 'सायंस एंड दि माडर्न वर्ल्ड', मिलिकन की 'एलेक्ट्रन्स' तथा सर जेम्स जीन्स की पुस्तकों में इस विषय का अच्छा निदर्शन है।

इस वर्णन में दी गई अधिकतर बातें प्रयोग-सिद्ध हैं परंतु कुछ सिद्धांतरूप हैं। सिद्धांत का काम यह है कि प्रयोग द्वारा प्राप्त अनुभव को समझने में सहायता दे।

यह भी ध्यान में रखना होगा कि जगत् का यह पूरा चित्र नहीं है। जीवित प्राणियों में जो जीवन-शक्ति होती है, बुद्धि और मन में जो शक्ति होती है, उन शक्तियों से इस भौतिक परा शक्ति का क्या संबंध है? यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न रह जाता है। अपनी खोज के द्वारा भौतिक विज्ञान ऐसी जगह पहुँच गया है जहाँ से बहुत आगे वह अकेले नहीं जा सकता क्योंकि यहाँ पर उसकी सीमा के साथ जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान, धर्म-शास्त्र और योगविद्या की सीमाएँ मिलती हैं। इन सबका समन्वय कराना दर्शन का काम है। सच्चा दार्शनिक सिद्धांत वही होगा जो किसी भी शास्त्र के प्रामाणिक तथ्यों का विरोध न करते हुए सब तथ्यों का पारस्परिक संबंध और सामंजस्य दिखला सकेगा।

एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। पाश्चात्य विद्वान् अब तक ऐसा मानते रहे हैं कि हमारा अंतःकरण एक प्रकार का तख्ता है जिस पर बाहरी विषय इंद्रियों के द्वारा अपना अपना प्रभाव छोड़ जाते हैं। इंद्रियाँ खुली हैं, उनको विषयों से विताड़ित होना ही होगा और फिर चित्त पर संस्कार पड़े बिना रह नहीं सकता। दूसरी बात वे यह मानते रहे हैं कि चित्त और शरीर का ऐसा साथ है कि शरीर के बिना अर्थात् सुषुम्ना से लेकर मस्तिष्क तक के नाड़िजाल के अणुओं के प्रकम्पन के बिना, चेतस क्रिया नहीं हो सकती। भारतीय दर्शन इन दोनों मतों को अस्वीकार करता है। चित्त और इंद्रिय निष्क्रिय नहीं, सक्रिय हैं। वे विषयों के हाथों बेबस नहीं रौंदी जातीं, स्वयं विषयों को ग्रहण करने के लिये अग्रसर होती हैं। इसी लिये इंद्रियों को ऐसे घोड़ों से उपमा दी जाती है जिनको सँभालना कठिन होता है। कठोपनिषत् कहती है—

"पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयम्भूः—स्वयंभू ईश्वर ने भीतर से बाहर की ओर खोदीं। व्यक्ति और जाति में चित्त और इंद्रिय-शक्ति का विकास इसलिये नहीं होता कि उन पर बराबर विषयों का प्रहार होता रहता है वरन्

इसलिये कि विषयों से संपर्क में आने की, उनको सर्वतोमुख पकड़ने की, प्रवृत्ति चित्त और इंद्रियों का सहज धर्म है।

दूसरी बात यह है कि चित्त और इंद्रिय शरीर के साथ स्वभावतः बँधे नहीं हैं। साधारणतः हम इनकी क्रियाओं को नाड़िजाल पर निर्भर पाते हैं, पर यह तो इनकी निकृष्ट दशा है। ज्यों ज्यों मनुष्य अंतर्मुख होता है त्यों त्यों वह इनको स्वतंत्र और शक्तिमान् बनाता है।

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जब दृश्य और द्रष्टा का साक्षात्कार होता है तब दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और दोनों में ही परिवर्तन होता है। जीवात्मा अर्थात् अंतःकरणविशिष्ट पुरुष द्रष्टा है। प्रत्येक अनुभव उसके अंतःकरण पर अपनी छाप छोड़ता है और प्रत्येक अनुभव के साथ अनुभव करनेवाला बदलता है। उस अनुभव के पहिले और उसके बादवाले चित्त में, अथच चित्तवाले में अंतर है। इसी प्रकार दृश्य का स्वरूप द्रष्टा के अधीन है। वही दृश्य सुखी, दुःखी, निर्धन, दरिद्र, स्वस्थ, रोगी, संसारी, विरक्त को भिन्न भिन्न रंगों से रँगा प्रतीत होता है। इसी इतनी बात को लीजिए। अंधे मनुष्य के लिये, जिसकी चक्षुरिंद्रिय काम नहीं कर सकती, जगत् का क्या रूप है और यदि उसकी यह इंद्रिय यकायक काम करने लग जाय तो इसका क्या रूप हो जायगा। न जाने कितने गुण जिनका इस समय उसके लिये कोई पता नहीं है, अकस्मात् उत्पन्न हो जायँगे।

इन बातों को ध्यान में रखकर हमको महाभूतों के विषय में विचार करना है।

हम पहिले कह चुके हैं कि पुरुष और प्रधान के योग से पहिले बुद्धि उत्पन्न हुई, फिर उससे अहंकार निकला। अहंकार ने पुरुष के व्यक्तित्व को और खिला दिया। उसमें अहंभाव—मैंपन—पूर्ण रूपेण व्याकृत हो उठा। परंतु मैं के लिये न-मैं—अहं के लिये अनहम्—उतना ही आवश्यक है जितना रात के लिये दिन। यदि उपयुक्त साधन हों तो अहं और अनहम् एक दूसरे को प्रभावित कर सकते हैं। मन और दसों इंद्रियों की उत्पत्ति से

साधन की पूर्ति भी हो गई। अब इस जीवात्मा-रूपी ज्ञाता का ज्ञेय, उसका न-मैं, क्या था ?

पुरुष से विरुद्धधर्म्मा प्रधान उसका मुख्य ज्ञेय था। इसको श्रोत्रेंद्रिय ने अपना विषय बनाया। फलतः उसमें श्रोतव्यता धर्म्म, अर्थात् शब्द, उदय हुआ और शब्द से विशिष्ट होकर न मैं का आकाश रूप हुआ। यदि प्रधान न भी होता तो भी मैं की भावना न-मैं की भावना उत्पन्न करती ही। यह भावना आकाश की भावना में मिल गई। आकाश शब्द से सर्वतः व्याप्त था, इसी लिये शब्द और आकाश में संबंध बतलाया जाता है। एक और बात है। जीवात्मा को अस्पष्टतया सही या कुछ न कुछ अनुभूति तो उस 'कुल' की होती ही रही होगी, जिसका वह अंश था। प्राण किसी इंद्रिय का विषय नहीं बनाया जा सकता था पर जीव को अपने में ओतप्रोत, अपने भीतर और बाहर व्याप्त, किसी शक्ति की झीनी संवित् तो रही होगी। यही प्राण उस शब्द को एक अद्भुत शक्ति दे रहा था, जो किसी अन्य शब्द में नहीं है। वह शब्द ओज से परिपूर्ण है। उसमें से अनंत ज्ञान, माधुर्य्य और शांति की किरणें प्रस्फुटित हो रही हैं।

यही अनुभूति योगी को उस अवस्था में होती है जब वह अभ्यास के पुष्ट होने पर चित्त को एकाग्र करके श्रोत्रेंद्रिय को बाहर के शब्दादि तथा मस्तिष्क के बंधनों से मुक्त कर लेता है। यह प्रणव ईश्वर का प्रतीक है। योगदर्शन में इसे ईश्वर का वाचक कहा गया है। ॐ इसकी एक झीनी और अस्फुट प्रतिध्वनि सी है, यों वस्तुतः यह अनुच्चार्य्य है। साधारण अवस्था में हमारी श्रोत्रेंद्रिय की शक्ति कई छोटे प्राणियों की अपेक्षा भी क्षीण रहती है और चारों ओर कोट्यनुकोटि प्रकार की ध्वनियों से दिङ्मंडल परिपूर्ण रहता है अतः हमारे लिये प्रणव को पकड़ना असंभव है।

जब योगी अभ्यास-पथ पर आरूढ़ होता है तो उसकी इंद्रिय-शक्ति बढ़ती है और वह क्षितिसंभूत ऐसी आवाजों को सुनने लगता है जिनका आज उसके लिये कहीं अस्तित्व नहीं है। धीरे धीरे दिग्व्यापी अटूट शब्द-राशि के भीतर उसको प्रणव की प्रतिच्छाया मिलने लगती है। यह दिव्य नाद भौतिक नहीं है, इसी लिये इसे अनाहत—दो पदार्थों के

आघात के बिना उत्पन्न—कहते हैं। इसके भी परे शुद्ध प्रणव पद है। आकाश के उदय होने से सभी जीव जो एक दूसरे के लिये न मैं, अपने अहम् से व्यतिरिक्त, हैं परस्पर प्रभावित कर सकते हैं। उसके धर्मों का अध्ययन गणित और न्याय जैसे शास्त्र करते हैं। इन धर्मों के ही कारण निमित्त संबंध—कारण से कार्य के उद्गम—में हमारा विश्वास दृढ़ होता है। गणित के द्वारा हमको दिक् और काल की अविच्छिन्न परंपरा—अनंत से अनंत तक के विस्तार—का ज्ञान होता है। गणित ही हमको बतलाता है कि, क्योंकि और इसलिये, कारण और कार्य, का अटूट संबंध है।

आकाश पहिला महाभूत है। यह एक विचारणीय बात है कि न्याय वैशेषिक को छोड़कर शेष दर्शनों ने दिक् और काल की पृथक् उत्पत्ति नहीं बतलाई, यद्यपि उसका उल्लेख बराबर करते हैं। प्रत्येक बाहरी घटना किसी जगह और किसी समय होती है। अंतःकरण में जगह तो नहीं होती पर विचारों की धारा भी काल की परिधि के भीतर ही प्रतीत होती है। पर न तो वेदांत बताता है कि आकाश और काल शुद्ध ब्रह्म से कैसे प्रादुर्भूत हुए, न सांख्य यह बताता है कि प्रधान से दिक् और काल कैसे निकले। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि इन शास्त्रों के परम आचार्य इन शब्दों को उन्हीं पदार्थों में से किन्हीं का नामांतर मानते होंगे जिनका विकास वे बतला चुके हैं।

बात है भी ऐसी ही। काल पर विचार करना यहाँ अप्रासंगिक है, परंतु आकाश को दिक् से भिन्न मानना अनावश्यक है। आकाश ही वह अवकाश देता है जिसमें सब वस्तुएँ रहती हैं और घटनाएँ घटती हैं। हम चित्त से सभी वस्तुओं और घटनाओं को यत्न करके निकाल सकते हैं, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कुछ रह जाता है। इस अवशेष की कोई रूपरेखा हमारे ध्यान में नहीं होती, कोई गुण पकड़ में नहीं आता, जिसके सहारे उसका निर्देश कर सकें। फिर भी जैसे कुछ शून्य सा रहता है, ऐसी प्रतीति मिटती नहीं। यह बचा हुआ पदार्थ आकाश है। स्वयं दृग्विषय नहीं है, घटना नहीं है पर दृग्विषयों और घटनाओं की सत्ता इस पर निर्भर है। घटनाओं की गति की संभावना ही इसका स्वरूप

है। आकाश अखंड और निःसीम है, इसी लिये व्यापकता की दृष्टि से ईश्वर की उससे उपमा दी जाती है।

उपर्युक्त वर्णन से यह बात भी समझ में आ जाती है कि आकाश और शब्द में प्राचीन आचार्यों ने क्यों संबंध बतलाया है। वह शब्द जो आकाश में व्याप्त है अलौकिक है। यदि शब्द का अर्थ पशु पक्षी मनुष्यादि की बोली या दो वस्तुओं के टकराने से उत्पन्न ध्वनि लिया जाय तब तो भौतिक विज्ञान का प्रारंभिक विद्यार्थी भी यह आक्षेप कर सकता है कि ऐसे संबंध की बात कहना अवैज्ञानिक है। इस प्रकार की आवाजें तो साधारण ठोस, तरल या वाष्परूपी वस्तुओं को ही अपना माध्यम बना सकती हैं।

आकाश के बाद विकास की प्रगति और तीव्र हो चली। जो न-मैं इस समय आकाश की अवस्था में था उसको त्वगिंद्रिय ने अपना विषय बनाया अर्थात् त्वगिंद्रिय ने उससे संपर्क स्थापित किया। इससे उसने एक नया गुण प्रदर्शित किया। इस गुण को स्पर्श कहते हैं। यह दूसरी तन्मात्रा हुई। जो न-मैं अब तक एक इंद्रिय का विषय था, जो एक इंद्रिय के द्वारा द्रष्टा के चित्त पर संस्कार उत्पन्न करता था, वह अब दो इंद्रियों का विषय हुआ।

स्पर्श का अर्थ छूना है। आजकल कुछ लोग इसका अर्थ तापमान भी करते हैं; क्योंकि बहुत सी पुस्तकों में स्पर्श के शीत और उष्ण दो भेद कहे गए हैं। त्वगिंद्रिय का विषय होना ही स्पर्श का स्वरूप है। साधारणतः विद्युत् या ऐसी ही अन्य सूक्ष्म शक्तियों को शरीर में विषयीकृत करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। आकाश में अनंत प्रकंपन हो रहा है, सैकड़ों प्रकार से शक्ति तरंगित हो रही है पर हमारा अनुभूति-क्षेत्र बड़ा संकुचित है। कुछ गर्मी, कुछ प्रकाश और बस। पर ऐसा कहा जाता है कि किसी किसी रोगी की त्वगिंद्रिय इतनी तीव्र हो गई है कि शरीर से लगा देने से वह कागज पर का लिखा देख सका है। यह तीव्रता तो आकस्मिक है। परंतु अभ्यास के द्वारा त्वगिंद्रिय अपनी नैसर्गिक तीक्ष्णता पर लाई जा सकती है और शक्तिसागर के अविश्रांत नर्तन की अनुभूति प्राप्त की जा सकती है। यही अनुभूति स्पर्श है।' नीचे के स्तरों

में यही स्पर्श सर्दी, गर्मी, कठोरता, नरमी, गुदगुदी, दबाव आदि के रूप में अनुभूत होता है।

स्पर्शयुक्त होकर आकाश का रूप भी बदला। इस नए रूप में उसे वायु कहते हैं। वायु गतिशील है। मेरा विश्वास है कि वायु शब्द से प्राचीन आचार्यों का तात्पर्य्य भौतिक शक्ति के सूक्ष्मतम रूप से था, चाहे वह विद्युत् हो या विद्युत् से भी सूक्ष्म कुछ और जिसका अभी विज्ञान को पता नहीं है। शक्ति का धर्म्म है प्रकंपन, गतिमत्ता। स्यात् इसी साधर्म्य से शक्ति के इस मूल रूप का नाम वायु रखा गया। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि यद्यपि उन लोगों ने चलना, हिलना, यंत्र-चालन, रासायनिक क्रिया, मांस-पेशियों का तनना, उष्णता आदि को देखा ही होगा फिर भी इन सब की तह में काम करनेवाली शक्ति को न तो कोई नाम दिया और न सृष्टिक्रम में उसको कोई स्थान दिया। वैशेषिक-न्याय की भाषा में जो कर्म और गमन शब्द आए हैं वे शक्ति के पर्य्यायवाची नहीं हैं। शक्ति इनका कारण होती है और इनकी मात्रा के अनुसार उसकी मात्रा का मान किया जा सकता है, पर दोनों बातें एक नहीं हैं। वायु प्रधान के अवयवभूत रजोगुण का विकार है। वह चराचर में, जड़-चेतन में, अनेक रूपों से व्याप्त है। वह विश्व का भौतिक शक्ति-पारावार है।

जिस प्रकार आत्मा या परमात्मा की व्यापकता की तुलना आकाश से की जाती है, उसी प्रकार यह दूसरा महाभूत प्राण-शक्ति के लिये उपमान हो सकता है। ऋग्वेद के दशम मंडल के १२५वें सूक्त (प्रसिद्ध देवीसूक्त) में ईश्वर की परा शक्ति कहती है—

अहमेव वात इव प्रवामि आरभमाणा भुवनानि विश्वा।

मैं ही सब भुवनों को आरंभ करती हुई वायु की भाँति गतिमती होती हूँ।

यह पदार्थ भी अपरिवर्तित नहीं रह सकता था। चक्षुरिंद्रिय ने इसके रहस्य को जानने का प्रयत्न किया। उसके आक्रमण से इसमें एक नए गुण का विकास हुआ। इस नए गुण का नाम रूप है। यह तीसरी तन्मात्रा हुई। इसके आविर्भूत होने से जीव का अनहम् अब तीन इंद्रियों का विषय हो गया। उससे विशिष्ट होकर इस अनहम् का रूप भी बदला।

उसकी इस नई मूर्ति का नाम तेज है। रूप से तेज नामक तीसरा महाभूत प्रकट हुआ।

तेज आग नहीं है, न नैयायिकों के कथन के अनुसार सोना उसका घनीभूत रूप है। मेरी समझ में विद्युद्युक्त कणों की अवस्था को तैजस कहा है। ये निरंतर प्रकंपन की दशा में रहते हैं। कण कहीं टूट-कर शक्त्यात्मक हो जाते हैं; शक्ति कहीं मूर्त होकर और द्रव्यमान गुण को धारण करके विद्युत्कण बनती है। कणों की गति-विधि का मानस चित्र बनाना प्रायः असंभव है। उसको शब्दों में भी व्यक्त करना कठिन है। उसके संबंध में विज्ञान को अनिश्चितता, संभावना, संभवप्रायता जैसे गोल और अस्पष्टार्थ-बोधक शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। हाँ, गणित के सूत्रों द्वारा कुछ निदर्शन हो सकता है। तेज की समष्टि को विराट् पुरुष का प्रतीक मानकर ईश्वर को ज्योतिःस्वरूप कहा जाता है।

रूप का तेज से संबंध स्पष्ट है। रूप का अर्थ हुआ प्रकाश या रंग। यह उपयुक्त है। हमको तैजस द्रव्यों का ज्ञान उनसे प्राप्त प्रकाश-रश्मियों के ही द्वारा होता है। उनमें जहाँ किसी प्रकार का परिवर्तन हुआ कि आनेवाले प्रकाश में परिवर्तन हो जाता है। स्थान बदलना, कंपन, गति में वृद्धि-ह्रास, द्रव्यमान का घटना-बढ़ना, इन सब बातों का चिह्न वैज्ञानिक के यंत्र पर प्रकाश-रश्मियाँ जोड़ जाती हैं। शक्ति से कण का प्रादुर्भाव और कण का शक्ति में विलीन होना भी प्रकाश के ही द्वारा अपना परिचय देता है। इसलिये जिन लोगों ने रूप को तेज का गुण बतलाया, उनका ऐसा कहना युक्तियुक्त था।

अब रसनेंद्रिय ने अनुसंधान आरंभ किया। फलतः विस्तृत तेजोराशि में एक नए लक्षण की अभिव्यक्ति हुई। इस नए लक्षण को रस कहते हैं। यह चौथी तन्मात्रा हुई।

रस से विशिष्ट होकर तेज भी बदला। नए रूप में उसे अप् कहते हैं, जो चार इंद्रियों का विषय है। अप् चौथा महाभूत हुआ।

रस का अर्थ साधारणतः स्वाद माना जाता है। छः स्वाद, मधुर, लवण, अम्ल, कटु, तिक्त, कषाय, माने जाते हैं। पर यह सूची व्यापक

नहीं है। सुरासार या कॉस्टिक सोडा को लीजिए। इनका जिह्वा से स्पर्श होने से एक प्रकार की जलन की अनुभूति होती है पर यह जलन मिर्च की जलन से भिन्न है। यह नहीं कह सकते कि वह स्वाद नहीं है, कम से कम सुरासार का तो एक अपना स्वाद निःसंदेह है। पानी को ही लीजिए। पोथियों में तो जल का स्वाद मधुर बतलाया गया है पर यह माधुर्य खाँड के माधुर्य से नितांत भिन्न है। वस्तुतः इसके लिये दूसरा नाम होना चाहिए। वैज्ञानिक शुद्ध जल को निःस्वाद कहता है। यदि हम प्रचलित परिपाटी का परित्याग करके इसको छः स्वादों पर सीमित न मानें और उसे उस अनुभूति का नाम मान लें जो किसी भी पदार्थ और रसनेंद्रिय के संसर्ग से उत्पन्न होती है तो ऐसा माना जा सकता है कि सभी पदार्थों के परमाणुओं में किसी न किसी प्रकार का रस होगा। हम सब रसों को ग्रहण नहीं कर सकते और कुछ अनुभूतियाँ तो बड़ी ही अरुचिकर होंगी पर सूक्ष्मीकृत रसनेंद्रिय इन सबको अपना विषय बना सकेगी। हम अप् की जो व्याख्या करनेवाले हैं उसको ध्यान में रखते हुए यह बात भी स्मरणीय है कि गले हुए धातुओं को भी रस कहते हैं।

अप् का अर्थ जल नहीं हो सकता। पुराणों में ही नहीं प्रत्युत श्रुति में भी कहा है कि अप् से सृष्टि होती है और इसी में लीन होती है। अप के गर्भ से सृष्टि के निकलने का बराबर उल्लेख है। यह कैसे माना जाय कि जिन लोगों ने ऐसा लिखा है वे यह मानते थे कि किसी अवस्था में पहाड़, पत्थर, धातु भी जल में घुल जायँगे? यह भी जाने दीजिए। सूर्य चंद्र सुवर्ण नक्षत्रगण को तो उन्होंने भी तैजस माना है। कार्य कारण में लय होता है, कारण कार्य्य में नहीं। तेज अप् का कारण है, इसलिये अप् तो तेज में विलीन हो सकता है पर तेज अप् में विलीन नहीं हो सकता। फिर भी सूर्य्यादि का अप् से निकलना और फिर उसी में लीन होना बतलाया गया है। उदाहरण के लिये श्रीमद्भागवत का यह अवतरण देखिए :—

सद्मांतरिक्षं सदिवं सभागणं त्रैलोक्यमासीत् सह दिग्भिराप्लुतम्। (१२-६-१५)

पृथिवी, अंतरिक्ष, सूर्य्य, नक्षत्रगण और दिशाओं के साथ सारा त्रैलोक्य आप्लुत (जलमग्न) था। [१२वाँ स्कंध, ९वाँ अध्याय, १५वाँ श्लोक]

यह कार्य्य में कारण का लय शास्त्र और अनुभव के विरुद्ध है। अतः इस प्रसंग में अप् का अर्थ जल नहीं हो सकता। यह ठीक है कि पीछे से लोगों ने नासमझी के कारण अप् को जलवाची मान लिया।

आजकल ज्योतिष ने बड़ी उन्नति की है। ज्योतिषियों ने यंत्रों द्वारा यह प्रत्यक्ष किया है कि विद्युत्कण और उनके संयोग से बने परमाणु आकाश में सर्वत्र व्याप्त हैं। पर सब जगह उनका जमाव एक सा नहीं है। आकाश के कुछ भागों में करोड़ों वर्षों में उनके बड़े बड़े विस्तीर्ण पुंज एकत्र हो गए हैं। ये पुंज विस्तार में करोड़ों कोस लंबे चौड़े गहरे हैं। इनमें से एक पुंज का तो हम प्रायः नित्य दर्शन करते हैं। पृथिवी मंगल गुरु आदि के साथ हमारा सूर्य्य स्वयं इसी पुंज के एक अंश में स्थित है। इसको हम आकाश-गंगा कहते हैं। ऐसे ही कई और पुंज हैं। इनको कुछ लोग द्वीप विश्व की उपाधि देते हैं। सूर्य्यादि तारे इन्हीं में से निकले हैं और तारों से ग्रह उपग्रह बनते हैं। फिर अनुकूल परिस्थिति में किसी ग्रह पर चेतनों की सृष्टि भी हो सकती है। अतः ये विशाल कण परमाणु-पुंज—ये नीहारिकाएँ—ही दृश्य जगत् का चूना-गारा हैं। यह इसी सामग्री से बना है, इसी में विलीन होगा। विश्व के किसी कोने में नए नक्षत्र बन रहे हैं, करोड़ों वर्षों में स्यात् उनसे फूटकर ये निकलेंगे, अरबों वर्षों में उनमें से किसी पर पृथिवी की भाँति सभ्यता और संस्कृति का भी उदय हो सकेगा। इसके साथ ही दूसरे कोने में पुराने नक्षत्र ठंडे पड़ रहे हैं, उनके साथ यदि कोई ग्रह होंगे तो वे न जाने कब के जीव-विहीन हो चुके होंगे। किसी तीसरे कोने में सूर्य्य टूट रहे हैं। वहाँ प्रलय हो रही है। इस सृष्टि-प्रलय-क्रम के ब्योरे के विषय में पूरा पूरा ज्ञान भले ही न हो परंतु मूल बात निर्विवाद है। अस्तु। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि कणों और परमाणुओं के इस समुद्रवत् फैलाव को तथा उनसे फेन के समान पिंडों को बनते और फिर फेन की भाँति विलीन होते देखकर ही अप् शब्द चुना गया। इस शब्द की एक विशेषता भी ध्यान में रखने योग्य है। यह संस्कृत में नित्य बहुवचनांत है। हिंदी में इसका ठीक अर्थ 'जलों' हुआ। इस शब्द का प्रयोग इस बात का द्योतक हो सकता है कि यह एक वस्तु नहीं प्रत्युत कई पदार्थों—

वैज्ञानिकों के मत से कई प्रकार के परमाणुओं और परमाणु-खंडों—का मिश्रण है। सूर्य्य-नक्षत्रादि पिंडों में अभी अविभक्त होने के कारण इसको कभी कभी सलिल—एकरस, समतल, दिगंतव्यापी द्रव पदार्थ—संज्ञा दी जाती है।

ज्ञान का एक साधन—घ्राणेंद्रिय—और बच रहा था। अब उसने अन्वेषण-क्षेत्र में पदार्पण किया। उसके प्रभाव से अप् में से गंध का प्रादुर्भाव हुआ। यह पाँचवीं तन्मात्रा है। इससे युक्त होने से अनहम् की क्षिति संज्ञा हुई।

गंध को क्षिति का गुण कहा है। इसको स्वीकार करने में कोई विशेष कठिनाई न होनी चाहिए। बहुत से पदार्थ, जो क्षिति के अंतर्गत हैं, हमको गंधयुक्त प्रतीत होते हैं। जहाँ हमको गंध नहीं मिलता वहाँ भी कुछ दूसरे प्राणियों की तीक्ष्ण घ्राणेंद्रिय गंध ढूँढ़ निकालती है। योगियों का कथन है कि उनको बराबर सूक्ष्म रसों और गंधों की अनुभूति होती है। इससे ऐसा माना जा सकता है कि सभी क्षैत पदार्थ गंधगुण-युक्त हैं।

क्षिति का अर्थ न तो मिट्टी है, न यह पृथिवी। यह शब्द सभी ठोस, तरल और वाष्पीय द्रव्यों के लिये आया है। सभी तत्त्व और तत्त्वों के मिश्रण से बने सभी दूसरे पदार्थ क्षिति के अंतर्गत हैं।

संक्षेप में, भूतों के संबंध में मेरा यही मत है। जहाँ तक मैं देखता हूँ यह विज्ञानसम्मत है और उन बातों पर प्रकाश डालता है जो भौतिक विज्ञान के लिये अब तक अज्ञात हैं। जीवन-शक्ति क्या है और अंतःकरण, इंद्रियगण और बाह्य जगत् में कैसा संबंध है, इन प्रश्नों को भी हल करने में इससे सहायता मिलती है। इसके साथ ही, यह कष्ट-कल्पना नहीं है, न इसको स्थिर करने में मैंने शास्त्रों के साथ कोई खींचातानी की है। मेरा यह विश्वास है कि मैं इस प्रकार वही अर्थ दिखला रहा हूँ जो प्राचीन आचार्य्यों को अभिमत थे। नवीनों के पास न योग का अनुभव था, न वैज्ञानिक अनुभव। इसी से वे लोग चूक गए।

इस व्याख्या से एक बात और निकलती है। साधारणतः हम लोग महाभूत शब्द को अँगरेजी के मैटर का पर्य्याय मानते हैं। पर जैसा अर्थ

मैंने किया है उसके अनुसार पाश्चात्य दार्शनिक और वैज्ञानिक शब्दावली के तीन शब्दों दिक्, मैटर और शक्ति के अर्थों का अवबोधन इससे होता है। अकेले मैटर का भाव बहुत कुछ क्षिति से निकलता है और तेज उसका सूक्ष्मतम रूप है। संभव है, उपनिषदों में आया हुआ 'रयि' शब्द मैटर के अर्थ में आया हो। यह बात अन्वेष्टव्य है।

साधारणतः लोगों की धारणा यह है कि पाँचों महाभूत एक दूसरे से बिल्कुल स्वतंत्र हैं और यह जगत् इन पाँचों के सम्मिश्रण का फल है। मैंने जो व्याख्या की है उसमें यह पार्थक्य स्वीकार नहीं किया गया है। विकासवाद का कोई भी भेद, चाहे वह सांख्य के अंतर्गत हो या वेदांत के या उभय के, भूतस्वातंत्र्य को नहीं मान सकता।

(घ) काल

मैंने पूर्ववर्ती खंड में एक जगह लिखा है कि सांख्य और वेदांत के आचार्यों ने काल की उत्पत्ति कहीं नहीं बतलाई है, जिससे यह अनुमान होता है कि वे उसको पृथक् पदार्थ नहीं मानते।

काल दो प्रकार का होता है। एक तो काल वह है, जिसको हम कला, काष्ठा, मुहूर्त्त, मिनिट, दिन, वर्ष में विभक्त करते हैं और नापते हैं। नापना तभी हो सकता है जब एक वस्तु की दूसरी से तुलना को जा सके और तुलना तभी हो सकती है जब दोनों वस्तुएँ एक दूसरे के साथ साथ रखी जा सकें। यह बात दिक्, आकाश, में ही संभव है। अतः हम जिसको काल के नाम से नापते हैं वह काल नहीं दिक् में काल की प्रतिच्छाया है। वेदांत के शब्दों में वह दिक् में काल का अध्यास है।

वास्तविक काल अनुभूति का विषय है। द्रष्टा, जीवात्मा, को निरंतर नई अनुभूतियाँ होती रहती हैं। जो अनुभूति हो गई वह फिर सामने नहीं आती, उसकी तुलना किसी और अनुभूति से नहीं की जा सकती। पर कोई अनुभूति नष्ट नहीं होती। वह अपना संस्कार छोड़ जाती है जो पूर्ववर्ती संस्कारों से मिलकर एक हो जाता है। बस, जीवात्मा को अपनी इस संस्कार-माला की, यों कहिए कि अपनी, जो अनुभूति होती है वही कालानुभूति है। काल जीवात्मा का स्वरूप है।

हम अपनी एक अनुभूति की अवस्था में किसी बाह्य वस्तु को एक परिस्थिति में और एक जगह, दूसरी अनुभूति की अवस्था में उसे दूसरी परिस्थिति में और दूसरी जगह पाते हैं। अपनी अनुभूतियों का, सच्चे काल का, हमको प्रत्यक्ष ज्ञान है। हम इस काल को तो नाप तौल नहीं सकते पर इसके साथ साथ वस्तु में जो स्थान-परिवर्तन हुआ है उसे नाप सकते हैं। इस प्रकार दिक् की नाप काल की नाप बन जाती है। इसमें एक सुविधा है। कालानुभूति सब की अपनी पृथक् पृथक् है। यह आभ्यंतर है। पर जिस दिक् की अनुभूति की जाती है वह सब के बाहर है, इसलिये एक प्रकार से सबकी संपत्ति है। उसको आभ्यंतर अनुभूति की छाया के रूप में प्रयोग करने से हम अप्रत्यक्ष रूप से एक दूसरे के अंतःकरणों की अनुभूति में थोड़ा सा प्रवेश करते हैं। इससे व्यवहार में सुगमता होती है।

जब योगी अंतःकरण की भूमिका तक पहुँचता है तो वह आकाश की सीमा के बाहर हो जाता है। चित्त की वृत्ति का पूर्णतया निरोध कर लेने पर, योग की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेने पर, अनुभूतियों का क्रम टूट जाता है और काल का भी अतिक्रमण हो जाता है।

यह विवरण बहुत ही संक्षिप्त है। प्रसंग के अभाव से इसे अधिक विस्तार देना अनुचित होगा।

कश्मीर से प्राप्त महाभारत का एक प्राचीन बिक्री-पत्र

[अनुवादक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

संस्कृत भाषा में लिखा हुआ यह बिक्री-पत्र महाभारत की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति के एक पन्ने पर लिखा हुआ डा० सर एम० ए० स्टाइन को १८९८ में कश्मीर में मिला था। कुछ ब्राह्मणों ने महाभारत की हस्तलिखित पोथी ३५ सहस्र दीनार के मूल्य से गुरु आनंद नामक एक व्यक्ति के हाथ बेची थी। उसी का यह बिक्री-पत्र है जो ऊपर फारसी और नीचे संस्कृत भाषा में लिखा हुआ है। डा० स्टाइन ने इसके संबंध में एक अत्यंत रोचक लेख रायल एशियाटिक सोसाइटी के त्रैमासिक पत्र में सन् १९०० के अप्रैल वाले अंक में प्रकाशित किया था। वह लेख कई दृष्टियों से हिंदी पाठकों के लिये ज्ञानवर्धक है, अतएव श्री स्टाइन महोदय की विशेष आज्ञा प्राप्त कर हम उसका भावार्थ यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। डा० स्टाइन के हम इसलिये विशेष आभारी हैं कि उन्होंने अपने छपे हुए लेख की एक प्रति भी इस कार्य के लिये भेजने की कृपा की।

महाभारत की जिस हस्तलिखित पुस्तक का इस लेख में प्रासंगिक वर्णन है उसे मैंने अक्टूबर १८९८ में श्रीनगर में खरीदा था। यह शारदा लिपि में लिखी हुई है और इस समय इसमें केवल गदापर्व, सौप्तिकपर्व, स्त्रीपर्व और अश्वमेधपर्व सुरक्षित हैं। किसी समय यह संपूर्ण महाभारत का एक अंश था जो हस्तलिखित पत्राकार* दो बड़े

* पत्राकार के लिये अँगरेजी में फोलियो (Folio) शब्द है। एक ताव कागज को बीच से मोड़कर पत्राकार बना लेते हैं जिसमें चार पृष्ठ होते हैं। पुरानी जिल्दहीन लिखी और छपी संस्कृत पुस्तकें इसी रूप में मिलती हैं।

खंडों में थी जिसकी लिपि से उसका लेखन-काल १६वीं या १७वीं शताब्दी का प्रारंभ ज्ञात होता है। पोथी बहुत ही सावधानी से किसी विद्वान् पंडित के हाथ की लिखी हुई जान पड़ती है और कश्मीर में प्रचलित महाभारत के मूल पाठ के लिये यह एक उत्तम आदर्श पुस्तक है।

इस पुस्तक का और भी एक महत्त्व है। इसके द्वारा एक प्राचीन कश्मीरी विद्वान् पंडित और लेखक के नाम की पहचान मालूम होती है। पुस्तक को देखते ही उसमें बहुत सी टिप्पणियाँ और संशोधन मुझे ऐसी लिपि में लिखे हुए मिले जो मेरी पहचान में पहले अनेक वर्षों से अच्छी तरह आ चुकी थी। शारदा लिपि में लिखी हुई कल्हण की राजतरंगिणी की एक बहुमूल्य आदर्श पुस्तक मुझे कश्मीर में मिली थी। उसके पृष्ठों में किसी विद्वान् टिप्पणीकार के द्वारा बहुत परिश्रम से अनेक टिप्पणियाँ, पाठांतर और दूसरी मूल्यवान् सामग्री का सन्निवेश किया गया था। जब से मैंने उस हस्तलिखित प्रति के आधार पर मूल राजतरंगिणी का संस्करण तैयार किया था तभी से मैं उसका नाम जानने के लिये उत्सुक था। अपने उस संस्कृत संस्करण की भूमिका * में मैं इस महानुभाव के कार्य के मूल्य और महत्त्व का संकेत कर चुका हूँ। राजतरंगिणी की वह मूलादर्श पुस्तक कश्मीरी ब्राह्मण राजानक रत्नकंठ की लिखी हुई थी और आंतरिक साक्षी के आधार पर मेरा अनुमान था कि टिप्पणीकार महोदय भी रत्नकंठ के समकालीन ही रहे होंगे। उस समय मैंने टिप्पणीकार का सांकेतिक नाम अ २ (A २) रख लिया था। प्रस्तुत बिक्री-पत्र से उनका नाम भट्ट हरक ज्ञात होता है और उनके समय के विषय में भी मेरा अनुमान ठीक सिद्ध होता है। कश्मीर से प्राप्त अन्य संस्कृत पुस्तकों में भी मुझे अ २ के हाथ की लिखी हुई टीका-टिप्पणियाँ देखने को मिली थीं जिनसे लेखक के पांडित्य और विशुद्धता की छाप मेरे मन पर थी, परंतु कहीं से भी मुझे उनका नाम ज्ञात न हो सका था। अतएव मुझे इस बात से और भी हर्ष

* कल्हण-कृत राजतरंगिणी, स्टाइन द्वारा संपादित, एडुकेशन सोसाइटी प्रेस, बंबई, १८९२, भूमिका पृ० १०,११।

हुआ कि महाभारत की जो पुस्तक मुझे प्राप्त हुई उसमें एक बिक्री-पत्र के द्वारा अ २ टिप्पणीकार की पहचान भी मिल गई। यह बिक्री-पत्र उस पोथी के अंतर्गत अश्वमेध-पर्व के मुखपृष्ठ पर लिखा हुआ है। यह फारसी और संस्कृत दो भाषाओं में है। जो लेख संस्कृत भाषा में है वह अ २-संज्ञक टिप्पणीकार का लिखा हुआ है और उस पर उसका हस्ताक्षर भी है। उसका मूल पाठ शारदा लिपि से देवनागरी लिपि में इस प्रकार है—

पंक्ति १ अत्र संवत्सरे वसुशरसंख्ये आश्वयुजमासे सितेतरपक्षे तिथौ प्रतिपद्यां गुरुवासरान्वितायाम् संवत् ५८ अश्व

पं० २ वति १ गुरौ ॥ अत्र श्री प्रे दिद्दा मट्ठे निवसमानैः पंडित औतारकपुत्र पौत्रैः पण्डितलाल पण्डित श्रीकण्ठ पण्डित

पं० ३ (ग) ङ्गक पुत्र पण्डित नराभिधैः महाभारतपुस्तकद्वयं आदिपर्वमारम्य आरण्यपर्वं तावत् एकं पुस्तकं कर्ण

पं० ४ (पर्वं) मारभ्य आश्रमपर्वं तावत् द्वितीयं पुस्तकम् इदं महाभारताख्य इतिहासपुस्तकद्वयं मया पण्डितलाल

पं० ५ केन वा पण्डित श्रीकण्ठकेन वा पण्डित गङ्गाधरपुत्रेण पण्डित नरकेन पण्डित औत्तारकपुत्रेण दी सहस्र

पं० ६ पञ्चचत्वारिंशकमूल्येन गुरुवरानन्दपादानां विक्रीतम् अङ्के दी सहस्र ४५०० अत्र साक्षिणः

पं० ७ (ब्रह्म) विष्णुमहेश्वराः लिखितं मया तकळे भट्ट हरकेनेतिशुभम् ॥ साक्षी पं० केशवकः

पं० ८ साक्षी पं० केशकेत्र

अनुवाद

वसु (८) और शर (५) संख्यक इस संवत्सर में क्वार मास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा तिथि को बृहस्पतिवार के दिन अर्थात् संवत् ५८ अश्ववति १ गुरुवार। श्रीनगर-प्रवरपुर* में दिद्दा मठ के निवासी पंडित

---

* श्री प्रे श्रीनगर-प्रवरपुरे का संक्षिप्त रूप है। श्रीनगर का प्राचीन नाम प्रवरपुर या श्रीप्रवरसेनपुर था।

औत्तारक के पुत्र पंडितलाल और पंडित श्रीकंठ, एवं उनके पौत्र गंगक के पुत्र पंडित नर के द्वारा महाभारत की दो पुस्तकें—आदिपर्व से लेकर आरण्यपर्व तक एक पुस्तक, कर्णपर्व से लेकर आश्रमपर्व तक दूसरी पुस्तक, इस प्रकार महाभारत नामक इतिहास की दो पुस्तकें—मुक्त पंडित लालक के द्वारा तथा पंडित श्रीकंठ के द्वारा, और पंडित गंगाधर के पुत्र पंडित नरक के द्वारा, जो (क्रमशः) पंडित औत्तारक के पुत्र (और पौत्र) हैं, पैंतालीस सहस्र दीनार के मूल्य से पूज्य गुरुवर आनंद के हाथ बिक्री की गईं, अंके दी (नार) ४५ सहस्र। ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर इसके साक्षी हैं। तकळे भट्ट हरक नामक मैंने इसे लिखा। शुभ होय। साक्षी पं० केशवक (जिसने पत्र के अंत में अपने हस्ताक्षर इस प्रकार किए हैं)—
साक्षी पंडित केशके।

इस बिक्री-पत्र के ऊपरी भाग में यही लेख फारसी भाषा में लिखा हुआ है जिसकी घसीट लिपि में नुक्ते गायब होने के कारण अक्षरों के ठीक पढ़े जाने में कठिनाई होती है। फारसी का बिक्री-पत्र संस्कृत का लगभग अनुवाद है। उसमें ये बातें विशेष हैं। उसमें तारीख सन् हिजरी १०९३ (=१६८२ ई०) है और बिक्री के दाम २२५ टंके दिए गए हैं जिनकी कीमत उस समय के कश्मीरी सिक्के के हिसाब से ४५००० दीनार होनी चाहिए। उसके हाशिए पर बिक्री करनेवाले तीनों पंडितों के और साक्षी केशव पंडित के हस्ताक्षर हैं जिसने अपने नाम के आगे सराफ लिखा है। विदित होता है कि ये लोग उस समय की राजकीय भाषा फारसी से परिचित थे और संस्कृत से नहीं। तो भी प्राचीन परंपरा के अनुसार जब कि संस्कृत राजभाषा थी संस्कृत भाग का इस बिक्री-पत्र में रहना आवश्यक समझा गया जो उस समय की साधारण प्रथा हो सकती है। फारसी में गुरु आनंद को राजानक कहा गया है जो संस्कृत राजानक का रूप है। (आज कल इसी का बिगड़ा हुआ रूप राज़दान है। —अनु०)

संस्कृत के बिक्री-पत्र को देखने से ज्ञात होता है कि औतारक के पुत्र पंडित लाल और पंडित श्रीकंठ और उसका पौत्र पंडित नर दिद्दा मठ के रहनेवाले थे। दिद्दा मठ अभी तक कश्मीरी ब्राह्मणों का श्रीनगर में प्रसिद्ध

मोहल्ला है। उसका इस समय का नाम दीदमर है परंतु पंडित लोग अभी तक उसे प्राचीन नाम दिद्दा मठ से ही पुकारते हैं। उपर्युक्त तीन पंडितों ने दो पुस्तकें जिनमें संपूर्ण मूल महाभारत लिखा हुआ था* ४५००० दीनार में पूज्य गुरुवर आनंद के हाथ बेची थीं।

संस्कृत बिक्री-पत्र में उसका काल कश्मीर के लौकिक या सप्तर्षि नामक संवत्सर की गणना के अनुसार [४७] ५८ वर्ष, आश्विन मास कृष्णपक्ष अष्टमी गुरुवार दिया हुआ है। गणना करने से और फारसी में दिए हुए हिजरी सन् १०९३ के साथ मिलान करने से यह दिन १० जुलाई १६८२ ई० बृहस्पतिवार सिद्ध होता है।

संस्कृत बिक्री-पत्र के लेखक ने अपना नाम तकळे भट्ट हरक लिखा है। संभवतः ये इस सौदे में मध्यस्थ थे। इन भट्ट हरक के वर्तमान हस्त-लेख से ज्ञात होता है कि ये वही टिप्पणीकार हैं जिन्हें अज्ञातनामा होने के कारण मैंने अ² का सांकेतिक नाम दिया था। मेरा यह अनुमान कि अ² टिप्पणीकार (जिन्हें अब हम भट्ट हरक कह सकते हैं) राजानक रत्नकंठ के समकालीन थे, अब इस बिक्री-पत्र की तिथि से ठीक प्रमाणित हो जाता है। रत्नकंठ के हाथ के लिखे हुए संस्कृत ग्रंथों में जिन्हें मैंने देखा है या मोल लिया है १६४८ ई० से लेकर १६८५ ई० तक के बीच की वर्ष-संख्याएँ पाई गई हैं। रत्नकंठ के हाथ की लिखी हुई न केवल राजतरंगिणी

* फारसी में आनंद की कुलाख्या (वंश-नाम) राज़ानक (=संस्कृत राजानक) दी हुई है। संभवतः ये आनंद राजानक इसी नाम के प्रसिद्ध कश्मीरी विद्वान् थे जो सत्रहवीं शताब्दी के द्वितीय भाग में जीवित थे (श्रीयुत आफरेक्ट कृत संस्कृत ग्रंथों का बृहत् सूचीपत्र, द्रष्टव्य **आनंद**)। आनंद राजानक की बनाई नैषधचरित की टीका, जिसकी एक प्रति प्रो० बूहलर ने कश्मीर में प्राप्त की थी, १६५४ ई० में लिखी गई थी। कश्मीर के पंडितों में अभी तक यह अनुश्रुति चली आती है कि आनंद राजानक रत्नकंठ राजानक के परम मित्र थे। यह राजानक रत्नकंठ वही व्यक्ति हैं जो राजतरंगिणी की उस मूल आदर्श पुस्तक के लेखक थे जिसके आधार पर मैंने संस्कृत राजतरंगिणी का संस्करण तैयार किया था।

पुस्तक पर ही भट्ट हरक की टिप्पणियाँ और संशोधन मिले हैं, अपितु और भी बहुत से ग्रंथों पर जिन्हें रत्नकंठ ने स्वयं अपने हाथ से निजी उपयोग के लिये लिखा था*। इससे यह संभव प्रतीत होता है कि भट्ट हरक प्रसिद्ध विद्वान् और ग्रंथकार राजानक रत्नकंठ के साथी, और संभवतः शिष्य, थे।

अ[१] और भट्ट हरक की पहचान में सहायक होने के अतिरिक्त कश्मीर से मिला हुआ पहला ही संस्कृत पत्र होने के कारण भी प्रस्तुत विक्री-पत्र महत्त्वपूर्ण है। इसकी शब्दावली और इसका स्वरूप कश्मीरी ग्रंथ लोकप्रकाश में निर्दिष्ट इस प्रकार के पत्रों से बहुत कुछ मिलता है। लोक-

---

* राजानक रत्नकंठ के अपने हाथ के लिखे हुए निम्नलिखित ग्रंथों में जो इस समय मेरे पास हैं अ२ या भट्ट हरक लिखित टिप्पणी और पाठांतर पाए जाते हैं—

१—अमरकोष पर रायमुकुट की टीका (मेरे हस्तलिखित ग्रंथसंग्रह में संख्या ६)।

२—अमरविद्या (संख्या ९)

३—कातंत्र विवरण पञ्जिका (सं० ३३)।

४—काशीमाहात्म्य (सं० ३९)।

५—हरविजय महाकाव्य पर रत्नकंठ की टीका। यह रत्नकंठ के स्वहस्त-लेख की मूल प्रति है (सं० १८८)।

६—बाणकृत हर्षचरित (यह कश्मीर के मदवाह प्रांत से प्राप्त हुआ है)।

भट्ट हरक की टिप्पणी से युक्त अन्य ग्रंथों के लिये, देखिए राजतरंगिणी के अँगरेजी अनुवाद की भूमिका § ४७।

तकळे (कश्मीरी उच्चारण तकरे) भट्ट हरक के कुल की संज्ञा थी। इस प्रकार की संज्ञाओं को कश्मीरी लोग 'क्रम' कहते हैं। (तकरे को आजकल कुछ लोग तकरू लिखते हैं—अनु०।)

प्रकाश कश्मीर में प्रचलित सरकारी और व्यावहारिक पत्रों (दस्तावेजों) का निर्देशक ग्रंथ है। लोकप्रकाश के अनुसार लिखे गए इस बिक्री-पत्र के मसविदे से यह धारणा पुष्ट होती है कि १७वीं शताब्दी के लगभग अवश्य ही लोकप्रकाश में बताए हुए मसविदे या लेखपद्धतियाँ चालू थीं। अवश्य ही यह ग्रंथ प्राचीन था और इसकी कुछ सामग्री भी पूर्वक्रमागत थी, परंतु काल-परिवर्तन के अनुसार इसकी सामग्री में संशोधन होता हुआ जान पड़ता है*।

संस्कृत बिक्री-पत्र में दो भागोंवाले संपूर्ण महाभारत का मूल्य पैंतालीस हजार दीनार कहा गया है। फारसी में इस मूल्य को २२५ टंकों के रूप में व्यक्त किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि दो सौ दीनारों का उस समय लोक-प्रचलित मूल्य एक टंक था। कश्मीरी सौ दीनार को एक हथ (संस्कृत शत) कहते हैं। मुसलमानों के आने के पहले कश्मीर के हिंदू राजाओं के ताँबे के चार पैसों का मूल्य एक हथ या सौ दीनार गिना जाता था। उसके बाद यह भाव और भी गिरता गया। अकबर के समय में अब्बुल फजल ने लिखा है कि एक हथ का मूल्य एक रुपए के चालीसवें भाग के बराबर था। इस समय कश्मीर में ताँबे के एक पैसे को हथ कहते हैं। इस हिसाब से ४५,००० दीनार ४५० हथ के बराबर हुए।

* लोकप्रकाश के बहुत से उद्धरण, जो अत्यंत रोचक और मूल्यवान् हैं, प्रो० वेबर ने इंडिशे स्टूडिअन के बीसवें भाग में ११५ पृष्ठों में प्रकाशित किए थे (पृ० २९०–४१२)। प्रस्तुत बिक्री-पत्र में व्याकरण की कई भद्दी भूलें हैं इनसे भी लोकप्रकाश में निर्दिष्ट लेखपद्धति के साथ इस बिक्री-पत्र का सादृश्य ज्ञात होता है। भट्ट हरक संस्कृत भाषा के बहुश्रुत और अद्भुत पंडित थे जैसा उनके लेखों से सिद्ध है। यह असंभव है कि बिक्री-पत्र में पाई जानेवाली व्याकरण की भद्दी अशुद्धियाँ (जैसे आदिपर्वमारम्य आरण्यपर्व तावत्) वे अपने हाथ से लिखते यदि तत्कालीन ऐसे लेखों में वे चालू न होतीं। लोकप्रकाश ग्रंथ का हिंदी अनुवाद के साथ प्रकाशित होना अत्यंत आवश्यक है।—अनु०।

वैसे तो यह मूल्य अकबरकालीन चाँदी के सवा ग्यारह रुपए के बराबर होता है, पर इसको यदि दूसरे हिसाब से समझा जाय तो यह मूल्य कुछ कम नहीं जँचता। अब्बुल-फजल के अनुसार कश्मीरी तोल एक खरवार (=१७७ पौंड=लगभग २ मन ५ सेर) चावल का मूल्य १३०० दीनार था। इस हिसाब से ४५००० दीनार ३५ खरवार या ८८ मन चावल खरीदने के लिये उपयुक्त थे। औत्तारक पंडित के परिवार को महा-भारत की पुस्तक बेचने से जो मुनाफा हुआ उसका अनुमान इस गणना से अधिक अच्छी तरह लग सकता है।

'सौदा' की हिंदी कविता

[लेखक—श्री शालिग्राम श्रीवास्तव]

मिर्जा मुहम्मद रफी का उपनाम 'सौदा' था। सन् १७१० ई० में इनका जन्म और १७८० में निधन हुआ था। ये दिल्ली के रहनेवाले थे। शाह आलम के उस्ताद थे। जब वहाँ राजनीतिक उथल-पुथल हुई और कोई गुण-ग्राहक न रहा, तब लखनऊ चले आए और यहाँ पहले नवाब शुजाउद्दौला और फिर आसफुद्दौला के दरबारी शायर हो गए। फारसी और उर्दू के प्रसिद्ध शायर थे। पर उन्होंने कुछ कविता हिंदी में भी की जो पहेलियों के रूप में है। मौलवी मुहम्मदहुसैन 'आजाद' ने 'आबेहयात' में लिखा है—"(सौदा की)...पहेलियाँ वगैरा अपनी अपनी तर्ज में लाजवाब हैं।"

खुसरो की हिंदी पहेलियाँ तो हिंदी-जगत् के सामने आ चुकी हैं, पर जहाँ तक हम जानते हैं सौदा की पहेलियों की ओर अभी तक किसी का विशेष ध्यान नहीं गया।

सौदा की कविता का संग्रह जो हमारे सामने है, नवलकिशोर प्रेस का लीथो में छपा हुआ अत्यंत अशुद्ध है। एक तो दोष-पूर्ण उर्दू अक्षरों की लिखाई, दूसरे ऐसा जान पड़ता है कि मूल कापी शायद शिकस्त (घसीट) में लिखी हुई थी जिससे हिंदी न जाननेवाले प्रेस के कातिबों (लेखकों) ने जो न पढ़ा गया उसे अनुमान से मनमाना नकल कर दिया। अतः कई पहेलियों के कुछ शब्द बहुत सोच-विचार करने पर भी नहीं पढ़े गए। इसलिये हमने विवश होकर उनको छोड़ दिया है।

भाषा की दृष्टि से इन पहेलियों में ब्रज-भाषा तथा कुछ बैसवाड़ी का रंग पाया जाता है।

(१)

अजब तरह की है इक नार। उसका क्या मैं करूँ बिचार ॥
दिन वह डूबे पी के संग। लाग रहै निस वाके अंग ॥
दिया बरै तो वह सरमाय। ढक से सरक वह दूर हो जाय ॥
(परछाईं)

(२)

गागर तरे जल भरा, सिर पर लागी आग।
बाजन लागी बाँसुरी, निकसन लागे नाग ॥
(हुक्का)

(३)

एक नार की बान दिवानी। लोहू भखै तजै जब पानी ॥
(जोंक)

(४)

एक तरवर का फल है नर। पहले नारी पीछे नर ॥
वा फल का यह देखो हाल। बाहर खाल औ भीतर बाल ॥
(आम)

(५)

मारे से वह जी उठै, बिन मारे मर जाय।
बिना पाँव जग-जग फिरै, हाथों हाथ बिकाय ॥
(तबला मृदंग)

(६)

'खर' आगे औ पाछे*'कान'। जो बूझै सो चतुर सुजान ॥
(खरगोश)

(७)

दो काने जब अंग मिलावैं। छाती जोरैं एक कहावैं ॥
आँख अँगुरिया करते जागैं। संमुख होकर काटन लागैं ॥
(कतरनी)

---

* कान की फारसी गोश है।

(८)

एक नार देखन को आवै। जो देखै सो आँख लगावै॥

(ऐनक)

(९)

इक तिय जासों आँख मिलावै। देखनहारा नाक चढ़ावै॥
है कोई ऐसा याकों बूझै। जो बूझै जिन्ह थोड़ा सूझै॥

(ऐनक)

(१०)

एक पुरुख वह सबको भावै। बिना समय कोई हाथ न लावै॥
मैंने कह दिया वाका नाँव। बूझ पहेली या छाड़ो गाँव॥

(पंखा)

(११)

एक नार ऐसन भई, थरथराय सब देह।
वाही के संमुख रहै जासों लागी नेह॥

(दिशासूचक यंत्र)

(१२)

बहुत काम का है इक नर। आधे धड़ में उसका घर॥
कुबड़ा होकर घर में पैठै। काम करै नहीं ठाला बैठै॥

(चाकू)

(१३)

बिरवा कहौं, है नहीं, ना वह डार न फूल।
यह अचरज देखौ सखी, एक पात औ फूल॥

(ढाल)

(१४)

इक राजा के घर में रानी। तले के पेंदे पीवै पानी॥
लाजों मारे डूबी जाय। नाहक चोट परोसी खाय॥

(जल में कटोरा डुबाने से समय-सूचक यंत्र)

(१५)

रात समय इक मेवा आया। फूलों पातों सब को भाया ॥
आग दिए वह होवै रूख। पानी दिए वह जावै सूख ॥
(अनार-आतशबाजी)

सौदा शिया थे। अतः उन्होंने बहुत से मरसिए भी लिखे हैं जिनमें करबला के रण-क्षेत्र में यजीद द्वारा इमाम हसन और हुसैन तथा उनके कुछ कुटुंबियों के मारे जाने और स्त्रियों आदि की दुर्दशा का बड़े करुण शब्दों में वर्णन है। इनमें से कुछ मरसिए हिंदी भाषा में हैं। इसलिये हम कुछ उनकी भी बानगी देते हैं।

कासें कहिये बात, कौन सुन के बूझे।
रोवत हों दिन रात, हुसैना रन में जूझे ॥
नैनन बरसत नीर, कहत उमगत है छाती।
प्यासे मारे हाय नबी के ऐसे नाती ॥
दोहा—गेरू से कपड़े रँगे, मुख पर मले भभूत।
पूछैं बीबी फातमा, कित गयो मेरे पूत ॥

रो रो जैनब कहैं हाय तुम मर गए भाई ॥
बदल तुम्हारे आज हमें क्यों मौत न आई ॥
पूछत नहीं कोउ बात, बिपत के हैं हम मारे।
कहाँ छिपैं अब जाय कहाँ दुख में दुखियारे ॥
दोहा—बाबा के तुम लाडले, नाना के तुम चैन।
अम्माँ प्यारे कहाँ गए मेरे बीर हुसैन ॥

वहि सूरज, वहि चाँद, वही निकसत है तारो।
शाह बिना चहुँ ओर भयो जग में अँधियारो ॥
लेतहि जाको नाँव, लोग सब सीस नवावैं।
सो कहो तोको आज कहाँ हम ढूँढ़न जावैं ॥
दोहा—कैसें अब मन में धरैं, लोग कुटुम के धीर।
जापर बीती हो कभू सो जानै यह पीर ॥

लाग तबर तरवार, बदन से निकसत लोहू।
सीस कटो बिन नीर, परो तड़फत जों रोहू॥
तन माटी में डार, काट के सीस तुम्हारो।
हमको बैरी घेर चले हैं देत निकारो॥
दोहा—सीस खुली सब बीबियाँ, ऊँटौं पर असवार।
प्यादे जैनुलआब्दीं खींचत जाँय मुहार॥

अब कोउ छोरत नांहि ये बैरी के बरके बानी (?)।
जात लिए वा राह मिलत नहिं जामें पानी॥
शाम* को बेबस हम तो चले हैं, रोवत बन में।
लोथ अकेली शाह की है–है! रह गई रन में॥
दोहा—पाँवों में काँटे चुभैं राह चलै नहिं जात।
बैरी बन होंगे भई आज डार औ पात॥

तुम्हरे पाछे बीरन ऐसो हम दुख भरते।
जो तुम हमको मार पहिल पग रन में धरते॥
घर में बैरी फिरैं उतारत सब को गहनो।
बीरा अब किस काम हमारे जग में रहनो॥
दोहा—ले गए बैरी लूट के घर को मालो-मताल।
दीजे कहाँ से अब कफन कोई न छाड़ो रुमाल॥
खींच खींच तरवार यजीदी हमैं डरावैं। आबिद को बिस्तर पर से बरजोर उठावैं॥
जित देखो उत देत दिखाई अब दुख दूनो। तुम बिन भाई आज मदीनो हो गयो सूनो॥
दोहा—बसे कि ऊजड़ हुई वह आज हमारो भाँव (?)।
अब तो आए करबला, छोड़ मदीना गाँव॥
अम्माँ जाए बीर निपट बाबा के प्यारे। फिर न फिरे ऊधर से ऐसे कहाँ सिधारे।
बीर तुम्हारे मरन हतो बैरी घर लूटैं। हमसे बंदीवान कहो कैसे के छूटैं॥
दोहा—साथ तुम्हारे जो हते, मर गए सीस कटाय।
शहर मदीने फिर हमैं को अब दे पहुँचाय॥

---

* सीरिया देश जहाँ यजीद इन सबको पकड़कर ले गया था।

अपना कोऊ रहो न जग में काको टेरौं। है बैरी अब साथ तिन्हें मैं कैसे मेरौं (?)॥
बीर भतीजे परे हमारे रन में लोटैं। देख के उनको हम सब सिर के बार खसोटैं॥

दोहा—थे जो सब के सीस के, दीन दुनी में ताज।
सो तो रन में जूझ के रुल गए खाक में आज॥

पाव को अपने देख सकीना थावे (?) रोवै। मिलत न इतना नीर कि वाके तन को धोवै॥
थावै सिर पर होंठ यह चाबत प्यास के मारे। बाबा देव जवाब, सकीना तुम्हें पुकारे॥

दोहा—रह न सकत मैं एक पल, छोड़त बनत न तोहि।
रोऊँ ना तो का करौं, बिपत पड़ी है मोहि॥

और कहों मैं कहा सुनो कासिम के दुख को। देखन पाई नेक न दुलहिन वाके मुख को।
ब्याह में जीता रहा न कोऊ हतो, सँगाती। या दूल्हा के साथ गए मर सभी बराती॥

दोहा—घर घेरे थावे सभी, बन के मागैं नेग।
दीनो पूत का सीस अब, दूल्हा की माँ नेग॥

बेटे हो बलिहार तुम्हारे मुख सें बोलो। सोवत हुइ बड़ी बार तनिक तो आँखैं खोलो॥
जीवत हो तो बेग करो अब हमसे बतियाँ। मर गए हो तो कहो लगौं मैं काके छतियाँ॥

दोहा—बाबा जो तुम देख लो, सभी कुटुम के लोग।
अब के बिछुड़े कब मिलैं, नदी-नाव-संजोग॥

पानी पर अब्बास अली की बाँहें काटीं। सुन-सुन यह दुख हाय हमारी छाती फाटीं॥
ऐसे बैरी कौन हते बेदर्द कसाई। असगर की जिन एक ही तीर से प्यास बुझाई॥

दोहा—ताल भरे सब जगत की, नदियाँ बहैं हजार।
तापर पानी ना मिलै, कासें करैं पुकार॥

जानूँ जो मैं ठौर ठिकानों सभैं, बताऊं। रूस गए हों कहूँ तो उनको बेग मनाऊँ॥
बात कहों मैं कासें बानी को अब मेरी। सारे वारिस राख के पल में हो गए ढेरी॥

दोहा—रहो न कोऊ सीस पर, हम हैं बन्दीवान।
बेग छुड़ाओ या नबी अहले हरम को आन॥

कह मोसों अब 'सोदा' कित गयो खिवैया। बूड़ गई बिन नीर के घर की नैया॥
जिनको कहत हैं लोग हैं वही सुखिया। बिन वारिस हैरान फिरत हैं होकर दुखिया॥

दोहा—रोवत निसदिन जात है, भरि भरि आवत नैन।
कहाँ जीत संसार को, प्यारो गयो हुसैन॥

चयन

सम्मेलन की घोषणा

अखिल भारतवर्षीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने अबोहर में हुए अपने ३०वें अधिवेशन में हिंदी और हिंदुस्तानी शब्दों के प्रयोग के विषय में अपनी नीति का बहुत महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण किया है। वह इस घोषणा के रूप में है—

हिंदी और हिंदुस्तानी शब्दों के प्रयोग के बारे में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन और उसकी समितियों की, विशेषकर उसकी राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति की, क्या नीति है, इस विषय में कुछ भ्रम उपस्थित हुआ है और कथनोपकथन प्रकाशित हुए हैं, इसलिये अपनी नीति का स्पष्टीकरण करने के हेतु सम्मेलन निम्नलिखित घोषणा करता है—

(१) प्रारंभ से ही सम्मेलन ने अपनी भाषा और राष्ट्रभाषा को हिंदी कहा है और उस भाषा तथा नागरी लिपि की उन्नति और प्रचार ही उसका उद्देश्य रहा है। द्वितीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में जो पहली नियमावली प्रयाग में स्वीकृत हुई उसमें तथा उसके पश्चात् अब तक जितने भी संशोधन उस नियमावली में हुए उन सबसे यह प्रकट है कि सम्मेलन की भाषा का नाम हिंदी है—यद्यपि साहित्यिक अथवा प्रचार की दृष्टि में और स्थानों की विभिन्नता के कारण उसके रूप में शब्दावली का कुछ अंतर होना स्वाभाविक है।

(२) वास्तव में उर्दू भी हिंदी से उत्पन्न अरबी-फारसी मिश्रित एक रूप है। हिंदी शब्द के भीतर ऐतिहासिक दृष्टि से उर्दू का समावेश है, किंतु उर्दू की साहित्यिक शैली, जो थोड़े से आदमियों में सीमित है, हिंदी से इस समय इतनी विभिन्न हो गई है कि उसकी पृथक् स्थिति सम्मेलन स्वीकार करता है और हिंदी की शैली से उसे भिन्न मानता है।

(३) "हिंदुस्थानी" या "हिंदुस्तानी" शब्द का प्रयोग मुख्यकर इसलिये हुआ करता है कि वह देशी-शब्द व्यवहार से प्रभावित हिंदी शैली तथा

अरबी-फारसी शब्द-व्यवहार से प्रभावित उर्दू शैली दोनों का एक शब्द से एक समय में निर्देश करे। कांग्रेस, हिंदुस्तानी एकेडेमी, और कुछ गवर्मेंट विभागों में इसी अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है और होता है। कुछ लोग इस शब्द का प्रयोग उस प्रकार की भाषा के लिये भी करते हैं जिसमें हिंदी और उर्दू शैलियों का मिश्रण हो।

इस प्रकार निश्चित अर्थों में उर्दू और हिंदुस्तानी शब्दों का प्रचलन है। इस विषय में सम्मेलन का कोई विरोध नहीं है, किंतु सम्मेलन साहित्यिक और राष्ट्रीय दोनों दृष्टियों से, अपने और अपनी समितियों के काम में हिंदी शैली का और उनके लिये हिंदी शब्द का ही व्यवहार और प्रचार करता है।

(४) राष्ट्रीय सजगता के विस्तार और राष्ट्रीय भावना के उत्थान के साथ साथ हिंदी का राष्ट्रीय रूप, दिन-दिन विकसित हो रहा है। भिन्न-भिन्न प्रांतों से आए हुए तथा भिन्न-भिन्न प्रभावों से उत्पादित नए शब्दों का भी उसमें धीरे धीरे स्वभावतः समावेश होगा। जीवित क्रियाशील तथा हिंदी की सार्वभौमिक प्रतिनिधि संस्था के कर्त्तव्य-पालन में सम्मेलन इस विकास का आवाहन और स्वागत करता है।

(५) राष्ट्रभाषा होने के कारण प्राचीन समय से हिंदी सब प्रांतीय भाषाओं की बड़ी बहिन है, उसके और उसकी छोटी बहिनों के स्वरूपों में माता का अमर सौंदर्य छलकता है। बहिनें एक दूसरे के रूप में अपना रूप भी देखती हैं। उनका आपस का प्रेम स्वाभाविक है। बड़ी बहिन छोटी बहिनों के अधिकार सुरक्षित रखती है। उसका अपना घर सब बहिनों के लिये खुला है और उसके घर में ही सब बहिनों को आपस में मिलने और मिलकर राष्ट्रोपासना की सुविधा है।

सभी राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित सब देशभक्तों से सम्मेलन अनुरोध करता है कि राष्ट्रीय उत्थान, संघटन और एकीकरण में भाषा की शक्ति का अनुभव कर राष्ट्र-भाषा हिंदी के प्रयोग और प्रचार में निष्ठा और दृढ़ता से संलग्न हों।

—कृ।

समीक्षा

अवर बेसिक वोकेबुलरी—सबकी बोली—प्रकाशक प्रो० साधुराम एम० ए०, मंत्री दी इंटरनेशनल एकेडेमी आव इंडियन कल्चर, लाहौर; मूल्य असूचित।

"इस देश की शिक्षा और शासन की व्यवस्थाएँ भारतीय भाषाओं की उपेक्षा करने की दोषी रही हैं। उन्होंने व्यवस्थित रूप से देशी शब्दावली का दलन किया है। अब राष्ट्रीय चेतना के उत्थान के साथ भाषा के प्राणभूत विषय में आत्मव्यंजन की प्रेरणा प्रतिदिन अधिक बलवती हो रही है। और यह उसी प्रेरणा का फल है कि राजनीतिशास्त्रियों और शिक्षा-शास्त्रियों को 'साधारण भारतीय' (भाषा) का, जो अपनी सुंदरता और सावकाशता से उन्हें विमुग्ध कर देनेवाला एक महाभवन है, यथार्थ स्वरूप दिखाने के लिये बहुसंख्य भारत-आर्य वाकप्रयोगों के तुलनात्मक भाषाविज्ञान का साहाय्य उपलब्ध किया गया है।" (भाषांतरित) इस प्रकार यह 'अवर बेसिक वोकेबुलरी' (हमारा आधारिक शब्दकोश) अथवा 'सबकी बोली' 'दी इंटरनेशनल एकेडेमी आव इंडियन कल्चर' (भारतीय संस्कृति की अंतर्राष्ट्रीय विद्वत्परिषद्) लाहौर के अधिष्ठाता प्रोफेसर डा० रघुवीर, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्० एट फिल० के द्वारा प्रस्तुत हुई है। इस कोश में भारत-आर्य भाषा-परिवार की, सन् १९३१ के जनगणना-विवरण के अनुसार भी, सर्वाधिक प्रचलित भाषा, पश्चिमी हिंदी के—जिसे साधारणत: हिंदी या हिंदुस्तानी भी कहते हैं—चुने शब्द और उनके आगे मुख्यत: काश्मीरी, पंजाबी, नेपाली, बंगाली, सिंधी, गुजराती और मराठी के उनके विभिन्न रूप तथा यथासंभव उनके संस्कृत रूप भी संगृहीत हैं। इनके साथ अन्य भारतीय भाषाओं का भी, जिनमें सजातीय शब्द मिलते हैं, उल्लेख हुआ है—यथा उत्तरी और उत्तर पश्चिमी पहाड़ी में काफिरी और दरदी (विशेषत: शीना), पश्चिमी पहाड़ी, कुमाऊनी (मध्य

पहाड़ी), जिप्सी (जो प्रायः पंद्रह शताब्दी पूर्व अपना भारत देश छोड़े हुए निग्रहों की पश्चिमी एशिया से ब्रिटिश द्वीपों तक फैली हुई भाषा है और जिसमें प्रकृत भारतीय शब्दों की बहुलता है) और सिंहली (जो भी भारत के बाहर प्रचलित एक भारतीय भाषा है)। परंतु इनके शब्दरूपों को रखना कोश-प्रकाशन के प्रस्तुत प्रयोजन के लिये आवश्यक नहीं समझा गया है। लहँदा, असमी, बिहारी तथा उड़िया को गौण स्थान दिया गया है। हिंदी परिवार की पूर्वी हिंदी और राजस्थानी तथा भीली बिल्कुल छोड़ दी गई हैं। कोश की प्रस्तावना में यह भी सूचित किया गया है कि इसमें कोई ऐसा शब्द नहीं रखा गया है जो कम से कम पाँच करोड़ प्रायः असाक्षर पुरुषों, स्त्रियों और बालकों के व्यवहार से प्रमाणित नहीं है, इसमें बाहर से लिए हुए शब्द नहीं हैं और न भारतीय उत्पत्ति के विद्वत्सुलभ शब्द ही हैं और ऐसे शब्दों में भी इसमें संकलन उन्हीं का हुआ है जिनके संबद्ध रूप भारत के अधिक विस्तृत भाग में मिलते हैं।

पुस्तक में डा० रघुवीर की ७ पृष्ठों की प्रस्तावना के बाद ९४ पृष्ठों में ६६९ शब्दों का कोश है। अवश्य यह कोश अपने प्रस्तुत प्रयोजन के अनुसार संक्षिप्त, उदाहरण-स्वरूप ही है। प्रस्तावक ने बताया है कि यह कम से कम कुछ हजार शब्दों तक बढ़ाया जा सकता है। साथ में भारत-आर्य भाषाओं का एक नामशून्य सादा मानचित्र है जिसमें भाषाओं के साथ उनके बोलनेवालों की संख्याएँ दी हुई हैं, पर पश्चिमी तथा मध्य पहाड़ी और नेपाली भाषाओं के कोष्ठ संख्याशून्य हैं। चित्र में मान-संकेत नहीं है। न जाने क्यों यह आवश्यक नहीं समझा गया है।

कोश के कुछ शब्द ये हैं:—

करना Kas करुन् Pan करणा Nep गर्नु Ben करा Sin करणु Guj करवुँ Mar करणेँ—Skt करोति ॥ Cognates in Gipsy, Kafiri, Dardic, Lahanda, Western Pahari, Assamese, Oriya, Singhalese, etc.

ठीक Kas ठीकुन् Pan Guj Mar ठीक् Nep ठिक् Ben ठिक Sin ठीकु ॥ Cognates in Assamese and Oriya.

देश Kas दीश् Pan Nep Ben Guj Mar देस् Sin देसु—Skt देश ॥ Cognates in Gipsy, Kafiri, Dardic, Shina, Lahanda, Western Pahari, Oriya, Singhalese, etc.

पुस्तक Kas पूथि Pan Sin Guj Mar पोथी Nep पोथि Ben पुथि—Skt पुस्तक ॥ Cognates in Assamese, Oriya, Singhalese, etc.

मनुष्य Kas मह्न्युवु Pan Guj माणस् Nep मानिस् Ben मानुस् Sin माण्हू Mar माणूस्—Skt मनुष्य ॥ Cognates in Gipsy, Kafiri, Dardic, Shina, Western Pahari, Assamese, Oriya, Singhalese, etc.

लगना Kas लगुन् Pan लग्गणा Nep लाग्नु Ben लागा Sin लगणु Guj लाग्वुँ Mar लाग्णेँ—Skt लग्यति ॥ Cognates in Dardic, Lahanda Western Pahari, Assamese, Oriya, Singhalese, etc.

कोश में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रियाविशेषण आदि प्रायः सभी प्रकार के शब्द संगृहीत हैं। इनके विभिन्न रूप प्रायः यथेष्ट अनुसंधान और सावधानी से रखे गए हैं।

प्रस्तावक ने कहा है कि "ये शब्द भारत की भविष्य साधारण भाषा के पुष्ट आधार हैं। यदि हम इन पर निर्माण करें तो निःशंक निर्माण करेंगे और अपनी भूमि पर ही अनजान होने की लज्जा से अपने को बचा लेंगे।" (भाषांतरित) 'साधारण भारतीय (भाषा) का यथार्थ स्वरूप दिखाने' और 'भारत की भविष्य साधारण भाषा के पुष्ट आधार' प्रस्तुत करने के उद्देश्य और प्रयोजन से उदाहरण स्वरूप ही इस आधारिक शब्दकोश या 'सबकी बोली' का प्रकाशन बहुत महत्त्वपूर्ण उद्योग है। हमारे राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में राष्ट्रभाषा के निश्चय के प्रश्न को कुछ अतात्त्विक धारणाएँ बहुत जटिल बना रही हैं। भारत के मध्यदेश की भाषा पश्चिमी हिंदी या हिंदी संस्कृत, शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश की परंपरा से इस देश की केंद्रीय आर्यभाषा और साधारण भाषा है, यह भाषावैज्ञानिक तथ्य है।

राष्ट्रभाषा पद की हिंदी सहज अधिकारिणी है। परंतु इस हिंदी की ही एक कृत्रिम, विदेशी शैली उर्दू मुख्य उलझन उपस्थित करती है। एक ओर से इसे देश की साधारण भाषा घोषित किया जाता है और शोचनीय बात यह है कि इसके साथ सांप्रदायिक आग्रह भी लगा है, यद्यपि यह एक पूरे संप्रदाय की भाषा-शैली भी सिद्ध नहीं होती। और कुछ ओर से हिंदी और उर्दू की मिश्र कल्पना हिंदुस्तानी के नाम से चलाई जा रही है। अतः भारत की साधारण भाषा, राष्ट्रभाषा के विषय में अनेक तर्क-वितर्क और उद्योग चल रहे हैं। इस बीच इस विषय में भाषावैज्ञानिक तथ्य को और उसके निश्चित संकेत को राजनीतिशास्त्रियों और शिक्षा-शास्त्रियों के सम्मुख इस आधारिक शब्दकोश के प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत कर लाहौर की एकेडेमी ने बहुत प्रशस्य कार्य किया है। हम इस महत्त्वपूर्ण और सुंदर प्रकाशन का सादर स्वागत करते हैं और देश की साधारण भाषा, राष्ट्रभाषा या राज्यभाषा, के सभी अधिकारी विचारकों का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट करते हैं।

हमें विश्वास है कि एकेडेमी इस क्षेत्र में और कार्य कर रही है और वह एक पूर्ण भारतीय-आधारिक-शब्दकोश प्रकाशित करेगी। इस प्रसंग में यदि वह बेसिक इँग्लिश के समान स्वतःपूर्ण आधारिक हिंदी की व्यवस्थित योजना पर भी कार्य करे जिसमें कुछ निश्चित संख्या में शब्द इस दृष्टि से ही न संगृहीत हों कि वे साधारण हों अपितु इस दृष्टि से भी कि उनके द्वारा साधारण व्यवहार का पूरा काम चल जाय और उनके आधार पर उच्च हिंदी का अध्ययन भी किया जा सके तो यह एक विशेष महत्त्व का प्रयोग होगा।

—कृ।

अशोक—लेखक प्रो० हरिश्चंद्र सेठ, एम० ए०, पी-एच्० डी०; (भारतइतिहासमाला की दूसरी पुस्तक) प्रकाशक, राजपब्लिशिंग हाउस, बुलन्दशहर। मूल्य १)

हिंदी में अशोक-विषयक साहित्य अभी इना गिना है। जैसे सम्राट् अशोक सर्वसम्मति से एशिया की एकता और विश्वशांति के दीप-स्तंभ माने जाते हैं, वैसे ही उनके संबंध में विभिन्न दृष्टिकोणों से अनेक ग्रंथों में विचार होने की आवश्यकता है। लेखक ने संक्षेप में परंतु प्रामाणिकता के साथ प्रथम दस अध्यायों में अशोककालीन इतिहास, सम्राट् के जीवन और देश की दशा का विवेचन किया है। दूसरे भाग में, १४० पृष्ठों में, अशोक के समस्त लेखों का मूल पाठ, भाषानुवाद और उनके प्राप्ति-स्थान का वर्णन है। विद्यार्थियों के लिये इस प्रकार समस्त मूल सामग्री को सुलभ रूप में प्रस्तुत करने के लिये प्रो० सेठ बधाई के पात्र हैं। शिलालेखों और स्तंभ-लेखों के सभी विविध पाठ प्रत्येक स्थान से पूरे-पूरे इस पुस्तक में उद्धृत किए गए हैं। इससे इसकी उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। पुस्तक के संशोधन में और सावधानी की आवश्यकता है। जैसे 'इसिल' नामक स्थान को 'इसल' लिखना अनुचित है, वैसे ही 'पृथक्' शब्द को 'प्रथक्' छापना भी खटकता है। आशा है, प्रो० सेठ इसकी भाषा को बारीकी के साथ शुद्ध कराकर अगला संस्करण प्रकाशित करेंगे जिससे पुस्तक छात्रों के लिये बिल्कुल प्रामाणिक बन जाय।

—वासुदेवशरण।

जाट-इतिहास—लेखक ठाकुर देशराज, जघीना, भरतपुर; प्रकाशक ब्रजेंद्र-साहित्य-समिति, आगरा; १९३४; पृष्ठ-संख्या १४-७४७; मूल्य ५) राजसंस्करण २५)।

वर्तमान युग में इतिहास का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। पिछले १०० वर्षों में इतिहास का स्वरूप भी बहुत बदल गया है। अब इतिहास में केवल राजाओं-महाराजाओं और उनके मुख्य सहायकों तथा प्रतिद्वंद्वियों की कृतियों और आकांक्षाओं का ही वर्णन नहीं रहता; अपितु अब उसमें किसी जन-समूह के सर्वांगी उत्थान-पतन का वैज्ञानिक विश्लेषण और वर्णन होता है। आजकल इतिहास-लेखन-कला भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न उद्देश्यों

से प्रेरित हो रही है। कहीं पर इतिहास से अर्थ समझा जाता है अतीत का यथासंभव पक्षपातरहित विशुद्ध वर्णन। इसमें समाज अथवा राष्ट्र के गुण-दोष तथा विजय-पराजय का समान रूप से वर्णन किया जाता है और यह धारणा रहती है कि हम अपने पूर्वजों के गुणों का अनुकरण तथा उनके दोषों का प्रतिकार करते हुए वर्त्तमान काल की सामाजिक तथा अंतर्राष्ट्रीय गुत्थियों को अधिक सुगमता से सुलझा सकेंगे। दूसरी मनोवृत्ति यह है कि वर्तमान जनता को अपने पूर्वजों का ऐसा गौरवमय वृत्तांत बताया जाय जिससे उनके हृदय में अहंभाव और परंपरागत सर्वश्रेष्ठता के भाव दृढ़ता से घर कर लें। इसमें राष्ट्र की पिछली सफलताओं को बहुत बढ़ाकर और असफलताओं को आकस्मिक घटनाओं, पड़ोसियों की धोकेबाजी तथा अपनी सरलता का फल बताया जाता है और उनके स्वरूप को यथासंभव न्यूनतम बनाया जाता है। तीसरी मनोवृत्ति यह है कि इतिहास इस प्रकार लिखा जाय कि उसके पढ़नेवाले पर यह प्रभाव पड़े कि संसार के विभिन्न राष्ट्रों तथा एक ही राष्ट्र के विभिन्न अंगों ने अतीत काल से लेकर इस समय तक प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से एक दूसरे की सेवा की है। हमारी वर्त्तमान सभ्यता इस पारस्परिक सहयोग तथा विचार-विनिमय का फल है। अस्तु, इतिहास से उन घटनाओं को हटा देना चाहिए जिससे दो, अथवा दो से अधिक, जनसमूहों में घृणा या विद्वेष की भावना उभड़ने की आशंका हो। अतीत के आर्थिक, धार्मिक तथा राजनैतिक संघर्षों का विशद विश्लेषण केवल हानिकर ही हो सकता है। अस्तु, इनका विवरण या तो छोड़ दिया जाय, अथवा केवल उनके कुप्रभावों का वर्णन किया जाय, और उनके कारणों के वर्णन, द्वारा दोषी व्यक्ति या व्यक्तियों के खोज निकालने की कोशिश न की जाय।

कुटुंबों तथा जातियों के इतिहास के लेखक प्रायः दूसरी मनोवृत्ति से प्रभावित होकर लेखनी उठाते हैं। हमारे देश का अभी तक कोई सर्वांग-पूर्ण इतिहास नहीं है। बहुत से राजवंशों तथा कई एक शतियों का ज्ञान अभी कुछ नहीं के बराबर है। इसलिये किसी भी जाति, राजवंश, या भारत-भाग का इतिहास हमारे लिये बहुत उपयोगी है और उनके लेखक

जनता की कृतज्ञता के पात्र हैं। लेकिन यदि हमारे देश की ३००० से अधिक हिंदू जातियों, सैकड़ों मुस्लिम फिरकों, वर्गों, सिक्खों तथा ईसाइयों के अलग-अलग विवरण अर्ध ऐतिहासिक रूप में अपनी अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिये लिखे जायँ तो उनसे इतिहास निर्माण और राष्ट्रीय-संगठन दोनों ही की दृष्टियों से लाभ की अपेक्षा हानि होने की ही अधिक आशंका है।

जाट-जाति भी हमारे देश की दूसरी युद्ध-प्रिय जातियों की ही भाँति देश की रक्षा में काफी सहयोग देती रही है। प्राचीन भारत के इतिहास में डा० जायसवाल के मतानुसार गुप्त राजे जाट कहे जा सकते हैं यद्यपि प्रभावती गुप्ता का अपने को धारण-गोत्रीय कहने से ही उसके पिता का वंश उस गोत्र का होना सब विद्वानों को मान्य नहीं है। इस प्रकार दूसरे इतिहासकारों की दृष्टि में जाटों का गौरवकाल हर्ष की मृत्यु के पश्चात् प्रारंभ होता है। विद्वान् लेखक ने २००० ईस्वी पूर्व से हर्ष के समय तक के युग को ही जाटों के विशिष्ट गौरव का युग सिद्ध करने के लिये काफी प्रयत्न किया है। इस संबंध में उन्होंने जाटों को गण-संघतंत्री क्षत्रिय माना है। उनकी धारणा है कि प्राचीन भारत का गौरव बहुत हद तक जाटों की ही कीर्ति पर निर्भर है। जितनी युक्तियाँ और सामग्री प्रस्तुत पुस्तक में मौजूद हैं उनके आधार पर यह धारणा अभी ऐतिहासिक सत्य की कोटि में नहीं पहुँच सकी है। लेकिन यदि जाटों का निराकरण किसी राजनैतिक आदर्श-विशेष के आधार पर किया जाय तो चंद्रगुप्त मौर्य, समुद्रगुप्त, हर्षवर्धन, रंजीतसिंह आदि इस समूह के अंदर नहीं आ सकते।

लेखक ने प्रवाह-युक्त भाषा में पुस्तक को विश्वास के साथ लिखा है और संभव है उनके सजातीयों को इसे पढ़कर बहुत कुछ विश्वास हो जाय। पुस्तक परिश्रम के साथ लिखी गई है। यदि जाट-जाति के उत्थान में यह पुस्तक सहायक हो सके तो उसकी ऐतिहासिक अपूर्णताओं की उपेक्षा की जा सकती है। पुस्तक की छपाई और गेट-अप संतोषजनक हैं। यत्र तत्र चित्र भी दिए गए हैं जो वर्तमान तथा प्राचीन जाट-महापुरुषों के (लेखक के मतानुसार) हैं।

भारतीय जाटों संबंधी सभी जानने योग्य बातों का संग्रह करने का काफी सफल प्रयत्न किया गया है। जाटों की उत्पत्ति, उनके प्राचीन तथा वर्तमान राजवंश, जाटों का वर्तमान भारत में विस्तार, जाटों की वर्तमान संस्थाएँ आदि सभी विषयों का सिलसिलेवार विवरण दिया गया है। श्रीकृष्ण भगवान् द्वारा अंधक, वृष्णि, भोज और कुकर लोगों का एक संघराज्य निर्माण किया गया था। इस राज्य के सदस्य ही प्रथम जाट हुए। लेखक ने इस घटना से जाटों की उत्पत्ति बताकर उन सभी राज्यों के सदस्यों को जाट बताया है जिनसे साम्राज्यवादी भावनाओं को रोकने के लिये ऐसे संघ बनाए गए हों। इस प्रकार शाक्य, लिच्छवि, मौर्य, क्षुद्रक, मालव, शिवि आदि राजवंशों को जाट माना गया है। जिस प्रदेश में ये लोग रहते थे या जिन राजवंशों से इनका विवाह संबंध था उनको भी जाट मान लिया गया है। शायद लेखक का मत यह है कि जाट आरंभ में एक राजनैतिक आदर्श के माननेवाले थे और बाद में उनसे संबंधित सभी लोग—उनके आदर्श चाहे जो रहे हों—जाट जाति बन गए। वे जाटों को राजपूतों से निकृष्ट नहीं वरन वैदिक धर्म-पालन की दृष्टि से अधिक शुद्ध क्षत्रिय मानते हैं। उनका विचार है कि ब्राह्मणों और राजपूतों ने मिलकर उनको पतित बनाने का सफल षड्यंत्र किया था।

मुगल-कालीन और आधुनिक काल का विवरण ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक संतोषजनक है। विभिन्न प्रांतों में जो जाट इलाकेदार, राजे या साधारण लोग पाए जाते हैं उनका अलग-अलग विवरण दिया गया है। जाटों के वर्तमान गोत्रों को प्राचीन राजवंशों से निकला हुआ बतलाया गया है। जाटों की विदेश-यात्रा आदि का प्रकरण मनोरंजक है लेकिन ऐतिहासिक नहीं।

फिर भी अपनी न्यूनताओं के सहित अपने वर्तमान रूप में भी पुस्तक काफी काम की है और जाट-जगत् में इसका विशेष प्रचार होना चाहिए।

जाट-इतिहास—(उत्पत्ति और गौरव खंड)-लेखक ठाकुर देशराज, जघीना, भरतपुर; प्रकाशक मित्र-मंडल प्रेस, आगरा; पृष्ठसंख्या १७२, मू० ॥) ।

प्रस्तुत पुस्तक लेखक की 'जाट-इतिहास' नामक बड़ी पुस्तक के आधार पर लिखी गई है। इसके लिखने का मुख्य उद्देश जाट विद्यार्थियों के व्यवहार योग्य सरल किंतु गौरवमय जाट-इतिहास का निर्माण था। पुस्तक सरल और हिंदी-उर्दू मिश्रित भाषा में लिखी गई है। इसको पढ़ने से पश्चात् जाटों के विषय में साधारण विद्यार्थी की यह अवश्य धारणा होगी कि यह एक महान् जाति रही है और उसके कार्यों पर उनके वंशजों को सहज गौरव होना चाहिए। अस्तु। प्रचार, संगठन तथा जाटोत्थान की दृष्टि से पुस्तक प्रशंसनीय है।

इसमें जाटों की उत्पत्ति, जाति, वर्ण, शासन-प्रणाली तथा विदेशों में औपनिवेशिक यात्राओं का वर्णन किया गया है। पुस्तक लिखने में परिश्रम किया है लेकिन यह कह सकना संभव नहीं कि इसमें वर्णित घटनाएँ स्वीकृत ऐतिहासिक सत्य हैं अथवा विश्वसनीय तर्क-द्वारा प्रमाणित हैं। अस्तु, यह अधिकाधिक विरुद्ध ग्रंथ की कोटि में आती है। इसमें एक जाट-स्थान शीर्षक वाला नकशा दिया गया है जो बहुत ही भोंडा और प्रायः पूर्णतः अशुद्ध है।

—अवधविहारी पांडेय।

फाउस्ट—अनुवादक श्री भोलानाथ शर्मा, एम्० ए०; डबल क्राउन १६ पेजी आकार के ३१२ पृष्ठ; मूल्य तथा प्रकाशक का नाम दिया नहीं।

महाकवि गेटे का यह नाटक प्राचीन जर्मन-साहित्य का अत्यंत लोक-प्रिय ग्रंथ है। गेटे अद्भुत प्रतिभासंपन्न भावुक कवि, श्रेष्ठ औपन्यासिक एवं विचारवान आलोचक था। 'फाउस्ट' को धीरे-धीरे करके उसने ६० साल की लंबी अवधि में पूरा किया था। (नाटक के नायक) 'फाउस्ट ने भौतिक सुखों की लालसा में अपने को शैतान के हाथ बेच दिया पर यदि उसको तृप्ति एवं मुक्ति मिली तो निःस्पृह कर्म ही के द्वारा'—इस एक वाक्य में हम इस बृहदाकार ग्रंथ के सारे कथानक को समेट सकते हैं। विचारों की विभिन्नता एवं विशदता, लेखक के विविध एवं विस्तृत अनुभवों का

कथानक में समुचित समावेश तथा दृश्यों की अनेकरूपता के कारण यह ग्रंथ पाश्चात्य आलोचकों द्वारा भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से देखा गया है। ग्रंथ के इन्हीं गुणों के कारण कुछ लोगों का विचार है कि 'फाउस्ट' के द्वारा गेटे ने आत्मवृत्त ही उपस्थित किया है। पुस्तक के आरंभ में दी गई विस्तृत प्रस्तावना में इन विषयों की सम्यक् मीमांसा की गई है, साथ ही गेटे के पूर्व जर्मन-साहित्य की स्थिति, गेटे का जीवनवृत्त, फाउस्ट की आख्यायिका का इतिहास, कथा-संक्षेप, समीक्षा तथा परिशिष्ट-भाग में गेटे की भारत-संबंधी कविता का भी वर्णन किया गया है। यह प्रस्तावना प्राचीन जर्मन-साहित्य की प्रवृत्ति एवं उसके महत्त्व के सम्यक् निरूपण की दृष्टि से भी उपादेय है। 'फाउस्ट' हिंदी संसार में समादृत होगा, इसकी विश्वासपूर्ण आशा है। अनुवादक ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ से हिंदी साहित्य की श्री-वृद्धि की है।

आलोक पुस्तकमाला—मुद्रक और प्रकाशक भारतवासी प्रेस, इलाहाबाद।

इस माला की प्रथम से लेकर आठ पुस्तकें हमारे सामने हैं, जिनके नाम क्रमशः रसखान-रत्नावली, भर्तृहरि-शतक, रास-पंचाध्यायी, स्मृति-शक्ति, राबर्ट क्लाइव, पद्माकर-रत्नावली, घनानंद-रत्नावली, सेनापति-रत्नावली हैं। प्रत्येक का आकार-प्रकार प्रायः समान है और मूल्य प्रत्येक का ।।)। पुस्तकें अच्छी और उपयोगी होने के साथ साथ देखने में भी आकर्षक हैं। थोड़े मूल्य में इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान तथा उच्च कोटि के कवियों की रचनाओं का रसास्वादन कराने के लिये यह माला अच्छी है।

बाल-रण-रंग—लेखक ठाकुर नंदकिशोर सिंह 'किशोर'; प्रकाशक भारतीय भंडार, आरा; डबल क्राउन १६ पेजी आकार के ७७ पृष्ठ, मूल्य ।।)

अर्जुन और बभ्रुवाहन के युद्ध की पौराणिक आख्यायिका को लेकर लिखा गया यह वीर-रस-प्रधान खंड-काव्य है। वीर रस के बालोपयोगी साहित्य का हिंदी में अभाव-सा है। इस दृष्टि से लेखक की यह रचना महत्त्वपूर्ण है। कविता साधारणतः ओजपूर्ण है और 'युद्धोत्साह' की अंत-र्दशाओं की व्यंजना कहीं कहीं बड़ी अच्छी बन पड़ी है। बभ्रुवाहन के

वीर पुत्रोचित गुणों का चित्रण भी सुंदर हुआ है। पुस्तक बालकों के लिये उपयोगी है।

—रामबहोरी शुक्ल

कमला नाटक—लेखक श्री उदयशंकर भट्ट; प्रकाशक सूरी ब्रदर्स, गनपत रोड, लाहौर; मूल्य ।।।)

यह एक मौलिक सामाजिक नाटक है। इसकी कथा संक्षेप में इस प्रकार है :—देवनारायण एक जमींदार हैं 'उम्र के बूढ़े, मन के जवान'। बुढ़ापे में दूसरा विवाह करते हैं। उनकी दूसरी पत्नी कमला सुंदर, सुशिक्षित, सच्चरित्रा और सहृदय है। देवनारायण के दो पुत्र हैं—यज्ञनारायण और विश्वनारायण। यज्ञनारायण का गुप्त संबंध एक सुंदर शिक्षित लड़की उमा से हो जाता है जिसके फलस्वरूप शशिकुमार नामक एक पुत्र उत्पन्न होता है। यज्ञनारायण उमा को छोड़ देता है और क्षय से उसकी मृत्यु हो जाती है। उमा समाज के डर से शशि को अनाथालय में रख देती है और अपनी सहेली कमला को उसे सौंप देती है। कमला शशि को अपने पुत्र की तरह प्यार करती है जिसके कारण जनता में प्रमाद फैलता है और कमला के चरित्र पर संदेह किया जाता है। शशि के ऊपर चोरी का अपराध लगाया जाता है। वह भागकर कमला के पास आता है जो उसे आश्रय देती है किंतु इससे देवनारायण का संदेह और भी पुष्ट हो जाता है और वे घर से बाहर निकाल देते हैं। कमला नदी में डूबकर आत्महत्या कर लेती है।

विश्वनारायण अपने पिता की जमींदारी में किसानों को जमींदार के अन्याय के विरुद्ध भड़काता है। उसी के साथ कार्य करनेवाली उमा भी है। विश्वनारायण को आंदोलन के संबंध में जेल जाना पड़ता है परंतु अंत में उसकी विजय होती है और पिता की ममता उसे जेल से मुक्त करा देती है। विश्वनारायण उमा के प्रेम में पड़कर उससे विवाह करना चाहता है। सब कुछ ठीक हो गया परंतु अकस्मात् घर में यज्ञनारायण का चित्र देखकर उमा चौंकती है और उसकी घृणा तथा विद्वेषाग्नि जागृत हो उठती है। पूछने पर वह सारा रहस्य बतलाती है। सुनकर बाबू देव-

नारायण को समाज से घृणा उत्पन्न होती है और वे गिरकर प्राण त्याग देते हैं। कमला की मृत्यु और शशि के जेल जाने को सुनकर उमा मूर्च्छित हो जाती है और नाटक की समाप्ति होती है।

नाटक की कथा रोचक परंतु वास्तविकता से दूर नहीं है। घटनाएँ स्वाभाविक हैं और चरित्र-चित्रण बहुत सुंदर हुआ है। विशेष कर कमला का चरित्र बहुत सुंदर है। वह सबसे सहानुभूति रखती है परन्तु विश्वनारायण के प्रति उसका वात्सल्य पिता से भी बढ़कर है। अपनी सहेली के पुत्र के लिये वह अपना प्राण भी अर्पण कर देती है। उमा, कवि के शब्दों में, "एक प्रवाह है जो नीचे की ओर सरलता से और उतनी ही सरलता से तूफान, प्रतिक्रिया से, ऊँचे की ओर भी, दूसरी तरफ भी बह गई है।"

नाटक की भाषा चलती खड़ी बोली है और पात्रों के अनुकूल है। केवल कहीं कहीं पर कुछ प्रयोग मुहावरे के प्रतिकूल पड़ते हैं। जैसे—'जिसका खाँय उसी की थाली में छेद करें।' 'दोनों में पृथ्वी-आकाश का अन्तर है।' 'इसी के (यज्ञनारायण के) गर्भ से मेरे एक पुत्र उत्पन्न हुआ।' 'बुलबुले की तरह आशाएँ उठ उठकर मुर्झा गई हैं।' "जिस रास्ते ही नहीं जाना उसके मील गिनने से क्या।" इत्यादि।

फिर भी नाटक अच्छा है और खेलने योग्य है। हम इसे सफल नाटक कहेंगे और नाटककार बधाई के पात्र हैं। पुस्तक का मूल्य कुछ अधिक है।

—रमापति शुक्ल।

कजली-कौमुदी—संग्रहकर्त्ता श्री कमलनाथ अग्रवाल ; प्रकाशक काशी पेपर स्टोर्स, २१ बुलानाला, बनारस सिटी ; डबल क्राउन १६ पेजी आकार, पृष्ठ संख्या ३+५+१२९ ; मूल्य १)।

इस संग्रह में नए-पुराने प्रसिद्ध कजलीकारों की कृतियों के अतिरिक्त भारतेंदु हरिश्चंद्र, 'प्रेमघन', पं० अंबिकादत्त व्यास, पं० श्रीधर पाठक आदि श्रेष्ठ साहित्यिकों की कुछ कजलियाँ भी समाविष्ट हैं। आरंभ में पं० रामनारायण मिश्र ने 'दो शब्द' और पं० सूरजप्रसाद शुक्ल ने कजली उत्सव

का ऐतिहासिक विवेचन देकर पुस्तक को महत्त्व प्रदान किया है। कजलियाँ नए-पुराने लोगों की हैं, नए-पुराने ढर्रे की हैं। देशभक्ति, राष्ट्रीय आंदोलन, सांप्रदायिक एकता आदि विषयों पर कुछ सामयिक रचनाएँ भी हैं। कुछ कजलियाँ भावाभिव्यंजन की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। कजली-प्रवृत्ति को परिष्कृत करने के ध्येय से प्रणीत यह संग्रह संस्कृत समाज को भी रुचिकर होगा, ऐसी आशा है।

पाठक की सुविधा के लिये आरंभ में एक सूची रहती तो अच्छा होता।

—शं० बा०।

समीक्षार्थ प्राप्त

एक धर्मयुद्ध—लेखक श्री महादेव हरिभाई देसाई; प्रकाशक नवजीवन-कार्यालय, अहमदाबाद; मूल्य ॥)।

कोटा राज्य का इतिहास, भाग १-२—लेखक श्री मथुरालाल शर्मा; प्रकाशक कोटा दरबार, कोटा; मूल्य ७)।

गांधीजी—लेखक श्री जुगतराम दवे; प्रकाशक नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद; मूल्य ।=)।

जैन सिद्धांत बोल संग्रह, भाग १-३—संग्रहकर्त्ता व प्रकाशक, भैरोंदान सेठिया, जैन परमार्थिक संस्था, बीकानेर; मूल्य ४॥)।

तिलोयपण्णत्ती—लेखक, यतिवृषभ; प्रकाशक, जैन-सिद्धांत भवन, आरा; मूल्य ॥।)।

नवाबी सनक—लेखक श्री जयनाथ 'नलिन'; प्रकाशक गयाप्रसाद ऐंड संस, आगरा; मूल्य १)।

Pre-Buddhist India by Ratilal Mehta; published by The Examiner Press, Bombay; price Rs. 15/-

बनारसी नाम माला—संपादक श्री जुगलकिशोर मुख्तार; प्रकाशक वीरसेवा-मंदिर, सरसावा, जि० सहारनपुर; मूल्य ।) ।

भगवान् बुद्धावतार—लेखक श्री विश्वनाथ शास्त्री; प्रकाशक अखिल भारतीय हिंदू धर्म सेवा-संघ, १०२ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट, कलकत्ता; मूल्य =) ।

भारतीय चीनी मिट्टियाँ—लेखक श्री मनोहरलाल मिश्र; प्रकाशक विज्ञान-परिषद्, इलाहाबाद; मूल्य १॥) ।

मर्यादा का मूल्य—लेखक श्री वीरेंद्रसिंह रघुवंशी; प्रकाशक गयाप्रसाद ऍंड संस, आगरा; मूल्य १॥) ।

मालिनी-मंदिर—लेखक और प्रकाशक श्री गांगेय नरोत्तम शास्त्री, २८० चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता; मूल्य ॥।) ।

मेरा घर—लेखक और प्रकाशक श्री काशिनाथ त्रिवेदी; बड़वानी, मध्य-भारत; मूल्य ≡) ।

श्रीहर्ष—लेखक और प्रकाशक श्री वैकुंठनाथ दुग्गल, राम आश्रम हाई स्कूल, अमृतसर ।

संत (वर्ष २ अंक ५)—संपादक रामपदार्थदास; प्रकाशक संतकार्यालय, जयपुर; मूल्य २) वार्षिक ।

संत-साहित्य—लेखक श्री भुवनेश्वर मिश्र; प्रकाशक ग्रंथमाला-कार्यालय, पटना; मूल्य २) ।

संस्कृत का अध्ययन : उसकी उपयोगिता और उचित दिशा—लेखक डा० श्री राजेंद्रप्रसाद; प्रकाशक भारती मंदिर, पटना; मूल्य १) ।

सयानी कन्या से—लेखक श्री नरसी पारीख महादेव देसाई, अनुवादक श्री काशिनाथ; प्रकाशक नवजीवन कार्यालय अहमदाबाद; मूल्य ।।) ।

हलचल २—लेखक और प्रकाशक श्री चंद्रलाल, सुनार महल्ला, अल्मोड़ा; मूल्य ॥) ।

हिंदी-साहित्य में निबंध—लेखक श्री ब्रह्मदत्त शर्मा; प्रकाशक गयाप्रसाद ऍंड संस, आगरा; मूल्य १।) ।

विविध

विक्रम संवत् के प्रामाणिक इतिहास का महत्त्व

आगामी विक्रम संवत् २००० (ई० स० १९४३) में नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ने अपना स्वर्ण-जयंती महोत्सव बड़े समारोह के साथ मनाने का निश्चय किया है। इस अवसर पर सभा ने हिंदी साहित्य और भाषा की उन्नति एवं प्रचार के हेतु कई नवीन महत्त्वपूर्ण योजनाओं की व्यवस्था की है। इनमें से श्री संपूर्णानंदजी के प्रस्ताव पर यह भी निश्चय हुआ है कि विक्रम संवत् के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए इस अवसर पर उसके वास्तविक मूल और इतिहास को यथासाध्य निर्णय करके प्रकाशित कराने का यत्न किया जाय।

हमारे देश तथा हमारी जाति के इतिहास में विक्रम संवत् का कितना अधिक महत्त्व है, इस पर विस्तार से लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं। हमारे देश में जितने संवत् प्रचलित हैं उनमें सबसे अधिक महत्त्व विक्रम संवत् का है। यही संवत् सबसे अधिक प्रचलित है। हमारे समस्त धार्मिक कार्यों एवं व्यापारी हिसाब-किताब, चिट्ठी-पत्री इत्यादि सबमें इसी वत्सर का प्रयोग होता है। जिस संवत् का प्रचलन देश के एक कोने से दूसरे कोने तक हो, जिसका सदैव से ऐसा ही मान रहा हो तथा जो वास्तव में हमारा राष्ट्रीय संवत् कहलाने का अधिकारी हो, उसकी स्थापना का इतिहास इतना भ्रांत एवं अनिश्चित हो गया हो, यह बड़े आश्चर्य की बात है। अभी तक यही निश्चय नहीं हो पाया कि इस संवत् का संस्थापक और संचालक कौन था, अथवा ये महाराज विक्रमादित्य—जिनके नाम से यह संबंधित है—कौन थे, कहाँ और कब राज्य करते थे। पाश्चात्य विद्वानों का प्रायः ऐसा मत था और है कि यह मालव संवत् था जिसे गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने ग्रहण करके अपने नाम से चालू कर दिया। परंतु इसका

आधार प्रबल प्रमाणों पर नहीं है। विक्रम संवत् के मूल तथा वास्तविक इतिहास का निर्णय करने के उद्देश्य से अनेक विद्वानों ने गवेषणापूर्ण खोज की है और लेखों द्वारा अपने अपने विचार व्यक्त किए हैं, तथापि वे अभी तक किसी सर्वमान्य परिणाम पर नहीं पहुँच पाए हैं।

यह एक बड़ा सुसंयोग है कि संवत् २००० में, जिसका स्वयं ही राष्ट्रीय एवं ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा भारी महत्त्व होना आवश्यक था, काशी नागरीप्रचारिणी सभा के जीवन के भी ५० वर्ष पूरे होते हैं और इसी वर्ष सभा अपनी स्वर्ण जयंती मनाने जा रही है। अतएव सभा का यह संकल्प अत्यंत शुभ है कि इस अवसर पर विक्रम संवत् की इतिहास संबंधी समस्या का भी समाधान करने का प्रयास किया जाय। इस कार्य के संपादनार्थ सभा ने एक उपसमिति बना दी है। यह समिति एतद्विषयक जो कुछ खोज अब तक हुई है उसकी सूची शीघ्रातिशीघ्र तैयार करके विद्वानों के सुभीते के लिये प्रकाशित करेगी। इसके उपरांत इस समिति का कर्त्तव्य होगा कि—

१—जितने लेख, निबंध आदि विक्रम संवत् पर अब तक प्रकाशित हुए हैं उनका समन्वय करके उनका निष्कर्ष प्रकाशित करे।

२—इस विषय के निर्णयार्थ इतिहासज्ञों की नई स्थापनाओं को एकत्रित करके उन्हें प्रकाशित करे।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये भारतीय इतिहास के विद्वानों का सहयोग अनिवार्य है। अतएव समस्त इतिहासज्ञों एवं इतिहास-प्रेमियों से प्रार्थना है कि विक्रमाब्द संबंधी स्थापनाएँ, लेख, निबंधादि, अथवा कोई अन्य सूचना, या नए विचार, जो कुछ भी वे भेज सकते हों, मेरे पास भेजने की कृपा करें।

पता :–
बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी,
बनारस

परमात्माशरण
(एम्० ए०, पी-एच्० डी०)
संयोजक,
विक्रमाब्द-इतिहास-निर्णय-समिति,
काशी नागरीप्रचारिणी सभा।

पंचांग-शोध

यह प्रसन्नता की बात है कि नागरीप्रचारिणी सभा की ओर से विक्रम की द्विसहस्राब्दी मनाने के अवसर पर पंचांग-शोध का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया है। पंचांग का महत्त्व तो सभी देशों में है, परंतु हमारे देश में जहाँ लोगों का फलित ज्योतिष पर विश्वास है और विवाह, व्यापार, खेती जैसे काम ज्योतिषियों के परामर्श से किए जाते हैं, इस शास्त्र का स्थान बहुत ऊँचा है। गणना में थोड़ी सी भी भूल होने से सैकड़ों व्यक्तियों के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ सकता है। इस समय मेरी समझ में पंचांग संबंधी नीचे लिखे प्रश्न विशेष रूप से विचारणीय हैं।

(१) संक्रांति की जो तिथियाँ पंचांगों में दी रहती हैं और हमारे घरों में मनाई जाती हैं वे दृश्य गणित की तिथियों से, जो वस्तुस्थिति पर निर्भर हैं, नहीं मिलतीं। वर्तमान संवत् के लिये यह अंतर इस प्रकार है—

संक्रांति	दृश्य	विश्व पंचांगगत
मेष	२३ मार्च १९४१	१३ अप्रैल १९४१
कर्क	२१ जून १९४१	१६ जूलाई १९४१
तुला	२३ सितंबर १९४१	१६ अक्टूबर १९४१
मकर	२४ दिसंबर १९४१	१३ जनवरी १९४१

(२) चांद्रमास कहीं शुक्ल पक्ष से आरंभ होते हैं, कहीं कृष्ण पक्ष से। श्रीकृष्ण जन्माष्टमी जिस दिन होती है उसको कहीं तो भाद्र कृष्ण अष्टमी कहते हैं, कहीं श्रावण कृष्ण अष्टमी।*

---

* दोनों प्रकार से शुक्ल पक्ष में महीने का एक ही नाम आता है। उदाहरण के लिये इस साल १७ मार्च को जो पक्ष आरंभ हुआ उसको दोनों मतों के अनुसार 'चैत्र शुक्ल' कहेंगे, परन्तु उसके पंद्रह दिन बाद २ अप्रैल से जो पक्ष आरंभ हुआ वह एक मत से तो चैत्र का कृष्ण-पक्ष है और दूसरे मत से वैशाख का। १६ अप्रैल को दोनों मतों से वैशाख का शुक्ल-पक्ष होगा।

(३) पुराने ज्योतिष ग्रंथों में ग्रहों की गतिविधि के संबंध में जो अंक दिए गए हैं, उनके अनुसार ग्रहों के जो स्थान आते हैं वे उन स्थानों से भिन्न हैं जहाँ पर ग्रह सचमुच हैं। एक दो उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

सौर वर्ष का मान

आर्यभट्ट	सूर्यसिद्धांत	अर्वाचीन
३६५दि. ६घं. १२मि.२९·६४ से.	३६५दि. ६घं. १२मि. ३६·५६से.	३६५दि. ६घं.९मि.९से.

यदि दशमलव के दूसरे तीसरे स्थान में भी कुछ भूल हो तो वह सैकड़ों वर्षों में बड़ा रूप धारण कर लेती है। हमारे ज्योतिषी इस बात को जानते हैं। अब महत्त्व का प्रश्न यह है कि फलित ज्योतिष के लिये इन दृश्य स्थानों से काम लिया जाय या अदृश्य से। इस विषय में बड़ा मतभेद है।

राजाश्रय के बिना ज्योतिष में यह सब गड़बड़ी आ गई है, और इसका सुधरना कठिन भी है। फिर भी, प्रयत्न करना चाहिए। मुझे विश्वास होता है कि इस काम में हमको विद्वानों के अतिरिक्त नरेशों और धनिकों का भी सहयोग प्राप्त हो सकेगा। पर्याप्त प्रचार होना चाहिए।

इसलिये मेरा प्रस्ताव है कि कुछ विद्वानों की एक समिति बुलाई जाय। वह विचार करे कि (१) इन प्रश्नों पर विचार करना उचित और व्यावहारिक है या नहीं। (२) ऐसे विचार के लिये काशी में एक सम्मेलन बुलाना ठीक होगा या नहीं। (३) यदि ठीक हो तो उसमें किस किस को बुलाया जाय। (४) सम्मेलन के सामने कौन कौन से प्रश्न रक्खे जायँ और (५) सम्मेलन का आयोजन करने और उसकी रिपोर्ट निकालने में कितना व्यय होगा। इस समिति में मेरी राय में निम्नलिखित सदस्य हों :

पं० रामव्यास ज्योतिषी, हिंदू विश्वविद्यालय, बनारस। पं० बलदेव मिश्र ज्योतिषाचार्य, सरस्वती-भवन, बनारस। पं० रघुनाथ शर्मा ज्योतिषाचार्य, ईश्वरगंगी; बनारस। डा० गोरखप्रसाद, प्रयाग। डा० अवधेशनारायण सिंह, लखनऊ। बा० महावीरप्रसाद श्रीवास्तव, फतहगढ़।

एक नाम कोई और हो। सात सदस्यों की समिति पर्याप्त है, जल्दी बैठ सकती है। किसी भी तीन चार दिन की छुट्टी में लोग मिल सकते हैं। मैं समिति का सदस्य नहीं हो सकता, क्योंकि इस विषय का ज्ञाता नहीं हूँ। हाँ, और हर प्रकार से सहायता दूँगा। मैंने जिन नामों का सुझाव किया है इनमें प्राचीन और अर्वाचीन गणित तथा फलित सभी के विशेषज्ञ हैं।

संपूर्णानंद

राजस्थान के हिंदी ग्रंथों की रक्षा

नागरीप्रचारिणी सभा के प्रधान मंत्री के एक पत्र का उत्तर देते हुए रायबहादुर सेठ रामदेव चोखानी ने लिखा है—

"राजस्थान में जो हिंदी-साहित्य के ग्रंथों का भंडार पड़ा हुआ है उसकी रक्षा के संबंध में आपने मेरी सम्मति माँगी सो मैंने आज राजस्थान रिसर्च सोसाइटी के मंत्री श्रीयुत रघुनाथप्रसाद जी सिंहानिया से सलाह की थी। हम लोगों की राय इस प्रकार है :—

"राजपूताने में जो हिंदी-साहित्य के ग्रंथों का भंडार है वह तीन प्रकार का है। प्रथम तो ये ग्रंथ राजकीय पुस्तकालयों में हैं जिनमें से कितनी ही रियासतें तो देखने की आज्ञा प्रदान करती हैं—जैसे बीकानेर, झालावाड़ आदि—और कितनी ही देखने की आज्ञा तक नहीं देती हैं जिनमें प्रधान जयपुर का नाम लिया जा सकता है। दूसरे ये ग्रंथ विद्वानों या उनके वंशधरों के पास हैं। ये देखने को मिल सकते हैं और इनकी नकलें मिल सकती हैं। जो विद्वान् स्वयं मर्मज्ञ हैं वे ग्रंथ बिक्री नहीं करना चाहते, पर प्रोत्साहन पाने पर दान देने की भावना रखते हैं। जिनके वंशधर अशिक्षित हैं वे ग्रंथ पहले तो दिखाना नहीं चाहते, यदि उनको रुपयों का लोभ दिया जाय तो वे बेच सकते हैं। दूसरी प्रणाली का अनुसरण डा० टेसीटोरी ने किया था। उन्होंने जहाँ जो पाया मूल्य देकर खरीद लिया। परंतु इसमें कठिनाई यह है कि खरीदने में बड़ी ही सावधानी की जरूरत है। सावधानी इस बात की कि जो आदमी खरीदने को भेजा जाय वह गबन न करे और साथ ही जिससे चीजें खरीदी जाय उसको उचित से अधिक

दाम न दिया जाय। तीसरे ये ग्रंथ विधवाओं के घरों में हैं। इनकी दशा बड़ी ही शोचनीय है। इन्हीं ग्रंथों का संग्रह सबसे पहले आवश्यक है। ये ग्रंथ अल्प मूल्य में पाए भी जा सकते हैं। पर सवाल है धनाभाव का। इसके लिये यदि सभा का एक कोष खोल करके रुपया संग्रह कर सकें तो यह काम चल सकता है। अन्यथा मारवाड़ी समाज के अकेले आसरे पर यह कार्य फिलहाल संभव नहीं दीख पड़ता, क्योंकि मारवाड़ी समाज की रुचि इस ओर बहुत कम है। पाँच-सात परिवार ऐसे हैं जिनकी लगन इस तरफ है। × × × ×

इस विषय में जिनकी बहुत अधिक रुचि है उनको किसी प्रकार इस ओर झुकाकर हम इस काम के लिये प्रचुर साधन संग्रह कर सकते हैं। यही इस समय की स्थिति है। × × ×"

सभा इस बहूपयोगी सूचना और सम्मति के लिये सेठ चोखानी जी तथा श्री सिंहानिया जी की बहुत आभारी है। और इसका ध्यान रखते हुए वह राजस्थान के हिंदी-ग्रंथों की रक्षा के महत्त्वपूर्ण कार्य में यथाशक्ति सचेष्ट है। परंतु इस कार्य में यथेष्ट सफलता के लिये देश के, विशेषतः राजस्थान के, साहित्याभिमानियों का उत्साहपूर्ण सहयोग अपेक्षित है। इन पंक्तियों के द्वारा हम उनका ध्यान इस ओर बहुत आग्रह और आशा के साथ आकृष्ट करते हैं।

सम्मेलन की महत्त्वपूर्ण घोषणा

अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने अबोहर (पंजाब) में हुए अपने तीसवें अधिवेशन में हिंदी और हिंदुस्तानी शब्दों के प्रयोग के विषय में अपनी नीति के स्पष्टीकरण के हेतु जो घोषणा की है वह बहुत अर्थ-पूर्ण और महत्त्वपूर्ण है। इस अंक के 'चयन' में हमने उसे संगृहीत किया है। ऐसा स्पष्टीकरण बहुत अपेक्षित था। सम्मेलन के इंदौर वाले चौबीसवें अधिवेशन में हिंदी-भाषा की जो व्यापक परिभाषा की गई थी उससे उसके प्रकृत स्वरूप के विषय में भ्रम और शंकाएँ उपस्थित हो गई थीं। राष्ट्रभाषा के लिये हिंदुस्तानी या कहीं हिंदी-हिंदुस्तानी के नाम से हिंदी और उर्दू की भिन्न शैलियों की मिश्र कल्पना का कुछ क्षेत्रों से जो सबल प्रचार होने लगा, हिंदी भाषा की प्रकृति और उसकी सहज राष्ट्रीयता

की उपेक्षा कर उसे एक कृत्रिम, अशोभन और यथार्थतः अराष्ट्रीय रूप में चलाने की जो अभिसंधि होने लगी और उसमें हिंदी-क्षेत्र के कुछ सम्मानित व्यक्तियों ने जो योग दिया उससे भ्रम और शंकाएँ बहुत बढ़ चली थीं। फलतः सम्मेलन के अधिवेशनों में हिंदी के स्वरूप के विषय में भाषण और वाद-विवाद विशेष समय लेने लगे थे। अतः शिमलावाले सत्ताईसवें अधिवेशन में हिंदी-साहित्य के लिये उपयुक्त भाषा-रूप का निश्चय किया गया। उस निश्चय का पत्रिका—वर्ष ४३, पृष्ठ ३५१-५३—में हमने स्वागत किया था। वह सम्मेलन का एक महत्त्वपूर्ण और स्मरणीय निश्चय है। उसके द्वारा सम्मेलन ने साहित्यिक हिंदी के स्वस्थ विकास की रक्षा का स्पष्ट संकल्प कर लिया। परंतु व्यावहारिक हिंदी अथवा राष्ट्रभाषा के नाम और रूप के विषय में मतभेद और शंकाएँ बढ़ती ही रही थीं। अतएव सम्मेलन का यह बहुत आवश्यक कर्तव्य हो गया था कि वह अपनी नीति और साथ ही उद्देश्य की स्पष्ट घोषणा करे। सम्मेलन ने अब ऐसी ही घोषणा की है। उसके शिमला अधिवेशन का उक्त निश्चय और अबोहर-अधिवेशन की यह घोषणा एक साथ ही स्मरणीय हैं।

यह घोषणा यथेष्ट व्यापक और स्पष्ट है। इसमें यह कहते हुए कि "प्रारंभ से ही सम्मेलन ने अपनी भाषा और राष्ट्रभाषा को हिंदी कहा है और उस भाषा तथा नागरी लिपि की उन्नति और प्रचार ही उसका उद्देश्य रहा है" और यह बताते हुए कि किस प्रकार 'निश्चित अर्थों में उर्दू और हिंदुस्तानी शब्दों का प्रचलन है' तथा 'इस विषय में सम्मेलन का कोई विरोध नहीं है', सम्मेलन ने मुख्यतः यह स्पष्ट किया है कि "सम्मेलन साहित्यिक और राष्ट्रीय दोनों दृष्टियों से अपने और अपनी समितियों के काम में हिंदी-शैली का और उसके लिये हिंदी शब्द का ही व्यवहार और प्रचार करता है।" साथ ही हिंदी के राष्ट्रीय रूप के स्वाभाविक विकास का स्वागत और प्रांतीय भाषाओं के प्रति प्रेमभाव का प्रकाश करते हुए उसने सब सच्चे देशभक्तों से अनुरोध किया है कि "राष्ट्रीय उत्थान, संगठन और एकीकरण में भाषा की शक्ति का अनुभव करके वे राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रयोग और प्रचार में निष्ठा और दृढ़ता से संलग्न हों।"

सम्मेलन की इस विशेष महत्त्वपूर्ण घोषणा का हम सहर्ष और ससंतोष स्वागत करते हैं तथा आशा करते हैं कि इससे सम्मेलन की नीति के संबंध में सभी हिंदी-प्रेमियों का समाधान होगा और अब सभी 'निष्ठा और दृढ़ता से' साहित्यिक और राष्ट्रीय हिंदी की सेवाओं में संलग्न होंगे।

डाक्टर श्यामसुंदरदास जी

रायबहादुर साहित्य-वाचस्पति बाबू श्यामसुंदरदास जी बी० ए० को काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय ने गत वसंत के दिन हुए अपने रजत-जयंती महोत्सव के विशेष उपाधिदान-समारंभ में 'डाक्टर आव लेटर्स' की उपाधि से सम्मानित किया है। नागरीप्रचारिणी सभा का संस्थापन, हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग का संयोजन और हिंदी के ऊँचे अध्ययन के लिये अपेक्षित ग्रंथों का उपस्थापन, ये बाबू साहब की ऐतिहासिक सेवाएँ हैं जिनसे वे हिंदी में समादृत हैं और रहेंगे। इनका ध्यान कर उन्हें इस प्रकार सम्मानित करने में विश्वविद्यालय ने अपनी उदार गुणग्राहकता प्रमाणित की है। बाबू साहब के इस सम्मान से हिंदी-जगत् हर्षित है।

नागरीप्रचारिणी सभा और उसकी इस मुखपत्रिका का बाबू साहब से ऐसा घना संबंध रहा है कि उनके सम्मान से ये तो स्वयं सम्मानित अनुभव करती हैं। हम सहर्ष डाक्टर श्यामसुंदरदास जी का अभिनंदन करते हैं और यह आशंसा व्यक्त करते हैं कि वे सुदीर्घ काल तक स्वस्थ और प्रसन्न रहकर हिंदी-सेवकों को सत्परामर्श और शुभाशीर्वाद देते रहें।

डा० हीरालाल स्वर्णपदक के बचे धन का उपयोग

पदक या पुरस्कार के संबंध में अब सभा का यह निश्चय है कि "यदि किसी वर्ष कोई पदक या पुरस्कार योग्य पुस्तकों के अभाव में न दिया जा सके तो उसकी बचत के रुपयों से उससे संबद्ध विषय पर उच्च कोटि के निबंध या पुस्तकें लिखवाकर उन्हें पत्रिका में प्रकाशित किया जाय।" इस बार डा० हीरालाल स्वर्णपदक के संबंध में हमें ऐसी सूचना देनी है। यह स्वर्णपदक स्वर्गवासी रायबहादुर डा० हीरालाल की दी हुई १०००) रुपयों की स्थायी निधि के ब्याज से 'पुरातत्त्व, मुद्राशास्त्र, इंडोलाजी, भाषाविज्ञान

तथा एपीग्राफी संबंधी हिंदी में लिखित सर्वोत्तम मौलिक पुस्तक अथवा गवेषणापूर्ण निबंध पर' दिया जाता है। पिछली बार १ वैशाख १९९४ से ३० चैत्र १९९७ तक की प्रकाशित योग्य पुस्तक अथवा निबंध के अभाव में यह पदक नहीं दिया जा सका है। अतः इसके बचे धन का उपयोग उपर्युक्त विषयों के उच्च कोटि के निबंधों या पुस्तकों के लिये होगा जो पत्रिका में प्रकाशित होंगी।

इस सूचना की ओर हम उक्त विषयों के अधिकारी विद्वानों का ध्यान साग्रह आकृष्ट करते हैं। इस संबंध में विशेष ज्ञातव्य के निबंध या पुस्तक भेजकर जान सकते हैं।

—कृ।

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२९४	११	क्त	सूक्त
२९६	७	लज	जल
२९९	७	प्रतीत्या	प्रतीष्या
३०६	२	प्रवोाचत	प्रवोचत्
३०८	११	पृच्छामि भं	पृच्छामिमं
३०९	९	सक्तार	सत्कार
३१०	२५	अक्षुएण	अक्षुण्ण
३११	१६	वैशेषिक न्याय	वैशेषिक
३१८	२६	नड़ी	नाड़ी
३२५	१६	इंइ य	इंद्रिय
३३०	१८	जोड़	छोड़
३३२	१७	ये	ग्रह

सूचना—पृष्ठ ३१५ पर जो त्रिभुज दिया हुआ है उसकी दोनों भुजाएँ क ख और ख ग बराबर होनी चाहिएँ।

सभा की प्रगति

पुस्तकालय

कार्तिक १९९८ के अंत में पुस्तकालय में हिंदी की मुद्रित पुस्तकों की संख्या १६१८६ थी, माघ के अंत में वह १६२५४ हो गई। कार्तिक से माघ तक तीन महीनों में २३ नए सहायक बने और १२ सहायकों ने अपने नाम कटा लिए। माघ के अंत में सहायकों की संख्या १५० रही। उक्त अवधि में पुस्तकालय ७२ दिन और वाचनालय ८७ दिन खुला रहा।

लेखकों और प्रकाशकों ने पूर्ववत् उदारता दिखाई और अपनी पुस्तकें भेंट कर पुस्तकालय की सहायता की जिसके लिये सभा उनकी अनुगृहीत है।

सभा के उपसभापति श्री पं० रामनारायण मिश्र ने अपना निजी पुस्तक-संग्रह पुस्तकालय को दान कर दिया। सभा हृदय से उनकी कृतज्ञ है। उक्त संग्रह पुस्तकालय में अलग आलमारी में रखा गया है।

खोजविभाग

श्री महेशचंद्र गर्ग, एम० ए० सभा की ओर से इलाहाबाद में हस्तलिखित पुस्तकों के अन्वेषण का कार्य कर रहे हैं। श्री दौलतराम जुयाल ने बलिया में खोज का कार्य समाप्त कर दिया और अब वे आजमगढ़ में कार्य कर रहे हैं।

प्रकाशन

तर्कशास्त्र भाग २ और राजरूपक, ये दोनों पुस्तकें छपकर तैयार हैं और शीघ्र ही प्रकाशित होंगी। कागज न मिल सकने के कारण कोई नई पुस्तक न छपाई जा सकी।

श्री रामविलास पोद्दार स्मारक समिति ने अपनी ग्रंथमाला के प्रकाशन का कार्य सभा को दे दिया है और इस कार्य के लिये ४००) नगद तथा अपनी प्रकाशित तीन पुस्तकों का स्टाक सभा को दे दिया है। इनकी

बिक्री की आय उक्त माला में ही जमा होगी। उक्त समिति ने माला के प्रकाशनार्थ दस वर्षों तक सभा को २००) प्रति वर्ष देने का निश्चय किया है जिसमें उल्लिखित ४००) दे चुकी है।

स्थायी कोश

माघ ९८ के अंत में सभा के स्थायी कोश में जो धन जमा रहा उसका ब्योरा निम्नलिखित है—

१७०००) के स्टौक सर्टिफिकेट, ट्रेजरर चैरिटेबल एंडाउमेंट्स, युक्तप्रांत के पास

६५५॥=) बनारस बंक में

४५०।–)५ पोस्ट आफिस सेविंग बंक में

१२६–)७ इलाहाबाद बंक में

१८२३१॥।–)

१ मार्गशीर्ष से ३० माघ १९९८ तक सभा को २५) या अधिक दान देनेवाले सज्जनों की नामावली

प्राप्ति-तिथि	दाता का नाम	धन	प्रयोजन
१ मार्गशीर्ष ९८ १८ ,, ,,	श्री रामविलास पोद्दार स्मारक-समिति, बंबई	४००)	प्रकाशन
४ ,, ,,	श्री रामनाथ आनन्दीलाल पोद्दार, बंबई	१००)	स्थायी कोश
१९ ,, ,,	श्री नारायणदास बाजोरिया, कलकत्ता	१०१)	स्थायी कोश
२० ,, ,,	श्री घनश्यामदास बिड़ला, कलकत्ता	२००)	कलाभवन
२३ ,, ,,	श्री सेठ लक्ष्मीनिवास बिड़ला, कलकत्ता	५००)	'हिंदी' पत्रिका
२९ ,, ,, २१ पौष ,,	श्री राय कृष्णदास, काशी	५०)	कलाभवन

प्राप्ति-तिथि		दाता का नाम	धन	प्रयोजन
१ पौष	९८	श्री म्युनिसिपल बोर्ड, काशी	१८०)	पुस्तकालय
१ ,,	,,	श्री तेजस्वीप्रसाद भल्ला, गाजीपुर	१००)	स्थायी कोश
७ ,,	,,	श्री दशरथ ओझा, दिल्ली	१००)	स्थायी कोश
२८ ,,	,,	श्री गांगेय नरोत्तम शास्त्री, कलकत्ता	५२)	कलाभवन
२९ ,,	,,	श्री गोपीकृष्ण कानोडिया, कलकत्ता	२५)	अर्द्धशताब्दि-प्र०
९ माघ	,,		३००)	कलाभवन
३ माघ	,,	श्री रा० ब० श्रीनारायण महथा, मुजफ्फरपुर	१००)	स्थायी कोश
२० ,,	,,	श्री संयुक्तप्रांतीय सरकार	२५०)	पुस्तकालय
२५ ,,	,,	,, ,, ,,	५००)	हिंदी पुस्तकों की खोज
२७ ,,	,,	श्री 'यश' जी, लाहौर	१००)	स्थायी कोश

टि०—जिन सज्जनों के चंदे किस्त से आते हैं, उनके नाम पूरी रकम प्राप्त हो जाने पर प्रकाशित किए जायँगे।

श्री रामविलास पोद्दार ग्रंथमाला

श्री रामविलास पोद्दार स्मारक समिति (नवलगढ़) ने अपने द्वारा संचालित श्री रामविलास पोद्दार ग्रंथमाला का प्रबंध अब नागरीप्रचारिणी सभा, काशी को सौंप दिया है। इस ग्रंथमाला में उक्त समिति द्वारा अब तक प्रकाशित की गई पुस्तकें भी बिक्री के लिये सभा में आ गई हैं। सर्वसाधारण से अनुरोध है कि वे उन पुस्तकों के संबंध में अब कृपया सभा को लिखें। उनका ब्योरा अन्यत्र दिया गया है।

प्रधान मंत्री

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी